तृतीयोऽध्यायः

Salutations to Swami Tapovanam, who is *Maheshwara*—the Lord of *Soumyakashi*, who is of the nature of unbroken existence, auspiciousness, consciousness and the Absolute Reality. He is the Truth of all truths, which is experienced by the pure intellect alone and is the Supreme Lord—beyond *Pradhan (Prakriti)*.

श्रीमद्भगवद्गीता

(गीतामृतमञ्जुषा)

तृतीयोऽध्यायः

परमहंसपरिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीमद्भागवतानन्द
सरस्वती महाराज का प्रसाद

गीतामण्डली

माधवीकुञ्ज

५०, शिवकुटी, पो० केवलीलाइन्स

इलाहाबाद—४

प्रकाशक :

श्रीअभिजित् कर

सहकारी सचिव गीतामण्डली,

५०, शिवकुटी इलाहाबाद–४

मुद्रक :

नरेन्द्रकुमार प्राणलाल आचार्य

आचार्य मुद्रणालय

कर्णघण्टा, वाराणसी–१

भाषान्तरकर्त्री :

कुमारी चैताली दास (पटना)

मूल्य रु० ४–५०

प्राप्तिस्थान

१—प्राणलाल भाई शंकर आचार्य
गुर्जर छात्र सहायक समिति,
के ६२/९४ कर्णघण्टा, वाराणसी

२—प्रोफेसर श्रीनिशीथकुमार तरफदार
बिहार इन्जिनीयरींग कालेज, पटना

३—श्रीमती छवि बोस
३ ए./११ आज़ादनगर, कानपुर

४—श्रीमती माधवी कर
सीवील सर्जन
देहरादून

५—अध्यक्ष, गीतामण्डली
५०, शिवकुटी
इलाहाबाद–४

विज्ञप्ति

भगवान् की असीम अनुकम्पा से परमहंस परिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीभागवतानन्द सरस्वती महाराज द्वारा प्रणीत गीतामृतमञ्जुषा का यह तृतीयाध्याय प्रकाशित हो रहा है। गीतामृतमञ्जुषा सम्बन्धी विशेष परिचय तथा उसकी पठन पद्धति इत्यादि सब वृत्तांत प्रथम अध्याय की भूमिका में दिया गया है। मुद्रणकार्य में भूल, त्रुटि रहना स्वाभाविक है। और जो रह गया है उसका यथासाध्य परिमार्जन शुद्धि पत्र में दिया गया है। फिर भी पाठकगण को जो जो भूल, त्रुटि दृष्टिपथ में आ जाय वह गीतामण्डली को सूचित करने से द्वितीय संस्करण के समय सुधार कर दिया जायगा।

गीता मण्डली की स्थापना का उद्देश्य एवं कार्य-प्रणाली प्रथम अध्याय की विज्ञप्ति में दिखाये गये हैं। इस नव स्थापित प्रतिष्ठान के लिए इस प्रकार के बृहद् ग्रंथ के मुद्रण इत्यादि का व्ययभार वहन करना एक प्रकार से असंभव ही था। परन्तु भगवान् की प्रेरणा से, जिनके चरित्र का माधुर्य एवं औदार्य की तुलना आज के युग में प्राप्त होना कठीन है ऐसे एक महानुभावने स्वामीजी की गीता के हिन्दी संस्करण के मुद्रणादि कार्य का संपूर्ण व्ययभार वहन कर गीतामण्डली को चिरकाल के लिए कृतज्ञता पाश से बद्ध कर लिया है। दाता का नामनिर्देश करने की अनुमति न मिलने के कारण उनका नामोल्लेख करने में गीतामण्डली असमर्थ है। ऐसे एक निष्काम, निरभिमानी महापुरुष की शब्दों द्वारा प्रशंसा प्रकाश करना असंभव है। अतः श्रीभगवान् से उनके दीर्घ जीवन की प्रार्थना के अतिरिक्त गीता-मण्डली के पास आन्तरिक कृतज्ञता व्यक्त करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

इति

श्री अभिजित् कर

सहायक सचिव, गीता मण्डली

इलाहाबाद।

अक्षय्यतृतीया—२०२६

ता० १९-४-६९

सम्मति

गीता हमारी आत्मा की मुक्ति का महागीत ही नहीं, हमारी कर्मसंहिता भी है। इस बृहद् ज्ञानकोष पर अनेक साधक और चिन्तकों ने अनेक दृष्टियों से प्रकाश डाला है।

प्रस्तुत व्याख्या का विशेष महत्त्व होना स्वाभाविक है। उसमें विद्वान और साधक व्याख्याकार ने प्रत्येक अध्याय पर जैसी व्याख्या प्रस्तुत करने का संकल्प और अनुष्ठान किया है, वैसी अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।

विश्वास है हिन्दी के जिज्ञासुओं को प्रस्तुत हिन्दी रूपान्तर में, जो मूल बंगला से लिया गया है, गीता का सन्देश ग्रहण करने में सुविधा होगी।

तिथि १०-३-६९-

महादेवी वर्मा एम. ए.
डि० लिट्०, पद्मभूषण,
उपकुलपति—प्रयाग महिला विद्यापीठ
(महिला विश्वविद्यालय)
१०६/१५३, हीवेट रोड,
इलाहाबाद।

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भगवद्गीता

तृतीयोऽध्यायः

भाष्यभूमिका

पूर्ववर्ती अध्याय में (द्वितीय अध्याय में) श्रीभगवान्ने, शास्त्र में कहा गया प्रवृत्तिविषयक योगबुद्धि कर्मयोग एवं निवृत्तिविषयक सांख्यबुद्धि ज्ञानयोग, इन दो बुद्धियों का वर्णन किया हैं। ["प्रजहाति यदा कामान्..." इत्यादि श्लोक (२।५५) से द्वितीय अध्याय की परिसमाप्ति तक, सांख्यबुद्धिके आश्रयकारी पुरुषोंके लिए सभी कर्म्मों का त्याग करना कर्तव्य है यह कह कर 'एषा ब्राह्मी स्थितिः' (२।७८) इस श्लोक में कहा गया है कि पुरुषों को सांख्यबुद्धि के परिपाक के द्वारा अर्थात् ज्ञाननिष्ठा के द्वारा ब्राह्मी स्थिति प्राप्त कर कृतकृत्यता हो सकती है। जिन लोगों में सांख्यबुद्धि अवलम्बन करने की शक्ति नहीं है उन्हें योगबुद्धि (कर्मयोग) अवलम्बन करना आवश्यक है अर्थात् अपने अपने आश्रमविहित कर्मों को निष्काम भावसे ईश्वरार्पण बुद्धि से करना कर्तव्य है, उसे ही 'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते' इत्यादि श्लोक (२।४७) के द्वारा अर्थात् कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है, कर्म न करने में तुम्हारी रुचि न हो इत्यादि कह कर उपदेश दिया है। किन्तु केवल कर्म के द्वारा ही श्रेयः प्राप्ति (मोक्ष प्राप्ति) होगी, ये उन्होंने नहीं कहा है [क्योंकि सांख्य बुद्धि से कर्म को निकृष्ट कहा गया है (गीता-२।४९)।] भगवान् की इस प्रकार की विरुद्ध बात पर विचार कर अर्जुन की बुद्धि अत्यन्त व्याकुल होने के कारण वह कहने लगा।

मैं तुम्हारा भक्त हूँ, मुझे कैसे मोक्ष की प्राप्ति होगी ? उसे जानना चाह रहा हूँ। किन्तु श्रेयः (मोक्ष) प्राप्ति का साक्षात् साधन, जो सांख्यबुद्धि में

निष्ठा है, वह मुझे सुनाकर भी गुरु तथा भाई इत्यादि की हिंसा प्रभृति अनेक प्रकार के प्रत्यक्षीभूत अनर्थ जाल से परिपूर्ण कर्म मार्ग में मुझको नियुक्त कर रहे हों। परन्तु इसे ठीक तरह से अनुष्ठान करने से परम्पराक्रम के अनुसार भी (अर्थात् चित्त शुद्धि, ज्ञान लाभ इत्यादि के क्रम से भी) जो इसी जन्म में परम श्रेयः (मोक्ष) की प्राप्ति होगी ऐसा कोई निश्चय नहीं है। अतः मुझे इस प्रकार के कर्ममार्ग में क्यों नियुक्त कर रहे हो ? अर्जुन की इस प्रकार की व्याकुलता युक्तिसंगत ही है। इस लिए तृतीय अध्याय के प्रारम्भ में ही "ज्यायसी चेत्" इत्यादि श्लोक के द्वारा अर्जुन ने जो प्रश्न किया है वह उनकी व्याकुलता के अनुरूप ही है। उस प्रश्न की निवृत्ति के लिए इस अध्याय में ज्ञाननिष्ठा तथा कर्मनिष्ठा का विषय–विभाग जिसके सम्बन्ध में पहले ही कहा गया है उसका पृथक् पृथक् रूप से भगवान् ने वर्णन किया है (यह भी अर्जुनके प्रश्न के अनुरूप ही हैं)। कोई कोई व्याख्याकार अर्जुन के प्रश्न का अर्थ दूसरी तरह से कल्पना कर भगवान् के उत्तर को प्रश्न के प्रतिकूल रूप में वर्णन करते हैं। [अर्थात् अर्जुनके प्रश्न का विषय है कि यदि ज्ञाननिष्ठा के द्वारा कृतार्थता (मोक्ष) होती है एवं कर्मनिष्ठा के द्वारा वह सम्भव नहीं है तथा मुझे कर्म में क्यों नियुक्त कर रहे हो ? यदि ज्ञान कर्म के समुच्चय अवधारण करने के लिए प्रश्न होता तब वह समुच्चय निर्देश करने के लिए ही भगवान् का उत्तर होता किन्तु ऐसा नहीं है। अतः ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय कल्पना करना अर्जुन के प्रश्न के प्रतिकूल है। और भगवान् ने जो कुछ कहा है वह भी समुच्चय का विरोधी है। इसके अतिरिक्त उनके अपने ग्रन्थ में भी पूर्वापर (आगे पीछे) विरोध दिखता है, (आनन्द गिरि)] उन लोगों ने (अर्थात् वृत्तिकार प्रभृति) अपने ग्रन्थ की भूमिका में जिस प्रकार गीता की उक्ति का तात्पर्य प्रदर्शित किया है उससे इस तृतीय अध्यायमें अर्जुन के प्रश्न का एवं उसके उत्तर का तात्पर्य निर्णय करने में उससे विपरीत अर्थ प्रतिपादित किया है। वह किस प्रकार का है ? यह अब कहा जा रहा है। वृत्तिकारने भूमिका में तो कहा है कि गीताशास्त्र में सभी आश्रम के लिए ही ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय निरूपण किया गया है। और विशेष रूप से यह भी कहा है कि 'जब तक जीवित रहोगे तब तक अग्निहोत्र आदि यज्ञ करते रहोगे', इत्यादि श्रुतिवाक्य द्वारा विहित कर्म का त्याग कर केवल ज्ञान के द्वारा ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है—इस सिद्धान्तका गीताशास्त्र में निश्चित रूप से निषेध किया गया है। परन्तु गीता के तृतीय अध्याय के तीसरे श्लोक की व्याख्यामें वे लोग (वृत्तिकार प्रभृति) संन्यासीयों का ज्ञाननिष्ठा एवं कर्मीयों के लिए कर्मनिष्ठा कर्तव्य है, इस

प्रकार आश्रम का विकल्प (विभाग) दिखा कर "जब तक जीवित रहोगे" इत्यादि चेत्र में श्रुतिवाक्य द्वारा विहित कर्म का त्याग करना स्वीकार किया है (यद्यपि भूमिका में इस प्रकार के त्याग का निषेध किया गया है)। अत्र शंका होगी कि इस प्रकार के विरुद्ध वचन भगवान् अर्जुनको क्यों कहेंगे ? एवं श्रोता अर्जुन भी ऐसा विरुद्ध अर्थ किस प्रकार अवधारण (मन में धारण) करेगा ?

पूर्वपक्ष—यदि कहा जाय कि वृत्तिकारने भूमिका में गृहस्थ के लिए ही श्रौत कर्म त्याग कर केवल ज्ञान के द्वारा ही मोक्ष लाभ करने के प्रयत्न को निषिद्ध प्रतिपन्न किया है। दूसरे आश्रमस्थित लोगोंके लिए इस प्रकार नहीं कहा है।

उत्तरपक्ष—नहीं, इसमें भी पूर्वापर विरोध होगा क्योंकि 'सभी आश्रम के लिए ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय ही गीताशास्त्र का निश्चित अभिप्राय है' ऐसी प्रतीज्ञा कर अब तृतीय अध्याय में 'दूसरे आश्रम के लिए (संन्यासी के लिए) केवल ज्ञान द्वारा हो मोक्ष प्राप्त होता है' इस प्रकार पूर्वोक्त अपने सिद्धान्त के विरुद्ध ही बात किस प्रकार कह सकते हैं ?

पूर्वपक्ष—यदि ऐसा माना जाय कि भूमिका में वृत्तिकार ने जो कुछ कहा हैं वह श्रौत कर्म की ओर दृष्टि रखकर ही कहा है अर्थात् गृहस्थ श्रौत कर्म रहित होकर केवल ज्ञान द्वारा मोक्ष की प्राप्ति करते है उसे उन्होंने निषेध किया है। गृहस्थ का स्मार्त कर्म विद्यमान रहने पर भी (स्मृति शास्त्रविहित कर्म कर्तव्यरूप में प्राप्त रहने पर भी) "श्रौतकर्म रहित होकर केवल ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त नहीं होता है" इस प्रकार उक्त स्मार्त कर्म को अविद्यमान की तरह उपेक्षा कर (अर्थात् उसकी कर्त्तव्यता की उपेक्षा करके ही) ऐसा कहा है।

उत्तरपक्ष—यह भी बिरुद्ध बात है। क्योंकि गृहस्थ के लिए ही स्मार्त कर्म तथा ज्ञान के समुच्चय से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है [अर्थात् श्रौत (यागादि कर्म) तथा स्मार्त (पूजा इत्यादि) कर्म के साथ (दोनों प्रकार के कर्म के साथ) समुचित ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। केवल स्मार्त कर्म के साथ समुच्चित ज्ञान से मोक्ष नहीं होता है, ऐसा कहा गया है। दूसरे आश्रम के लिए ऐसा नहीं है, इस बात को विचारवान् मनुष्य किस प्रकार मान सकते हैं ? दूसरी बात यह है कि यदि ऊर्ध्वरेता पुरुष को मोक्ष प्राप्ति के लिए ज्ञान के साथ केवल स्मार्त कर्म के समुच्चय को आवश्यकता है तब गृहस्थ

के लिए भी मोक्ष के लिए स्मार्त कर्म के साथ ज्ञान का समुच्चय आवश्यक होना चाहिए—श्रौत कर्म के साथ नहीं।

पूर्वपक्ष—यदि ऐसा मानें कि गृहस्थ को मोक्ष के लिए ही श्रौत तथा स्मार्त दो प्रकार के कर्म के साथ ज्ञान के समुच्चय की आवश्यकता होती है और ऊर्ध्वरेताओं के लिए केवल स्मार्त कर्म युक्त ज्ञान से ही मोक्ष सम्भव है।

उत्तरपक्ष—यदि ऐसा माना जाय तब गृहस्थ के मस्तक के ऊपर विशेष परिश्रम युक्त एवं अनेक प्रकार के दुःखरूप श्रौत स्मार्त दो प्रकार के कर्म का भार आरोपित हो जाता है।

पूर्वपक्ष—यदि कहा जाय कि अनेक परिश्रम करने के कारण ही गृहस्थ को मुक्ति प्राप्त हो सकती है और दूसरे आश्रम में श्रौत नित्य कर्म के अभाव के कारण दूसरे आश्रम में स्थित व्यक्तियों को मोक्ष प्राप्ति नहीं होती है [यदि कहा जाय कि शास्त्र में तो संन्यास का विधान है तो उत्तर में कहा जायगा कि वह केवल कर्म में अनधिकारी अन्ध, जरठ प्रभृति के लिए ही विहित है।]

उत्तरपक्ष—ऐसी युक्ति ठीक नहीं है क्योंकि सभी उपनिषद्, इतिहास, पुराण आदि में तथा योग शास्त्र में मुमुक्षु के लिए ज्ञान के अंग के रूप में सभी कर्म के संन्यास का विधान किया गया है एवं श्रुति तथा स्मृति में आश्रम के विकल्प एवं समुच्चय भी विधान किया गया है। ['ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत गृहाद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत् यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद् वा वनाद्वा' अर्थात् ब्रह्मचर्य से गृहस्थ, गृहस्थ से वानप्रस्थ एवं वानप्रस्थ से संन्यास आश्रम ग्रहण करना पड़ेगा। इस प्रकार जो शास्त्र में निर्देश किया है वह समुच्चय का विधान है, और ब्रह्मचर्य से या गृहस्थ से अथवा वानप्रस्थ से संन्यासाश्रम ग्रहण किया जा सकता है यह विकल्प विधान है। अतः मोक्ष की प्राप्ति के लिए गृहस्थ आश्रम को प्राधान्य श्रुति प्रभृति शास्त्र में नहीं दिया गया है। (आनन्दगिरि)]

पूर्वपक्ष— तब तो सभी आश्रम के लिए ही ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय सिद्ध है ?

उत्तरपक्ष—नहीं, ऐसा नहीं कह सकते हो क्योंकि मुमुक्षुके लिए शास्त्रमें सभी कर्मोंके संन्यास का (त्याग का) विधान है। श्रुतिमें कहा गया है—'व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृहः उ० ३।५।१) (सभी प्रकारके भोगसे विरक्त होकर भिक्षावृत्ति ग्रहण करते हैं) 'तस्मात् संन्यासमेषां तपसामति-

रिक्तमाहुः (ना० उ० २।७९) (इसलिए इन तपस्याओं में संन्यास ही श्रेष्ठ है) 'न्यास एवात्यरेचयेत् (ना० उ० २।७८) (संन्यास ही श्रेष्ठ है), 'न कर्म्मणा न प्रजया न धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' (ना० उ० २।१२) 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' (जा. उ. ४) (न तो कर्म के द्वारा न तो प्रजा के द्वारा न संतान द्वारा न धनके द्वारा किन्तु केवल त्यागके द्वारा ही कोई महापुरुष अमृतत्व प्राप्त करते हैं, ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ग्रहण करते हैं इत्यादि) बृहस्पति ने भी कच को कहा था 'धर्म तथा अधर्म का त्याग करो। सत्य तथा अनृत (मिथ्या) इन दोनों का ही परित्याग करो। सत्य तथा अनृत इन दोनों का परित्याग कर जिस अहंकार के द्वारा इन दोनों का त्याग करोगे उस अहंकार को भी त्याग करो। संसारको असार मानकर परमतत्त्व के दर्शन करने की इच्छासे अनेक व्यक्ति परम वैराग्य का आश्रय लेकर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश न करके ही अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रमसे ही संन्यास ग्रहण कर लेते हैं। महाभारत के शुक्र अनुशासन में भी ऐसा कहा गया है 'कर्मणा वध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते। तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः (महा. शान्तिपर्व २४१।७) अर्थात् प्राणी कर्म के द्वारा ही बद्ध होता है एवं ज्ञान के द्वारा ही मुक्ति प्राप्त करता है। इस कारण से पारदर्शी (आत्मतत्त्वज्ञ) संन्यासी लोग कर्मका अनुष्ठान नहीं करते है। गीतामें भी आगे कहा जायगा—"सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य (५।१३) अर्थात् सभी कर्मों को मन के द्वारा संन्यास (त्याग) कर इत्यादि। इसलिए जो लोग ज्ञान कर्म समुच्चयवाद का समर्थन करते हैं उनका मत श्रुति-स्मृति-पुराण का विरोधी है।

(२) मोक्ष अकार्य है अर्थात् किसी क्रिया के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसलिए भी मुमुक्षु के लिए कर्म व्यर्थ है।

पूर्वपक्ष—यदि ऐसा कहूँ कि प्रत्यवाय (अर्थात् विहितकर्म के अनुष्ठान न करने से जो पाप होता है उसे) दूर करने के लिए (सब आश्रम के व्यक्तियों को) नित्यकर्म का अनुष्ठान करना आवश्यक है।

उत्तरपक्ष—(क) नही, ऐसा नहीं कह सकते हो क्योंकि शास्त्र में जो कहा गया है कि विहित कर्म न करने से प्रत्यवाय होता है वह संन्यासी को लक्ष्य कर नहीं कहा गया है, वह असंन्यासी को (गृहस्थ को) लक्ष्य करके कहा गया है। जैसे, कर्म के अधिकारी गृहस्थ तथा ब्रह्मचारी को विहित अग्निहोत्र आदि कर्म नहीं करनेसे प्रत्यवाय (पाप) होता है उस प्रकार अग्निहोत्र आदि कर्म नहीं करने से संन्यासी को

भी प्रत्यवाय (पाप) होता है, ऐसी कल्पना करना अनुचित है। (ख) नित्यकर्म का अकरण नहीं करना अभाव पदार्थ है। अभाव से भाव-रूप प्रत्यवाय (पाप) की उत्पत्ति हो सकती है, ऐसी कल्पना करना भी अनुचित है क्योंकि श्रुतिमें कहा गया है 'कथमसतः सज्जायते ?' अर्थात् किस प्रकार अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है ? अर्थात् अभाव से भाव की उत्पत्ति असम्भव है। विहितकर्म के अकरण से (अर्थात् विहित कर्म न करनेसे) पाप सम्भव न होने पर भी यदि वेद कहे कि उससे प्रत्यवाय (पाप) होता है, तब वेद अनर्थक होने के कारण प्रमाण के रूपमें गृहीत नहीं हो सकता, क्योंकि विहित कर्म नहीं करनेसे पाप होता है यह स्वीकार करनेसे वेदविहित कर्म करने पर तथा नहीं करने पर दोनों अवस्था में ही केवल दुःखरूप फल ही प्राप्त होता है। [विहित कर्म करते समय भी कष्ट होता है एवं उसका फल भी जन्म मृत्यु के हेतु होने के कारण क्लेशकर है। फिर विहित कर्म नहीं करने पर पाप का फल भोग करना पड़ेगा वह भी दुःखमय है। इस प्रकार दुःख किसी का भी इष्ट नहीं हो सकता।] फिर यह भी कल्पना किया गया है कि शास्त्र ज्ञापक नहीं है किन्तु कारक है (अर्थात् शास्त्र अपूर्व शक्ति उत्पन्न करता है) किन्तु ऐसी कल्पना भी युक्तिशून्य है क्योंकि ऐसी कल्पना किसी को भी इष्ट नहीं है। वस्तुतः शास्त्र कारक नहीं है, ज्ञापक है (अर्थात् अज्ञात विषयों का ज्ञान प्रदान करता है—नवीन किसी शक्ति की उत्पत्ति नहीं करता)। इसलिए संन्यासियों के लिए (विषयों का मिथ्यात्व निश्चय कर जो आत्मज्ञान के लाभ में तत्पर है, ऐसे संन्यासियों के लिए) कोई भी कर्म विहित नहीं हो सकता अर्थात् उनके लिए ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय किसी भी प्रकार से स्वीकार नहीं किया जा सकता। ज्ञान और कर्म का समुच्चय स्वीकार करने से "ज्यायसी चेत् कर्म्मणस्ते मता बुद्धिः" इत्यादि प्रश्न जो अर्जुनने किये वह भी युक्तिसंगत नहीं है। यदि ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय मोक्ष का हेतु होता एवं यदि भगवान् द्वितीय अध्याय में अर्जुन को कहते कि ज्ञान तथा कर्म दोनों ही तुम्हें एक साथ करने पड़ेंगे, तब 'हे जनार्दन ! यदि कर्म की अपेक्षा तुम ज्ञान को श्रेष्ठ मानो' इत्यादि प्रश्न जो अर्जुनने किया वह भी युक्तियुक्त नहीं है। यदि भगवान् अर्जुन को ऐसा कहते कि तुम्हें ज्ञान तथा कर्म दोनों ही करने पड़ेंगे, तब भगवान् ने तो पहले ही ज्ञान को कर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ निर्देशकर वह ज्ञान प्राप्त करने के लिए अर्जुन को उपदेश दिया है अतः (कर्मयोग के विना जब ज्ञान निष्पन्न अर्थात् प्राप्त नहीं हो सकता तब) 'तत् किं कर्म्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव'

अर्थात् हे केशव ! मुझे घोर कर्म में क्यों नियुक्त कर रहे हो ? इस प्रकार अर्जुन का प्रश्न किसी प्रकार से भी सम्भव नहीं हो सकता। और ऐसी कल्पना करना भी नहीं चाहिए कि श्रेष्ठ ज्ञान का अनुष्टान अर्जुन को करना नहीं चाहिए इसे भगवान् के पहले ही कहने के कारण अर्जुन ने प्रश्न किया है कि 'यदि कर्म की अपेक्षा तुम ज्ञान का श्रेष्ठ मानते हो' इत्यादि।

यदि ऐसा हो कि ज्ञान तथा कर्म परस्पर विरुद्ध होने के लिए एक ही पुरुष के द्वारा एक ही समय में दोनों का अनुष्ठान असम्भव हो एवं इस कारण से यदि भगवान् ने पहले ही कहा है कि ज्ञान तथा कर्म भिन्न पुरुषोंके द्वारा अनुष्ठान के योग्य है, तब ही "ज्यायसी चेत्' अर्जुन का ऐसा प्रश्न युक्तिसंगत हो सकता है। और यदि कल्पना किया जाय कि अर्जुनने ये प्रश्न अविवेक के कारण किया है तब भगवान्ने जो उत्तर दिया—कि ज्ञान-निष्ठा तथा कर्मनिष्ठा ये दो भिन्न भिन्न पुरुषों के द्वारा अनुष्ठान के योग्य है, (गीता ३।३) यह युक्तियुक्त नहीं है। [क्योंकि अविवेकी पुरुष के निकट ज्ञाननिष्ठा के बारे में कहना वृथा है।] और यदि कहो कि भगवान् ने भी अज्ञान के कारण ऐसा उत्तर दिया है अर्थात् भगवान् का उत्तर भी अज्ञान-मूलक है तब कहा जायगा कि ऐसी कल्पना करना सभी प्रकार से अनुचित है क्योंकि भगवान् का सर्वज्ञत्व सभी शास्त्र में प्रसिद्ध है। अतः भगवान् अज्ञान के अधीन होकर प्रश्न का उत्तर देंगे यह सम्भव नहीं है (आनन्द गिरि)। भगवान् का यह उत्तर देखकर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ज्ञान-निष्ठा तथा कर्मनिष्ठा का अधिकारी भिन्न भिन्न पुरुष हुआ करते हैं। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय सम्भव नहीं है। इस लिए गीता एवं सभी उपनिषदों में यही निश्चित किया गया है कि केवल ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है।

यदि ज्ञान तथा कर्म में समुच्चय सम्भव होता तब ज्ञान तथा कर्म में से एक को निश्चय करो, इस प्रकार एक के सम्बन्ध में ही जानने की इच्छा अर्जुन प्रगट नहीं करता। भगवान् भी 'कुरु कर्म्मैव तस्मात्त्वम्' (गीता ४।१५) इस प्रकार के निश्चित कथन के द्वारा अर्जुन के लिए (उस अवस्था में) ज्ञान-निष्ठा जो असम्भव थी, उसे न कहते। अर्थात् यदि समुच्चय सम्भव होता तब अर्जुन को केवल कर्म करने के लिए न कहकर ज्ञान तथा कर्म दोनों का अनुष्ठान करने को कहते।

(भाष्यभूमिका समाप्त)

ज्ञान को कर्म से श्रेष्ठ कहने में ज्ञान तथा कर्म का विकल्प असम्भव है। अर्थात् एक ही अधिकारी मोक्ष की प्राप्ति के लिए इच्छा के अनुसार चाहे कर्म-निष्ठा और नहीं तो ज्ञाननिष्ठा अवलम्बन कर सकते हैं, ऐसा विकल्प कभी भी संगत नहीं हो सकता। क्योंकि उत्कृष्ट ज्ञान तथा निकृष्ट कर्म में विकल्प नहीं हो सकता है। यदि विकल्प स्वीकार किया जाय तब उत्कृष्ट तथा अना-याससाध्य ज्ञान को छोड़कर उससे अपकृष्ट एवं अत्यन्त कष्टसाध्य कर्म को करने की कौन इच्छा करेगा ? और यदि ज्ञाननिष्ठा तथा कर्मनिष्ठा का अधि-कारी भिन्न-भिन्न हो तब तुमने जैसा मुझे उपदेश दिया है उस प्रकार एक ही व्यक्ति के प्रति ज्ञाननिष्ठा तथा कर्मनिष्ठा दोनों का उपदेश देना उचित नहीं है—मेरा जिसमें अधिकार है वही तो कहना चाहिए था,—इन समस्त बातों को विचार कर अर्जुन ने व्याकुलचित्त होकर "ज्यायसी चेत्" इत्यादि प्रश्न किया। (मधुसूदन)।

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत् कर्म्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत् किं कर्म्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

अन्वय—हे जनार्दन। ते चेत् बुद्धिः कर्म्मणः ज्यायसी मता, तत् हे केशव ! घोरे कर्म्मणि मां किं नियोजयसि ?

अनुवाद—अर्जुन बोले—"हे केशव ! हे जनार्दन ! बुद्धि (ज्ञान) कर्म से (अर्थात् ज्ञाननिष्ठा, कर्मनिष्ठा से) प्रशस्त (श्रेष्ठ) यह यदि तुम्हें अभिमत हो तब तुम मुझे भयंकर कर्ममार्ग में क्यों नियुक्त कर रहे हो ?

भाष्यदीपिका—हे जनार्दन !—अपनी-अपनी अभिलाषा की सिद्धि के लिए लोग तुम्हारा अर्दन (प्रार्थना) करते हैं; और इसलिए तुम जनार्दन हो। मैं भी तुम्हारी प्रार्थना कर रहा हूँ कि मेरे लिए कौन मार्ग श्रेयः है। अतः मेरे लिए ऐसी प्रार्थना अनुचित नहीं है। (मधुसूदन)। अथवा 'जनं जननं तत्कारणम-ज्ञानं च स्वसाक्षात्कारेण अर्दयति हिनस्तीति' अर्थात् जन (जन्म) एवं उसके कारण अज्ञान को अपने साक्षात्कार के द्वारा जो अर्दन (नष्ट) करते हैं, उनका नाम है जनार्दन। तुम तो जनार्दन हो, तुम मुझे ऐसे मार्ग का उपदेश दो ताकि मैं जन्म-मृत्युप्रवाह रूप इस घोर संसार से मुक्त हो सकूँ, ऐसा अभिप्राय लेकर अर्जुन ने यहाँ पर श्रीकृष्ण को जनार्दन कहकर सम्बोधित किया।

चेत्—यदि बुद्धिः—आत्मविषया बुद्धि अर्थात् आत्मविषयक ज्ञान कर्म्मणः—निष्काम कर्म से ज्यायसी—प्रशस्ततर अर्थात् अधिकतर श्रेष्ठ [मोक्ष का अन्तरंग साधन होने के कारण बुद्धि ही (ज्ञान योग ही) अधिकतर श्रेष्ठ माना जाता है] ते मता—तुम्हारा अभिप्रेत हो, तत्—तब हे केशव—हे सर्वेश्वर! [तुम सभी प्रार्थित वस्तुओं का प्रदाता हो और मैं तुम्हारा भक्त हूँ—'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां' अर्थात् मैं तुम्हारा शिष्य हूँ, तुम मुझे उपदेश दो, इत्यादि वाक्य कहकर मैंने तुमको ही मानकर तुम्हारा ही आश्रय लिया है अतः मेरे प्रति तुम्हें प्रतारणा करना उचित नहीं है। यही अभिप्राय है (मधुसूदन)] किं—क्यों कर्म्मणि घोरे—घोर अर्थात् हिंसारूप भयंकर कर्म में (युद्ध में) मां—तुम्हारा अत्यन्त भक्त मुझे नियोजयसि—"कर्म्मण्येवाधिकारस्ते" अर्थात् तुम्हारा कर्म में ही अधिकार है "तस्माद् युध्यस्व भारत" अर्थात् हे भारत, इसलिए युद्ध करो, ऐसा कहकर विशेषरूप से नियुक्त कर रहे हो? मैं हिंसात्मक युद्ध करना नहीं चाहता हूँ, तुम क्यों मुझे युद्ध करने के लिए कह रहे हो? तुम्हारा ऐसा उपदेश तो उचित नहीं मालूम हो रहा है? ज्ञान जब कर्म से श्रेष्ठ है तब मुझे भी बुद्धि का शरणापन्न होकर अर्थात् (ज्ञान योग का आश्रय कर) मोक्ष की प्राप्ति में यत्नवान होने का आदेश क्यों नहीं कर रहे हो?

अतः "तदेकं वद निश्चित्य" (३।२) अर्थात् दोनों में एक को श्रेयः का साधन निश्चय कर कहो। यदि बुद्धि (ज्ञान) तथा कर्म का समुच्चय इष्ट होता तब 'ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते' अर्थात् कर्म से ज्ञान यदि श्रेष्ठ है इत्यादि वाक्य के द्वारा अर्जुन को कर्म से ज्ञान को विशेष रूप से पृथक् करके निर्देश करना किसी भी प्रकार से युक्तियुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों का समुच्चय होनेसे ज्ञानका फल दूसरे फल (कर्म के फल) से अतिरिक्त या विशिष्ट नहीं हो सकता। समुच्चय के पक्ष में ज्ञान तथा कर्म दोनों मिलकर मोक्ष-प्राप्तिका साधन होता है, इसलिए दोनोंका मिला हुआ फल एक ही होता है, ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। 'दूरेण ह्यवरं कर्म' (गीता २।४९) ऐसा कहकर भगवान् ने कर्म की अपेक्षा ज्ञान को श्रेयस्कर कहा है परन्तु अश्रेयस्कर कर्म करो' यह कहकर प्रेमी भक्त अर्जुन को उपदेश दे रहे हैं, इसका कारण न समझकर मानों थोड़ा तिरस्कार कर अर्जुन कह रहा है कि हे केशव, तब क्यों मुझे हिंसारूप अति भयंकर कर्म में नियुक्त कर रहे हो? [वृत्तिकार कहते हैं कि श्रौत तथा स्मार्त कर्म के साथ ज्ञानका समुच्चय गृहस्थ के लिए श्रेय लाभ का उपाय है, दूसरोके लिए केवल स्मार्त कर्म के साथ ज्ञान के समुच्चय के द्वारा ही

श्रेयः की प्राप्ति होती है। इस मत का अनुवाद कर भाष्यकार अब कह रहे हैं (आनन्दगिरि) यदि भगवान् ऐसा कहते हैं कि सभी आश्रमीयों के लिये ही स्मार्त कर्म के साथ ज्ञानका समुच्चय करना पड़ेगा एवं अर्जुन भी यदि ऐसा मान लेते तब अर्जुन का यह वचन (तत् किं कर्म्मणि घोरे इत्यादि वचन) किस प्रकार से युक्तियुक्त हो सकता है ? अर्थात् यह किसी भी प्रकार से युक्तियुक्त नहीं हो सकता।

टीप्पणी—

(१) मधुसूदन—प्रथम अध्याय में शास्त्र के अर्थ का (गीता शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय का) जो उपोद्घात (आरम्भ)हुआ है वही द्वितीय अध्याय में सूत्रित किया गया है। शास्त्र में मोक्ष का उपाय इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है—(क) पहला निष्काम कर्म में निष्ठा (ख) उससे अन्तःकरण की शुद्धि (ग) अन्तःकरण की शुद्धि होने पर शम, दम आदि साधनों से सम्पन्न होकर सर्वकर्म संन्यास (घ) संन्यास के बाद वेदान्त के वाक्य का विचार के साथ भगवद्भक्तिनिष्ठा (ङ) भगवद्भक्तिनिष्ठा से तत्त्वज्ञान में निष्ठा (च) उस निष्ठा के परिणामस्वरूप त्रिगुणात्मिका अविद्या की निवृत्ति तथा जीवन्मुक्ति की प्राप्ति। जीवन्मुक्ति की अवस्था में ही प्रारब्धकर्म के फल का अन्त होने पर विदेहमुक्ति लाभ होता है।

जीवन्मुक्ति की अवस्था में परवैराग्य होता है एवं उस वैराग्य की उपकारिणी दैवीसम्पत् (गीता के १६ अध्याय में वर्णित) स्वतः ही प्रगट होती है एवं उसकी विरोधिनी आसुरीसम्पत् नामक अशुभ वासना का त्याग किया जाता है। सात्त्विकी श्रद्धा दैवीसम्पत् का असाधारण कारण है एवं राजसी तथा तामसी श्रद्धा आसुरीसम्पत् का असाधारण कारण है। यह दैवी सम्पत् उपादेय (अर्थात् ग्राह्य) एवं आसुरीसम्पत् हेय (अर्थात् त्याज्य) है। इन दोनों विषयों के विभाग से ही समग्र शास्त्रार्थ की (शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय की) परिसमाप्ति हुई है। द्वितीय अध्याय में जो शास्त्रार्थ सूत्रित किया गया है उसे ही बाकी १६ अध्याय में विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है।—(क) योगस्थः कुरु कर्माणि (२।४८) आदि श्लोक में सत्त्वशुद्धि के साधन के रूप में जो निष्काम कर्मनिष्ठा सूत्रित (सूचित) की गई है वही सामान्य रूप से गीता के तृतीय अध्याय में एवं विशेषरूप से चतुर्थ अध्यायमें कही गई है।

(ख) निष्काम कर्म निष्ठा के द्वारा चित्तशुद्धि की प्राप्ति होने से शुद्ध अन्तःकरण वाले योगी शम, दम आदि साधनों से सम्पन्न होकर सर्वकर्म-

संन्यासनिष्ठा प्राप्त करते हैं। इसे ही द्वितीय अध्याय के 'विहाय कामान् यः सर्वान्' (२।७१) इत्यादि श्लोक में सूत्रित होकर पञ्चम अध्याय में संक्षेप रूप से एवं षष्ठ अध्याय में विस्ताररूप से वर्णित किया गया है। इस प्रकार प्रथम छः अध्याय में 'तत्त्वमसि' महावाक्य के 'त्वं' पद का अर्थ निरूपित किया गया है।

(ग) उसके बाद 'युक्त आसीत मत्परः' (२।६१) इत्यादि श्लोक में तो वेदान्तविचार के साथ अनेक प्रकार की भगवद्भक्तिनिष्ठा सूत्रित हुआ है। वही बाद के छः अध्याय में (७–१२ अध्याय में) प्रतिपादित हुआ है। एवं इस छः अध्याय में उक्त महावाक्य का 'तत्' पद का अर्थ निरूपित किया गया है।

(घ) उसके बाद की अवस्था अर्थात् तत् तथा त्वं पद के एकताबोध-रूप जो तत्त्वज्ञाननिष्ठा है वह 'वेदाविनाशिनं नित्यम्' (२।२१) इत्यादि श्लोक में सूत्रित किया गया है। वही त्रयोदश अध्याय के प्रकृति तथा पुरुष के विवेक (पार्थक्य) के द्वारा विस्तृतरूप से वर्णन किया गया है।

(ङ) तत्त्वज्ञान निष्ठा का परिणाम है त्रैगुण्यनिवृत्ति (सत्त्व, रजः तथा तमः इन तीनों गुणों की निवृत्ति)। और उन तीन गुणों की निवृत्ति ही गुणातीत अवस्था या जीवन्मुक्ति है। इसे द्वितीय अध्याय के 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' (२।४५) इत्यादि श्लोक में सूत्रित कर चतुर्दश अध्याय के गुणातीत के लक्षण को निर्देश पूर्वक विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है।

(च) 'तदा गन्तासि निर्वेदं' (२।५२) इत्यादि श्लोक में जो परवैराग्य-निष्ठा सूत्रित हुई है उसे ही पञ्चदश अध्याय के संसार वृक्ष के छेदन के रूप में वर्णन किया गया है।

(छ) 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः' (२।५६) इत्यादि श्लोक में स्थितप्रज्ञ के लक्षण निर्देशकर वैराग्य की उपकारिणी दैवी सम्पत् आदेय (ग्रहणीय) एवं 'यामिमां पुष्पितां वाचम्' (२।४२) इत्यादि श्लोक में उसकी विरोधिनी आसुरी सम्पत् हेय (त्याज्य) है—इस प्रकार द्वितीय अध्याय में जो सूत्रित किया गया है उसे ही १६ वाँ अध्याय में विस्तृतरूप से वर्णन किया गया है।

(ज) 'निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थः' (२।४५) इत्यादि श्लोक में दैवीसम्पद् का असाधारण कारण जो सात्त्विकी श्रद्धा सूत्रित की गई है उसे ही १७ वें

अध्याय में वर्णित किया गया है। एवं उस अध्याय में उस सात्त्विकी श्रद्धा की विरोधिनी राजसी तथा तामसी वृत्ति को परिहार करने का भी वर्णन है। इस प्रकार से १३ अध्याय से १७ अध्याय तक पाँच अध्याय में ज्ञाननिष्ठा एवं उसका परिणाम (त्रिगुणात्मिका अविद्या से निवृत्त होकर जीवन्मुक्ति की दशा) विस्तृतरूप से प्रतिपादित किया गया है।

(फ) और अठारहवें अध्याय में पहले कहे गये सभी विषयों का ही उपसंहार किया गया है। यही है समग्र गीताशास्त्र के प्रतिपाद्य विषय की सङ्गति है। पूर्ववर्ती अध्याय में 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये' (२।३९) अर्थात् सांख्य के विषय में यह ज्ञान तुम्हें दिया गया है, इत्यादि कहकर भगवान् ने सांख्य-बुद्धि का आश्रय कर ज्ञाननिष्ठा के सम्बन्ध में कहा है और कर्म-बुद्धि को आश्रय कर 'योगे त्विमां शृणु' (२।३९) अर्थात् कर्मयोग के सम्बन्ध में अभी श्रवण करो, इत्यादि श्लोक से आरम्भ कर 'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते' (केवल कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है) 'मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि' (२।४७) अर्थात् कर्म न करने में तुम्हारी प्रीति न हो इत्यादि श्लोक तक कर्मनिष्ठा का परिचय दिया है। किन्तु भगवान् ने इस कर्मनिष्ठा तथा ज्ञान-निष्ठा के अधिकारियों का भेद स्पष्ट करके नहीं कहा। पुनः यह धारणा करना भी युक्तिसंगत नहीं होगा कि वे दोनों निष्ठा मिलकर एक ही अधिकारी में एक ही साथ रहेगी। क्योंकि 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद् धनंजय' (२।४९) अर्थात् हे धनंजय, कर्मयोग बुद्धियोग से अधिक निकृष्ट है, इत्यादि कहकर भगवान् ने ज्ञाननिष्ठा की अपेक्षा कर्मनिष्ठा को निकृष्ट कहा है। पुनः 'यावानर्थ उदपाने' (२।४६) इत्यादि श्लोक में ज्ञान के फल में सभी कर्मों का फल अन्तर्भूत रहता है, यह भी कहा है। एवं स्थितप्रज्ञका लक्षण निर्देश कर 'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ' (२।७२) ऐसा कहकर प्रशंसा के साथ ज्ञान-निष्ठा का उपसंहार किया है। पुनः 'या निशा सर्वभूतानाम्' (२।६९) इत्यादि श्लोकों में कहा गया है कि ज्ञानी का द्वैतदर्शन नहीं रहने के कारण उनके लिए कर्मानुष्ठान असम्भव है। इसके अलावा अविद्यानिवृत्तिरूप मोक्षरूप फल में (ज्ञान के द्वारा ही अज्ञान की निवृत्ति सम्भव होने के कारण) लौकिक नियम के अनुसार केवल ज्ञान ही एकमात्र साधन हो सकता है। श्रुति ने भी ऐसा कहा है कि—'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' अर्थात् केवल मात्र वह आत्मतत्त्व ज्ञात होने से ही अतिमृत्यु अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति सम्भव है। मोक्षरूप परमा गतिका और कोई दूसरा पथ (उपाय) नहीं है। इससे यह प्रतिपन्न होता है कि ज्ञान तथा कर्म आलोक तथा अन्धकार की

तरह परस्पर विरुद्ध होने के कारण ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय सम्भव नहीं है। एवं दोनों का अधिकारी एक ही व्यक्ति को मानना भी श्रुति, युक्ति तथा भगवान् की उक्ति के विरुद्ध है। यदि कहो कि ज्ञान तथा कर्म का अधिकारी विभिन्न ही क्यों न हो? इसके उत्तर में कहा जा रहा है—यह ठीक है कि अधिकारी में ऐसा भेद सम्भव है। किन्तु एक ही अर्जुन के प्रति दोनों का (समुच्चय का) उपदेश युक्तियुक्त नहीं होता है अर्थात् जो व्यक्ति कर्म का अधिकारी हैं उसके प्रति ज्ञाननिष्ठा का उपदेश देना उचित नहीं हैं और जो व्यक्ति ज्ञान का अधिकारी हैं उसके प्रति कर्मनिष्ठा का उपदेश देना उचित नहीं है। और यदि कहो कि एक ही अधिकारी के प्रति विकल्परूप से ज्ञान तथा कर्म दोनों का उपदेश दिया गया है अर्थात् (एक ही अधिकारी इच्छा-नुसार कर्मनिष्ठ भी हो सकता है अथवा ज्ञाननिष्ठ भी हो सकता है एवं इन दोनों में से किसी भी उपाय द्वारा मोक्षरूप फल प्राप्त हो सकता है) तब कहा जायेगा कि ऐसा विकल्पपक्ष भी युक्तिसंगत नहीं है कारण उत्कृष्ट ज्ञान एवं निकृष्ट कर्म का विकल्प नहीं हो सकता है क्योंकि उत्कृष्ट ज्ञान से जो मोक्ष प्राप्त होगा वह निकृष्ट कर्म से प्राप्त मोक्ष की अपेक्षा अन्य प्रकार का होगा किन्तु मोक्ष शब्द का तात्पर्य है आत्मस्वरूप का ज्ञान (अनुभूति), वह सर्वदा ही एकरूप है। अतएव अविद्या निवृत्ति द्वारा जो आत्मस्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है उसमें तारतम्य रहना असम्भव है। अतः (क) ज्ञाननिष्ठा व कर्मनिष्ठा का अधिकारी यदि पृथक्-पृथक् हो तब एक व्यक्ति के प्रति दोनों निष्ठा का उपदेश देना संगत नहीं है और (ख) यदि एक ही व्यक्ति ज्ञान तथा कर्म निष्ठा का अधिकारी हो तब ज्ञान एवं कर्म दोनों (परस्पर विरुद्ध होने के कारण) उस अधिकारी द्वारा एक साथ अनुष्ठित नहीं हो सकते। अतः दोनों का समु-च्चय सम्भव नहीं है। (ग) यदि ज्ञान एवं कर्म का विकल्प स्वीकार किया जाय तब उत्कृष्ट एवं अनायाससाध्य ज्ञान को छोड़कर ज्ञान की अपेक्षा अपकृष्ट एवं बहुकष्ट साध्य कर्म का अनुष्ठान कोई बुद्धिमान् व्यक्ति करना स्वीकार नहीं करेगा। इन बातों का विचार कर अर्जुन ने व्याकुल चित्त होकर "ज्यायसी चेत्" इत्यादि प्रश्न किया।

[तृतीय अध्याय के प्रारम्भ में ही भाष्यकार ने जिन युक्ति तर्कों के द्वारा ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद का खंडन किया है उन युक्तियों का सार संग्रह कर मधुसूदन सरस्वती ने यहाँ विषय को सहज तथा सरल रूप से स्पष्ट किया है।]

(२) श्रीधर—'स्वधर्मेण यमाराध्य भक्त्या मुक्तिमिता बुधाः। तं कृष्णं परमानंदं तोषयेत् सर्वकर्मभिः ॥' (बुद्धिमान् व्यक्तियोंने स्वधर्म पालन कर जिनकी आराधना के द्वारा मुक्ति को प्राप्त किये हैं उन परमानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण को सभी कर्मों के द्वारा संतुष्ट करना सभी का कर्तव्य है)।

पहले अध्याय में भगवान्‌ने 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' इत्यादि श्लोक में पहले मोक्ष के साधनरूप विवेकबुद्धि का (अर्थात् देह से आत्मस्वरूप को पृथग् जानने के उपाय का) उपदेश दिया। उसके बाद 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' प्रभृति श्लोक में कर्मयोग का भी उपदेश दिया, किन्तु उसमें कौन श्रेष्ठ है, इसे स्पष्टरूप से उन्होंने नहीं कहा है। तब भी इसमें बुद्धियुक्त स्थितप्रज्ञ का निष्कामत्व, नियतेन्द्रियत्व, तथा निरहंकारत्व प्रभृति लक्षण निर्देश कर प्रशंसा के साथ 'यही ब्राह्मी स्थिति है' ऐसा कहकर उपसंहार करने से बुद्धि तथा कर्म में बुद्धि ही जो श्रेष्ठ है ऐसा प्रतीत होता है। यही भगवान् का अभिप्राय मानकर अर्जुन बोले—] कर्मणः बुद्धिः ज्यायसी इति चेत् ते मता—कर्मयोग से ही मोक्ष का अन्तरंग साधन बुद्धिही है यह यदि तुम्हारे मतानुसार श्रेष्ठ हो तत्—तव किं घोरे कर्मणि मां नियोजयसि—किस कारण तुम मुझे 'तस्मात् युद्धस्व' (इसलिए युद्ध करो) 'तस्मात् उत्तिष्ठ' (अतः युद्ध के लिए उठो इत्यादि बार-बार कहकर (गीता २।४८, २।३७) घोर अर्थात् हिंसारूप युद्धरूप कर्म में मुझे नियुक्त (प्रवृत्त) कर रहे हो ?

(३) शंकरानन्द—'न त्वेवाहं जातु नासम्' (मैं कभी भी नहीं था, ऐसी बात नहीं है गीता २।१२) इत्यादि से आत्मा तथा अनात्मा का विवेचन (पृथक्त्व का विचार) आरम्भ कर 'न जायते म्रियते' (आत्मा जात तथा मृत नहीं होता है—गीता २।२०) इत्यादि के द्वारा श्रीभगवान्‌ने सम्यक् प्रकार से आत्मतत्त्व का निर्णय किया है। 'वेदाऽविनाशिनम्' (जो इन्हें अविनाशी मानते हैं—गीता २।२१) इत्यादि के द्वारा ब्रह्मज्ञानीका सर्वकर्मसंन्यास होता है, यह भी कहा है। 'प्रजहाति यदा कामान्' (जब काम को त्याग करते हैं गीता २।५५) इत्यादि के द्वारा आरम्भ कर 'स शान्तिमाप्नोति' (वे ही शान्ति को प्राप्त करते हैं—गीता २।७०) ऐसा कह कर अन्त में ज्ञानी का ब्रह्मनिष्ठा से मोक्षरूप फल प्राप्त होता है, यह प्रतिपादन कर 'न कामकामी' (कामकामी पुरुषको मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है—गीता २।७०) अर्थात् कर्मसंन्यासपूर्वक ब्रह्मनिष्ठा के द्वारा ही मोक्षलाभ करना सम्भव है ऐसा

भगवान्‌ने कहा। इसके द्वारा सभी को ही संन्यास की प्रवृत्ति होना चाहिए, ऐसी धारणा होना स्वाभाविक है। परन्तु श्रुति तथा स्मृति के वचन आदि से यही स्पष्ट होता है कि अधिकारी के लिए ही संन्यास का विधान किया गया है—अनधिकारी के लिये नहीं, कारण जो अधिकारी न होकर संन्यास ग्रहण करेंगे, वे पतित होंगे। यथा—

विरक्तः प्रव्रजेद्धीमान् सरक्तस्तु गृहे वसेत्।
सरागो नरकं याति प्रव्रजन् हि द्विजोत्तमाः॥
यदा मनसि संजातं वैतृष्ण्यं सर्ववस्तुषु।
तदा हि संन्यासमिच्छेत् पतितः स्याद् विपर्यये॥
प्रवृत्तिलक्षणं कर्म ज्ञानं संन्यासलक्षणम्।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान्॥
यदा तु विदितं तत्त्वं परं ब्रह्म सनातनम्।
तदैकदंडं संगृह्य सोपवीतां शिखां त्यजेत्॥
अहमेव परं ब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम्।
इति बोधो दृढो यस्य तदा भवति भैक्ष्यभुक्॥
प्राणे गते यथा देहः सुखं दुःखं न विन्दति।
तथा चेत् प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रमं वसेत्॥
अनधीत्याखिलान् वेदाननिष्ट्वैवाऽखिलान् सुरान्।
अनुत्पाद्य सुतान् विप्रो न संन्यसितुमर्हति॥
अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रचरन्निन्द्रियार्थेषु नरः पतनमृच्छति॥

अर्थात् बुद्धिमान् व्यक्ति विरक्त होकर गृहत्याग कर संन्यास ग्रहण करेंगे। जो सरक्त है अर्थात् विषयों के प्रति जिनका वैराग्य नहीं है वह गृह में ही रहेगा क्योंकि जो सराग अर्थात् विषयासक्त हैं वह यदि संन्यास ग्रहण करता है तब वह नरक में जाता है। जब संसार की सभी वस्तु के प्रति मन में वितृष्णा हो जाती है तभी संन्यास ग्रहण की इच्छा होनी चाहिए, नहीं तो पतित होने की सम्भावना है। कर्म प्रवृत्तिलक्षण है और ज्ञान संन्यासलक्षण है अर्थात् प्रवृत्ति ही कर्म का लक्षण है एवं संन्यास ही ज्ञान का लक्षण है। इस कारण से इस संसार में बुद्धिमान् व्यक्ति ज्ञानपूर्वक संन्यास ग्रहण

करेंगे। जब सनातन परब्रह्म के तत्त्व का ज्ञान हो जाता है तब एक दण्ड ग्रहण कर उपवीत के साथ शिखा त्याग करेंगे। 'मैं वासुदेव नामक अव्यय परब्रह्म हूँ' ऐसा दृढ़ ज्ञान जब होता है तब वे (संन्यास ग्रहण कर) भिक्षान्नभोजी हो जाते हैं। जैसे देह से प्राण चले जाने से देह में सुख दुःख की अनुभूति नही होती उसी प्रकार यदि प्राणयुक्त होकर भी कोई व्यक्ति समाधिस्थ होकर सुख दुःख का अनुभव न करे तब वह ज्ञानी पुरुष कैवल्याश्रम में निवास करते हैं अर्थात् कैवल्य में स्थित रहते हैं। (संन्यास ग्रहण कर भिक्षान्न के द्वारा जीविका निर्वाह करने में ब्राह्मण का ही अधिकार है) किन्तु ब्राह्मण सकल वेद का विना अध्ययन किये, यज्ञ आदि के द्वारा सभी देवताओं को पूजा विना किये (गृहस्थ अवस्था में) पुत्र उत्पन्न विना किये वह संन्यास का अधिकारी नहीं हो सकता है। जो मनुष्य विहित कर्म नहीं करता किन्तु निन्दित कर्म का आचरण करता है, जिसकी सकल इन्द्रियाँ विषय भोग में लिप्त रहतीं हैं वह व्यक्ति पतित हो जाता है। श्रुति में भी कहा गया है कि—'ज्ञात्वा नैष्कर्म्यमाचरेत् सशिखं वपनं कृत्वा वहिः सूत्रं त्यजेद् बुधः' (अर्थात् तत्त्व को जानकर ज्ञानी नैष्कर्म्य आचरण करे एवं शिखासहित मुण्डन कराकर यज्ञोपवीत को त्याग करें)। पुनः 'ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यां चरन्ति (अर्थात् पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा त्याग कर वे भिक्षा चरण करते हैं), 'परं ब्रह्म परिज्ञाय प्रव्रजेत् ब्राह्मणोत्तमः। अन्यथा कर्म कुर्वीत न प्रमाद्येत कर्हिचित्॥ स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परि-कीर्त्तितः। विपरीतस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः॥' (उत्तम ब्राह्मण पर-ब्रह्म को अच्छी तरह से जानकर संन्यास ग्रहण करेंगे। यदि वैसी अवस्था प्राप्त न हो तब कर्म करेंगे, कभी भी प्रमाद के वशीभूत न हो। अपने-अपने अधिकार में निष्ठा को ही गुण कहा जाता है और उसके विपरीत जो कुछ है वही दोष है, शास्त्रकारों ने ऐसा ही निश्चय किया है।

इस प्रकार श्रुति-स्मृति शास्त्रमें अधिकारी के लिए ही संन्यास का विधान किया है, अनधिकारी के लिए नहीं। जो अधिकारी न होकर संन्यास ग्रहण करते हैं वे पतित होते हैं। इस प्रकार ज्ञानयोग तथा कर्मयोग के अधिकारियों में भेद रहने के कारण किसी किसी के लिए ज्ञान तथा किसी किसी के लिए कर्मयोग विहित हुआ है एवं इसी कारण से ज्ञान तथा कर्म में भेद है। इस ज्ञान तथा कर्म का भेद (विभाग) प्रदर्शित करने के लिए एवं चुँकि अनधिकारी पुरुषके लिए कर्म ही चित्तशुद्धि उत्पन्न कर मोक्ष का साधन होता है, अतः इसके लिए कर्म अवश्य कर्तव्य है यह प्रतिपादित करने के

उद्देश्य से तृतीय अध्याय प्रारम्भ किया गया है। इस विषय में पहले 'कर्म में' ही तुम्हारा अधिकार है, फल में कभी भी तुम्हारा अधिकार नहीं है (गीता २।४७) इस प्रकार कह कर भगवान् अर्जुन के लिए कर्म का विधान कर 'हे धनंजय, ज्ञानयोग से कर्मयोग अत्यन्त निकृष्ट है। अतः ज्ञान के शरणापन्न हो' (गीता २।४९) इस प्रकार से ज्ञानयोग का भी विधान किया गया है। इससे (अर्थात् एकबार कर्मयोग का) विधान कर पुनः ज्ञानयोग का विधान करने से अर्जुन का द्विधाग्रस्त मन व्याकुल हो उठा। अर्जुन ने स्वयं 'कर्म अत्यन्त निकृष्ट है' इस वचन का अर्थ ही मन में धारण कर और कर्मयोग की अपेक्षा ज्ञानयोग साक्षात् मोक्ष का साधन है एवं श्रेष्ठतर है ऐसा मानकर प्रश्न किया-ज्यायसी—चेत् इत्यादि। हे **जनार्दन**—"जनं जननं तत्कारणमज्ञानं च स्वसाक्षात्कारेण अर्दयति हिनस्तीति जनार्दनः" अर्थात् जनको (जन्मको) एवं उसके कारणस्वरूप अज्ञान को अपने साक्षात्कार के द्वारा जो अर्दन अर्थात् नष्ट कर देते हैं, वे ही जनार्दन हैं। **कर्मणः**—कर्मयोग से **बुद्धिः**—ज्ञानयोग ही **ज्यायसी चेत्**—यदि श्रेष्ठ **ते मता**—तुम्हारा अभिमत हो तब **किं**—किस कारण **कर्मणि**—'कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है' (गीता २।४७) इत्यादि वाक्य के द्वारा ज्ञान की अपेक्षा निकृष्ट कर्म में **नियोजयसि**—(तुम मुझे) नियुक्त कर रहे हो। ओर वह कर्म भी साधारण कर्म नहीं है। किन्तु **घोरे**—हिंसात्मक कर्म में। इसलिए 'हे भारत, युद्ध करो' (गीता २।१८) इस प्रकार के वाक्य के द्वारा किस कारण मुझे प्रेरित कर रहे हो ? तुम ईश्वर हो—तुम्हारे वाक्य का कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता। मैं तुम्हारा भक्त तथा अनुरक्त हूँ। अतः जो विषय मेरे लिए योग्य है उसे त्याग कराकर अयोग्य विषय में (हिंसात्मक युद्धरूप कर्म में) मुझे किसलिए प्रेरित कर रहे हो ? यही अर्जुन के प्रश्न का आशय है।

(४) **नारायणी टीका**—[तृतीय अध्याय के प्रत्येक श्लोक का तात्पर्य प्रथम अध्याय के परिशिष्ट में (नारायणी टीका) में दिया गया है। इस अध्याय के श्लोकों की व्याख्या उक्त तात्पर्य के साथ मिलाकर पढ़ने से विषय अधिकतर स्पष्ट होगा।]

द्वितीय अध्याय में सांख्यबुद्धि की एवं सांख्यबुद्धि में निष्ठाप्राप्त स्थितप्रज्ञ की भगवान् ने अनेक प्रकार की प्रशंसा की परन्तु अर्जुन को 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है अतः तुम युद्ध करो, गीता २।४७, २।१८) ऐसा कहकर भयंकर युद्ध रूप कर्म में प्रेरित कर रहे हैं। इस प्रकार

एक और ज्ञान की प्रशंसा एवं दूसरी ओर कर्म में प्रेरणा देने का उद्देश्य क्या है, उसे ही जानने के लिए अर्जुन का यह प्रश्न है।

[भगवान् किसी की भी प्रतारणा नहीं करते (धोखा नहीं देते हैं)। अर्जुन तो भगवान् को अतिप्रिय हैं, उसकी प्रतारणा किस प्रकार करेंगे ? तब भी अर्जुन ने किसलिए प्रथम श्लोक में ऐसे प्रश्न किये हैं, वह अभी स्पष्ट करके कहा जा रहा है।]

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

अन्वय—व्यामिश्रेण वाक्येन इव (त्वं) मे बुद्धिं मोहयसि इव। तत् एकं निश्चित्य वद येन अहं श्रेयः आप्नुयाम्।

अनुवाद—तुम मानो उलट पुलट बातों के द्वारा मेरी बुद्धि को विभ्रान्त (भ्रमित) कर रहे हो। अतः ज्ञान ही हो या कर्म ही हो किसमें मेरा अधिकार है वह उपाय निश्चय कर मुझे कहो, ताकि मैं श्रेयः प्राप्त करने में समर्थ हो सकूँ।

भाष्यदीपिका—व्यामिश्रेण वाक्येन इव—व्यामिश्र (उलट पुलट) बातों के द्वारा मानो तुम साक्षात् भगवान् हो, अतः तुमने मुझको जो उपदेश दिया है वह अवश्य ही स्पष्टतया कहा है तथापि मैं मन्दबुद्धि हूँ, इसीलिए मुझे वह मानो व्यामिश्र अर्थात् अस्पष्ट मालूम हो रहा है अर्थात् उसका अर्थ मैं स्पष्ट रूप से धारणा नहीं कर सक रहा हूँ यही "इव" शब्द का तात्पर्य है। [कर्मनिष्ठा तथा ज्ञाननिष्ठा के प्रतिपादक जिन वाक्यों को तुमने कहा है वह मेरी बुद्धि में व्यामिश्र अर्थात् उलट पुलट प्रतीत हो रहा है कि उसका अधिकारी कौन है ? एक ही व्यक्ति अथवा विभिन्न व्यक्ति ? ऐसा संदेह होने के कारण व्यामिश्र की तरह अर्थात् संकीर्णार्थ (मिश्रित या उलट पुलट) मालूम हो रहा है, (मधुसूदन)] (त्वं) मे—(अतः) तुम मेरी अर्थात् मन्द बुद्धि मेरी बुद्धिं मोहयसि इव-बुद्धि को अर्थात् अन्तःकरण को मानो मोहित कर रहे हो अर्थात् विभ्रान्त कर रहे हो। [वस्तुतः तुम मोहित नहीं कर रहे हो, चूँकि तुम परम कारुणिक परमेश्वर हो। मेरी बुद्धि की भ्रान्ति को दूर करने के लिए ही प्रवृत्त होकर तुम वास्तविक रूप से क्यों मेरी बुद्धि को मोहयुक्त करोगे ? इससे यह मालूम होता है कि मेरे अपने अन्तःकरण में दोष रहने के कारण अर्थात् बुद्धि मलिन होने के कारण मोह की

सृष्टि हो रही है। इसी आशय से अर्जुन ने (इव) शब्द का प्रयोग किया है (मधुसूदन)]।

तत्—ज्ञान तथा कर्म परस्पर विरुद्ध होने के कारण ज्ञाननिष्ठा तथा कर्मनिष्ठा का कर्त्ता एक पुरुष नहीं हो सकता। अतः एक ही पुरुष के द्वारा एक ही समय में ज्ञान तथा कर्म का अनुष्ठान असम्भव है ऐसा यदि मानो तब इन दोनों में (ज्ञान तथा कर्म में) जो मेरी बुद्धि, शक्ति तथा अवस्था के अनुरूप है अर्थात् जिसमें मेरा अधिकार या योग्यता है वह एकं—(या ज्ञान नहीं तो कर्म) एक को निश्चित्य—निश्चय कर, वद—मुझे कहो कि दोनों में किसका अवलम्बन करना चाहिए।

[पूर्व श्लोक की व्याख्या में कहा गया है कि ज्ञाननिष्ठा तथा कर्मनिष्ठा इन दो विरुद्ध पदार्थों में समुच्चय नहीं हो सकता अर्थात् एक ही पुरुष के लिए एक ही समय में ज्ञाननिष्ठा तथा कर्मनिष्ठा एक ही साथ होना असम्भव है, पुनः ज्ञान तथा कर्म में, दोनों में एकार्थता न रहने के कारण अर्थात् दोनों के द्वारा एक ही प्रकार के प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती है इसलिए उनमें विकल्प होना असम्भव है, अतः इच्छानुसार कोई भी व्यक्ति ज्ञान तथा कर्म में किसी एक को ग्रहण कर मोक्ष प्राप्त कर सके ऐसा भी नहीं है। अतः यदि ज्ञान तथा कर्म के अधिकारियों में भेद रहे अर्थात् ज्ञाननिष्ठा तथा कर्मनिष्ठा के अधिकारी भिन्न भिन्न रहें तब एक ही व्यक्ति के प्रति [अर्थात् मेरे प्रति, दोनों विरुद्ध निष्ठा का उपदेश देना युक्तियुक्त नहीं मालूम होता। अतः तुम्हारे इस प्रकार के विरुद्ध वचन से मेरी बुद्धि मोह को प्राप्त हो रही है एवं मेरा क्या कर्तव्य है वह निश्चय नहीं कर पा रही है। अतः ज्ञान ही हो अथवा कर्म ही हो किस उपाय में मेरा अधिकार है, निश्चित कर मुझे वैसा करने के लिए कहो। यही कहने का अभिप्राय है (मधुसूदन)]

येन अहं श्रेयः आप्नुयाम्—ज्ञान या कर्म, जिसमें मेरा अधिकार हो उसे कहो एवं कहो कि कौन सा उपाय अवलम्बन करने से मुझे मोक्ष (श्रेयः) की प्राप्ति होगी। भगवान् यदि ज्ञान को कर्मनिष्ठा का अंगस्वरूप मानते (जो मीमांसक लोग मानते हैं) तब 'ज्ञान तथा कर्म में से एक को ही मुझे कहो' इस प्रकार अर्जुन दो उपायों में से एक उपाय को सुनने को इच्छा प्रकट नहीं करते। पुनः भगवान् ने यह भी नहीं कहा है कि मैं तुम्हें ज्ञान तथा कर्म में से एक के ही बारे में कहूँगा, दो के बारे में नहीं कहूँगा, जिससे कि (ज्ञान तथा कर्म की) अर्जुन के लिए दोनों की प्राप्ति सम्भव न होने के कारण उसने एक के ही बारे में सुनने की इच्छा प्रकट की है।

[असल बात यह है कि ज्ञान तथा कर्म का अधिकारी एक ही व्यक्ति यदि न हो (अर्थात् जो ज्ञान का अधिकारी है वह कर्म का अधिकारी नहीं है ऐसा यदि हो तब ज्ञान तथा कर्म में) तो समुच्चय या विकल्प होना सम्भव नहीं है। अतः अधिकारियों के भेद को जानने के लिए ही अर्थात् कौन व्यक्ति ज्ञाननिष्ठा का तथा कौन व्यक्ति कर्मनिष्ठा का अधिकारी है उसे जानने के लिए ही अर्जुन ने ऐसा प्रश्न किया है (मधुसूदन)]

टिप्पणी (१) श्रीधर—द्वितीय अध्याय में भगवान् ने बुद्धि को ज्ञान से श्रेष्ठ बताया (गीता २।४९) किन्तु इसके पहले ही पुनः धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते (गीता २।३१) अर्थात् क्षत्रिय के लिए धर्मयुद्ध के अतिरिक्त और कोई श्रेय नहीं है (मुक्ति प्राप्त करने का कोई साधन नहीं है) इत्यादि वाक्य के द्वारा आश्रमविहित कर्म का भी श्रेष्ठत्व भगवान् ने प्रतिपादन किया। इस प्रकार भगवान् द्वारा कभी कर्म की, कभी ज्ञान की प्रशंसा करने के कारण अर्जुन व्याकुलचित्त होकर कहने लगा। इस प्रकार व्यामिश्रेण इव वाक्येन—मानो व्यामिश्र अर्थात् सन्देहोत्पादक वाक्य के द्वारा मे बुद्धिं मोहयसीव—मेरी बुद्धि को कभी ज्ञान तथा कभी कर्म की ओर ले जाकर मोहित कर रहे हो। तुम तो सभी के सुहृत् तथा परम कारुणिक हो अतः तुम्हारा वाक्य व्यामिश्र नहीं हो सकता और उसमें मोहकत्व भी नहीं रह सकता। इसे ही अर्जुन ने श्लोक में दो वार शब्द के द्वारा प्रकाशित किया तब भी मुझे अपनी भ्रान्ति के कारण ही ऐसा बोध हो रहा है यह कहकर अर्जुन ने भगवान् के पास प्रार्थना की तत् एकं निश्चित्य वद येन श्रेयः अहम् आप्नुयाम्—ज्ञान तथा कर्म में मेरे लिए जो कल्याणकर अर्थात् (मोक्ष का साधक है) यह निश्चय कर कहो जिसके अनुष्ठान के द्वारा मैं श्रेयः प्राप्त कर सकूँ।

(२) शंकरानन्द—पुनः व्यामिश्रेण वाक्येन—एकवार कहा कि 'कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है', पुनः बोले कि 'बुद्धि की शरण लो'। इस प्रकार दूध तथा पानी के मिश्रण की तरह ज्ञान तथा कर्म का समुच्चयबोधक (विशेष रूप से मिश्रित) वाक्य के द्वारा, मे बुद्धिं मोहयसि इव—मानो मेरी बुद्धि को मोहित कर मुझे कर्म में नियुक्त कर रहे हो। मेरे लिए युद्ध करना कर्त्तव्य है या उसको त्याग करना उचित है, ऐसा संशयग्रस्त होकर मैं तुम्हारी शरण आया हूँ। अतः मेरे भ्रम को दूर करने के लिए तुम कृपा करके मुझे उपदेश देने में प्रवृत्त हुए हो, मुझे मोहित करने के लिए नहीं। तब भी मुझ जैसे विवेकरहित जड़बुद्धिसम्पन्न को तुम्हारा वचन व्यामिश्र की तरह

(अर्थात् ज्ञान तथा कर्म के मिश्रणयुक्त वाक्य की तरह) प्रतीत हो रहा है और उस प्रकार के मिश्रित वाक्य के द्वारा तुम मानो मेरी बुद्धि को मोहित कर रहे हो, ऐसा प्रतीत हो रहा है। अवश्य यह मेरी बुद्धि का ही दोष है। अब क्या कर्तव्य है, यह जिज्ञासा करने के लिए अर्जुन कह रहा है—तत् एकम् निश्चित्य वद—ज्ञानयोग तथा कर्मयोग की क्रिया (अनुष्ठान), कारक (कर्त्ता इत्यादि) एवं फल सभी पृथक् है। अतः वे परस्पर विरुद्ध होने के कारण दोनों का कर्त्ता एक नहीं हो सकता। इसलिए मेरी योग्यता तथा अयोग्यता का विचार कर मेरे अधिकार के अनुसार ज्ञान तथा कर्म में 'क्या (मेरे लिए) योग्य है' ऐसा निश्चय करके कहो। येन—ज्ञान तथा कर्म में किसी एक के द्वारा जिससे अहं श्रेयः आप्नुयाम्—मैं साक्षात् अथवा परम्परा क्रम से श्रेयः अर्थात् परमपुरुषार्थ (मोक्ष) प्राप्त कर सकूँ।

(३) नारायणी टीका—भगवान् कभी ज्ञान की तथा कभी कर्म की प्रशंसा करने लगे तब अर्जुन को भगवान् के वाक्य मानो विशेषरूप से मिश्रित वाक्य प्रतीत होने लगे। अतः ज्ञान तथा कर्म में कौन श्रेयस्कर है इसे समझने में असमर्थ होने के कारण अर्जुन चूँकि दोनों ओर डगमगाकर मोहग्रस्त होने लगा इसलिए अर्जुन ने श्रेयः लाभ का (कल्याण मोक्ष प्राप्ति का) योग्य साधन क्या है उसे निर्णय करने के लिए अर्थात् ज्ञान का अधिकारी कौन है एवं कर्म का अधिकारी कौन है उसे निश्चय कर कहने के लिए भगवान् से अनुरोध किया। भगवान् के वाक्य व्यामिश्र वाक्य की तरह प्रतीत होने का यह कारण है कि—(१) तुम मुझे निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन (गीता २।४५) कहकर वैदिक कर्मादि त्याग करने के लिए कह रहे हो पुनः कह रहे हो 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (वेदादि शास्त्र में तुम्हारे लिए विहित कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है—गीता २।४७) (२) तुम 'निर्योगक्षेम आत्मवान् भव' (गीता २।४५) कहकर निवृत्तिमार्ग का उपदेश दे रहे हो पुनः धर्म्याद्धि युद्धात् श्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते (गीता २।३१) कहकर युद्ध में प्रवृत्त कर रहे हो अतः वेद की विधियों का पालन करूँगा या त्याग करूँगा, प्रवृत्तिमार्ग में चलूँ या निवृत्ति मार्ग में चलूँ यह कुछ भी नहीं समझ पा रहा हूँ। अतः मेरी बुद्धि मोहग्रस्त (संशयापन्न) हो रही है यही अर्जुन के कहने का अभिप्राय है।

[अर्जुन के अधिकारी के भेद के विषय में प्रश्न करने पर श्रीभगवान् उस प्रश्न के अनुरूप प्रत्युत्तर दे रहे हैं]

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

अन्वय—श्रीभगवानुवाच—हे अनघ ! अस्मिन् लोके द्विविधा निष्ठा मया पुरा प्रोक्ता, ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।

अनुवाद—श्रीभगवान् ने कहा—वेदरूपधारी मैंने इस लोक में ज्ञान तथा कर्म के भेद के अनुसार दो प्रकार की निष्ठा (स्थिति) पहले ही (अर्थात् सृष्टि के आदि में प्रजा उत्पन्न कर) निर्देश की है, उसमें जो लोग शुद्धान्तःकरण ब्रह्मज्ञानी है उसके लिए ज्ञानयोग के द्वारा एक निष्ठा (स्थिति) और जो लोग चित्तशुद्ध रहित हैं उन कर्माधिकारियों के लिए कर्मयोग के द्वारा दूसरी निष्ठा । स्थिति । ये दो प्रकार की निष्ठा निर्देश की है ।

भाष्यदीपिका—हे अनघ !—हे निष्पाप ! [इस स्थान में अनघ इस प्रकार के सम्बोधन के द्वारा यह सूचित हो रहा है कि अर्जुन भगवान् से ब्रह्मविद्या का उपदेश पाने के योग्य है । (मधुसूदन)] अस्मिन् लोके—इस लोक में अर्थात् शास्त्र के प्रतिपादित कर्म के (वेदादि शास्त्रविहित कर्म उपासना प्रभृति के) अनुष्ठान करने में जिनको अधिकार प्राप्त है ऐसे त्रिवर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) एवं जिन्हें योग्यता के अनुसार ज्ञानयोग अनुष्ठान करने का अधिकार है, उनमें अथवा [इस लोक में शुद्धान्तःकरण तथा अशुद्धान्तःकरण के भेद के अनुसार दो प्रकार के मनुष्यों में (मधुसूदन) ।]

द्विविधा निष्ठा—दो प्रकार की निष्ठा अर्थात् स्थिति [एक ही निष्ठा साध्य साधन के भेद से दो प्रकार की है । यह दो निष्ठा स्वतन्त्र तथा परस्पर से भिन्न नहीं है, इसे सूचित करने के लिए निष्ठा शब्द में एक वचन का प्रयोग किया गया है । वाद में भी "एवं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति" (गीता ५।५) ऐसा भगवान् कहेंगे, (मधुसूदन)] मया—मेरे द्वारा अर्थात् सर्वज्ञ तथा ईश्वर स्वरूप मेरे द्वारा, पुरा–सृष्टि के आदि में [पूर्व अध्याय में (मधुसूदन)] प्रोक्ता—प्र (प्रकृष्ट रूप से) + उक्ता (कहा गया है) अर्थात् स्पष्टरूप से निर्देश किया गया है । सृष्टि के आदि में प्रजाओं की सृष्टिकर उन प्रजाओं का अभ्युदय (जागतिक उन्नति) एवं निःश्रेयस् (मोक्ष) प्राप्ति के साधनरूप वेदार्थ सम्प्रदाय का (अर्थात् वेदविहित

जिन साधन तथा उपायों के द्वारा अभ्युदय तथा निःश्रेयस् की प्राप्ति हो सकती है उन वैदिक कर्मों के अधिकारी [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इत्यादि तीन वर्णों का) मैंने ही आविष्कार किया है। (प्रकट किया है) एवं उन लोगों को वेदार्थ (वेद का तात्पर्य) स्पष्ट रूप से कहा है। यह दो प्रकार की निष्ठा किस प्रकार की है उसे कह रहे हैं—ज्ञानयोगेन सांख्यानाम्-- ज्ञानरूप योग (उपाय) उसके द्वारा सांख्यलोगों का अर्थात् जो लोग आत्मअनात्म के विषय में विवेकज्ञान सम्पन्न हुए हैं, उन लोगों की निष्ठा (स्थिति) के सम्बन्ध में कहा गया है। जिन लोगों ने ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ग्रहण किया है। एवं जो वेदान्त शास्त्र के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान से सम्पन्न होकर आत्मतत्त्व को जानने में समर्थ हुए हैं, जो लोग परमहंस (परमशुद्धान्तःकरण) परिव्राजक (संन्यासी) हैं, उन सब ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं का नाम सांख्य है। उनकी निष्ठा (स्थिति) ज्ञानयोग के द्वारा ही सिद्ध होती है, ऐसा कहा गया है, अथवा "वेदान्तैः सर्वैः सम्यगाख्यायते तात्पर्येन प्रतिपाद्यत इति सांख्यं निर्विशेषं परं ब्रह्म तदेव स्वात्मत्वेन ये विदुस्ते सांख्याः ब्रह्मविदस्तेषां सांख्यानां ब्रह्मज्ञानम्" (शंकरानन्द टीका) अर्थात् सभी वेदान्त के द्वारा सम्यक् प्रकार से प्रकाशित है या तात्पर्य के रूप में (तत्त्वतः) प्रतिपादित हुये हैं। वे सांख्य अर्थात् निर्विशेष परब्रह्म हैं। उन्हें जो लोग अपने आत्मा के रूप में जानते हैं उनको भी सांख्य अर्थात् ब्रह्मज्ञानी कहा जाता है। इस ब्रह्मज्ञानी को ज्ञानयोग के द्वारा ही स्थिति प्राप्ति होती है। इस स्थान में जिसके द्वारा ब्रह्म के साथ युक्त होना सम्भव है, वही योग है, इस प्रकार की व्युत्पत्ति के द्वारा ज्ञानरूप योग-ज्ञानयोग, पुनः कर्मधारय समास के द्वारा ज्ञानयोग शब्द का अर्थ ज्ञान ही (परमार्थ तत्त्व का ज्ञान ही) योग है, ऐसा समझना होगा।)] कर्मयोगेन योगिनाम्— कर्म ही योग है। इस कर्मयोग के द्वारा योगियों की अर्थात् कर्मियों की निष्ठा के बारे में कहा गया है। [चित्तशुद्धि नहीं होने के कारण जिन लोगों ने ज्ञानभूमि में आरोहण नहीं किया है। वे कर्माधिकारी योगी कर्मयोग के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि को प्राप्त होता है। अतः अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा ज्ञानभूमि में आरोहण करने के लिए कर्मयोग में ही निष्ठा (स्थिति) रहना आवश्यक हो जाता है। शास्त्रविहित निष्काम कर्म के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि के साथ योगलाभ सम्भव होता है। इस कारण उस प्रकार के कर्म को ही कर्मयोग कहा जाता है। कर्मयोग शब्द का अर्थ है कर्मरूप योग अर्थात् कर्म ही योग है। (अर्थात् चित्तशुद्धि लाभ का उपाय है) इसलिए भगवान् ने

कहा है—"धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते" अर्थात् धर्म युद्ध के बिना क्षत्रिय को श्रेय लाभ का दूसरा कोई उपाय नहीं है। (मधुसूदन)]।

यदि एक ही पुरुष एक ही पुरुषार्थ प्राप्त करने के लिए ज्ञान तथा कर्म दोनों का अनुष्ठान एक ही समय में करता तो भगवान् का अभिप्राय होता अथवा गीता या वेद से इस बात को जाना जाता तो क्यों भगवान् शरणागत (विनीत) तथा प्रिय अर्जुन को ऐसा उपदेश देते कि ज्ञान तथा कर्म का अनुष्ठान एक ही समय एक ही व्यक्ति के द्वारा होना असम्भव है किन्तु अधिकारी के भेद के अनुसार भिन्न-भिन्न पुरुषों के द्वारा अनुष्ठान किया जा सकता है। [इस कारण से ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय विकल्प होना असम्भव है। किन्तु निष्काम कर्मानुष्ठान करने के कारण जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है उनके सभी कर्मों का संन्यास (त्याग) होने पर ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् ज्ञाननिष्ठा में संन्यासियों का ही अधिकार है। 'निष्काम कर्म' इसलिए कहा गया है कि कामनारूप दोष रहने के कारण कर्म से चित्तशुद्धि नहीं हो सकती है। अतः कामनाहीन होकर कर्मों का अनुष्ठान करने से अन्तःकरण की शुद्धि प्राप्त कर ज्ञाननिष्ठा का अधिकारी हो सकता है, यही अध्याय के अन्त तक विशेष रूप से कहा जायगा। इस कारण से चित्त की शुद्धि तथा अशुद्धि रूप दो प्रकार की अवस्थाओं में भेद रहने के कारण एक तुम्हें ही "एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु" अर्थात् आत्मज्ञान के सम्बन्ध में यह बुद्धि तुम्हें कही गयी है, अब कर्मयोग के सम्बन्ध में ऐसी बुद्धि का अवलम्बन करोगे उसे सुनो, इत्यादि कहकर दो प्रकार की विद्या के बारे में कहा गया है। अतः एक व्यक्ति के पास भूमिका (अवस्था) के भेद के अनुसार ज्ञानयोग तथा कर्मयोग इन दोनों की ही उपयोगिता रहने के कारण इनके अधिकारियों में भेद होने से भी व्यक्ति को दो प्रकार का उपदेश देने से वह व्यर्थ नहीं होता है। इसको सूचित करने के लिए ही "न कर्मणामनारम्भान्नै" (गीता ३।४) श्लोक से मोघं पार्थ स जीवति (गीता ३।१६ तक) इन तेरह श्लोकों में भगवान् कहेंगे कि अशुद्धचित्त व्यक्ति के चित्त की जब तक शुद्धि नहीं होती तब तक कर्म का अनुष्ठान अवश्य कर्तव्य है दूसरे पक्ष में शुद्धचित्त व्यक्ति को कोई कर्म की अपेक्षा नहीं रहती है। यह भी (गीता ३।१७-१८ श्लोक में) स्पष्ट करके कहेंगे। फिर "तस्मादसक्तः" (गीता ३।१९) इत्यादि श्लोक में निर्देश करेंगे कि कर्म साधारणतया संसारबन्धन का हेतु होने पर भी फलाकांक्षारहित होकर अनुष्ठित होने से वह कर्म चित्तशुद्धि तथा

ज्ञानोत्पत्ति का साधन होकर मोक्ष का हेतु होता है (गीता ३।१९-३५) उसके पश्चात् ही "अथ केन" (गीता ३।३६) अर्थात् किसके द्वारा प्रेरित होकर इत्यादि प्रश्न उठाकर उसके उत्तर में अध्याय की समाप्ति तक फिर भगवान् कहेंगे कि कामना रूप दोष रहने के कारण ही काम्यकर्म चित्तशुद्धि उत्पन्न नहीं कर सकता इसलिए अर्जुन को कह रहे हैं कि तुम केवल कामनाशून्य होकर वर्णाश्रमविहित सब कर्म का अनुष्ठान करो तभी अन्तःकरणशुद्धि लाभ कर तुम ज्ञान के अधिकारी होओगे। (मधुसूदन)]

यदि भगवान् का यह अभिप्राय रहे कि ज्ञान तथा कर्म इन दोनों का उपदेश सुनकर अर्जुन स्वयं ही दोनों का (समुच्चितरूप से) अनुष्ठान करते रहेंगे। एवं अर्जुन के अतिरिक्त भिन्न भिन्न पुरुष अधिकार-भेद के अनुसार ज्ञान या कर्म का अनुष्ठान करेंगे तब भगवान् को रागद्वेष आदि से मुक्त एवं अप्रामाणिक मानना पड़ेगा (अर्थात् तब समझना पड़ेगा कि अर्जुन के प्रति भगवान् का विशेष अनुराग है एवं दूसरों के प्रति उस अनुराग का अभाव है। अतः ऐसी विषमता के लिये भगवान् का वाक्य प्रामाणिक नहीं है) परन्तु ऐसा मानना भी सभी प्रकार से अनुचित है क्योंकि तब "समः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्" (गीता १३।२७) इत्यादि वचन के साथ विरोध उपस्थित होगा। इस कारण के लिए किसी भी युक्ति के द्वारा ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय नहीं माना जा सकता है।

और अर्जुन जो (भगवान् के वाक्य के अनुसार) कहें कि कर्म से ज्ञान श्रेष्ठ है यह स्वतः सिद्ध है क्योंकि भगवान् ने अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में उसका निराकरण नहीं किया है। यह भी प्रतीत होता है कि ज्ञाननिष्ठा में अधिकार संन्यासी का ही है यही भगवान् का मत है। क्योंकि दो निष्ठा (कर्मनिष्ठा तथा ज्ञाननिष्ठा) के अधिकारियो में भेद रहने के कारण भिन्न भिन्न पुरुषों के द्वारा अनुष्ठित होता है यह पहले ही कहा गया है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है कि हे निष्पाप ! अर्जुन ! यदि मैं परस्पर निरपेक्ष मोक्ष के साधनरूप कर्मयोग या ज्ञानयोग इन दो निष्ठा के बारे में तुम्हें कहता, तब दोनों में जो अच्छा तथा कल्याणकर है वह मुझे कहो यह प्रश्न संगत होता। किन्तु मैंने वैसा नहीं कहा है। दोनों निष्ठा के द्वारा (कर्म तथा ज्ञान निष्ठा के द्वारा) एक ही ब्रह्मनिष्ठा के बारे में कहा गया है [ज्ञानयोग साक्षात् रूप से मोक्ष का फल देने वाला है इसलिए वह मोक्ष का प्रधान साधन है और कर्मयोग चित्त-

शुद्धि उत्पन्न कर बाद में ज्ञान उत्पन्न कर मोक्ष का साधन होता है इसलिए वह दूसरा मोक्ष का साधन है।] इसलिए ही गौण तथा प्रधान रूप से फलदायक होने के कारण कर्मयोग तथा ज्ञानयोग पृथक् नहीं है। अधिकारी के भेद होने के कारण एक ही निष्ठा का (एक ही ब्रह्मनिष्ठा का) केवल प्रकार का भेद कहा गया है। लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मया इस श्लोक में अर्थात् अधिकारियों में शुद्ध तथा अशुद्ध अन्तःकरण के भेद के कारण द्विविधा (दो प्रकार की) अधिकारी के लिए दो प्रकार की निष्ठा सर्वज्ञ मेरे द्वारा पुरा अर्थात् (पूर्व अध्याय में) स्पष्ट रूप से कही गयी है। "ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्" इत्यादि के द्वारा एक ही निष्ठा के दो प्रकार के उपाय निर्दिष्ट किये गये हैं।

"ज्ञानयोगेन सांख्यानाम्"—जो लोग शुद्धान्तःकरण होकर (तत्त्व ज्ञान प्राप्त कर) ज्ञानभूमि में आरूढ हुए हैं उनके ज्ञान के परिपाक के लिए ध्यान आदि रूप ज्ञानयोग के द्वारा ब्रह्मपरता (ब्रह्मनिष्ठा) प्राप्त करनी होगी, इस "तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः" (गीता २।६१) इत्यादि के द्वारा कहा गया है।

कर्मयोगेन योगिनाम्—किन्तु जो लोग सांख्य भूमि में (ज्ञान भूमि में) आरोहण करने के इच्छुक हैं, कर्मयोगी ऐसे अधिकारी लोग चित्तशुद्धि के द्वारा उस भूमि में आरोहण कर सकते हैं (अर्थात् ब्रह्मनिष्ठा की योग्यता प्राप्त कर सकते हैं) उसी के लिए उसके उपायभूत कर्मयोग निष्ठा के बारे में मैंने कहा है। "धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते" इत्यादि (गीता २।३१) अतः चित्त की शुद्धि तथा अशुद्धि के भेद के कारण एक ही ब्रह्मनिष्ठा के दो प्रकार के उपाय के बारे में कहा गया है—'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु" (गीता २।३९)

(२) **शंकरानन्द**—तुम जो कहे हो वह सत्य है। तुम्हारे ही बुद्धि-दोष के कारण मेरी कही हुई बातों को तुमने नहीं समझा, विद्या, बुद्धि, शक्ति, अवस्था आदि का विचार करने से ही कर्म में तुम्हारा अधिकार दीखता है, संन्यास में नहीं। इसलिए मैंने तुम्हें पहले ही कहा है कि 'कर्म में तुम्हारा अधिकार है' तब भी चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञानसिद्धि के लिए तुम कर्म करो, फल की आशा करके नहीं, इसे सूचित करनेके लिए ही कहा है "बुद्धौ शरण-मन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः" (गीता २।४९) अर्थात् बुद्धि को (ज्ञान की) शरण लो (चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञान लाभ करने के लिए कर्म करो), फल की

कामना कर जो लोग कर्म करते हैं वे लोग कृपण हैं। मैंने यह नहीं कहा है कि कर्म को त्यागकर, बुद्धि का (ज्ञान का) आश्रय लो, और यह भी नहीं कहा है कि ज्ञान तथा कर्म दोनों ही करो। जिस प्रकार राजसूय तथा बृहस्पतिसवादि यज्ञ एक ही कर्ता के द्वारा सम्पादित नहीं किया जा सकता उसी प्रकार ज्ञान तथा कर्म का कर्ता पृथक्-पृथक् होने के कारण एक ही पुरुष द्वारा दोनों का अनुष्ठान सम्भव नहीं है। इसलिए पहले ही कहा गया है कि—'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' अर्थात् सांख्य के सम्बन्ध में इस बुद्धि के बारे में तुम्हें कहा गया है, अब योग के सम्बन्ध में बुद्धि को सुनो। उस विषय के बारे में मैं फिर कह रहा हूँ, उसे सुनो ऐसा भाव प्रगट कर श्री भगवान् कह रहें हैं—

अस्मिन् लोके—इस लोक में स्वधर्मपरायण ब्राह्मण आदि मुमुक्षुओं के लिए, **पुरा**—पूर्वकाल में, **मया**—वेदरूपी सर्वज्ञ एवं सभी धर्मों के उपदेष्टा के द्वारा, **द्विविधा निष्ठा**—दो प्रकार की निष्ठा अर्थात् जिससे शास्त्रीय धर्मों में मिश्रण न हो उसके लिये नियमपूर्वक स्थिति या व्यवस्था, **प्रोक्ता**—कहा गया है (मेरे द्वारा कहा गया है)। वह किस प्रकार का है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—**सांख्यानाम्**—सभी वेदान्तों को जो सम्यक् रूप से ख्यायते अर्थात् तात्पर्य के रूप में प्रतिपादित करते हैं उन्हें सांख्य कहा जाता है। अतः सांख्य शब्द का अर्थ है निर्विशेष परब्रह्म। इस ब्रह्म को जो लोग अपनी आत्मा के रूप में जानते हैं (साक्षात्कार करते हैं) उसे भी सांख्य अर्थात् ब्रह्मज्ञानी कहा जाता है। इस प्रकार यति लोगों को ब्रह्मज्ञानी कहा जाता है।

ज्ञानयोगेन—जिसके द्वारा ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म के साथ युक्त होते हैं उसे योग कहा जाता है। ज्ञान ही योग है (क्योंकि ज्ञान के द्वारा ही वैसा एकीकरण सम्भव है)। इस प्रकार ज्ञानयोग के द्वारा **निष्ठा**—'यह सब दृश्य वस्तु एवं मैं' सब ही ब्रह्म हैं इस प्रकार ब्रह्माकारावृत्ति के द्वारा निष्ठा अर्थात् निश्चल-रूप से स्थिति, **प्रोक्ता**—सदा एक ही नियम के अनुसार कर्त्तव्य के रूप में विहित किया गया है। 'तमेवैकं विजानथ आत्मानमन्या वाचो विमुंचथ' (उस एक आत्मा को ही जानो, अन्य सब बातों का त्याग करो), 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्' (परम अज्ञान से मुक्त होने के लिए आत्मा को ॐ के रूप में ध्यान करो, तुम्हारा कल्याण होगा), 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' (वेदान्त विज्ञान के द्वारा उत्तम रूप से निश्चित विषय सब), 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (यह सब ब्रह्म ही है), 'तज्जलानिति'

शान्त उपासीत' (वह ब्रह्म सृष्टि, प्रलय तथा चेष्टाकारी है—शान्त होकर उनकी उपासना करो) 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः'। नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचां विग्लापनं हि तत्' (धीर ब्राह्मण पुरुष उन्हें जानकर प्रज्ञा अर्थात् ब्रह्मबुद्धि प्राप्त करते हैं, अनेक शब्दों का ध्यान करना उचित नहीं हैं, क्योंकि इससे केवल वाणी का परिश्रम ही होता है इन वाक्यों के द्वारा दूसरी प्रवृत्ति का निषेध कर मुमुक्षु के लिए एकमात्र कर्तव्य ब्रह्मनिष्ठा ही है, यही प्रोक्त अर्थात् विशेष रूप से कहा गया है। **योगिनाम्**—कर्मयोगी गृहस्थों के लिए, **कर्मयोगेन**—जिसके द्वारा अभ्युदय के (वृद्धि के) साथ योग होता है अर्थात् जिसके द्वारा अभ्युदय की प्राप्ति होती है उसे योग कहा जाता है। कर्म ही योग है [क्योंकि कर्म के द्वारा ही अभ्युदय की अर्थात् जागतिक वृद्धि तथा आभ्यन्तरिक वृद्धि की (चित्तशुद्धि की) प्राप्ति होती है]। इस प्रकार कर्मयोग के द्वारा ही **निष्ठा**—नियमपूर्वक स्थिति, **प्रोक्ता**—कही गयी है। 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' (प्रतिदिन संध्यावन्दन करना चाहिये) 'उदिते सूर्ये प्रातर्जुहोति (प्रातः काल में सूर्य उदित होने से हवन करो), 'वसन्ते ब्राह्मणो ह्यग्नीनादधीत' (वसन्त ऋतु में ब्राह्मण अग्नि की आराधना करें), 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' (इस लोक में कर्म करते करते शत वर्षों की आयु की इच्छा करो), 'तस्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः। ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं वद। धर्मं चर। तानि त्वयोपास्यानि" (इसलिए स्वाध्याय अर्थात् वेद आदि पाठ करना चाहिए, ऋत (यज्ञ), स्वाध्याय (जप) तथा प्रवचन करो, सत्य, स्वाध्याय तथा प्रवचन करो, अग्नि की रक्षा करो एवं स्वाध्याय प्रवचन करो; सत्य कहो; धर्म आचरण करो; (हम लोगों में जो शोभनीय चरित्र है उसे करो)—इत्यादि श्रौत तथा स्मार्त कर्मनिष्ठा ही गृहस्थ कर्मियों के लिए कर्त्तव्य के रूप में, **प्रोक्ता**—कही गयी है। इस प्रकार कर्मी गृहस्थों की एवं अकर्मी (कर्मत्यागी) संन्यासियों की दो, निष्ठा (क्रमशः कर्मनिष्ठा एवं ज्ञाननिष्ठा) पृथक्-पृथक् रूप से विभक्त की गयी है।

(३) **नारायणी टीका**—निष्ठा शब्द का तात्पर्य है द्वितीय अध्याय में कही गयी ब्राह्मी स्थिति (गीता २।७२) जिसके द्वारा ब्रह्म निर्वाण (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। परन्तु जिन लोगों की कर्म में रुचि है, जो परमात्मा के साथ युक्त होने को इच्छुक हैं, उन्हें 'योगी' कहा जा सकता है। उनके निष्काम कर्मयोग के द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त कर ज्ञानयोग के द्वारा आत्मनिष्ठा

(आत्मा में निश्चल स्थिति) प्राप्त करना होगा। अतः कर्मयोग निष्ठा (ब्राह्मी स्थिति को) बहिरंग साधन या गौण उपाय है। और जो लोग सांख्य अर्थात् शुद्धान्तःकरण होकर तत्त्वज्ञान प्राप्त कर सर्वकर्म संन्यासी होकर ज्ञानयोग के द्वारा आत्मा में (ब्रह्म में) स्थिति प्राप्त करते हैं। अतः ज्ञानयोग ही ब्राह्मीस्थितिरूप निष्ठा का अंतरंग साधन या मुख्य उपाय है। निष्ठा अर्थात् ब्राह्मी स्थिति एक ही है। इसलिए श्लोक में निष्ठा शब्द एकवचन में प्रयोग किया गया है। साध्य साधन के भेद के अनुसार दो प्रकार की निष्ठा के बारे में कहा गया है। ज्ञानयोग है साध्य और कर्मयोग है ज्ञानयोग का साधन।

पूर्व श्लोक में दो प्रकार की निष्ठा के बारे में सुनकर अर्जुन ने सोचा कि ज्ञान के द्वारा ही जब मोक्ष प्राप्त करना सम्भव है तो भगवान् मुझे बन्धन के कारणस्वरूप घोर युद्धरूप कर्म में क्यों नियुक्त कर रहे हैं। ऐसा सोचकर अर्जुन विपन्न होकर 'मैं कर्म का प्रारम्भ नहीं करूँगा' कहकर संकल्प करने लगे, यह देखकर भगवान् उसके संशय को दूर करने के लिए कह रहे हैं। न कर्मणामित्यादि। अथवा पूर्वश्लोक में जो दो प्रकार की निष्ठा के बारे में कहा गया है। उसका एक ही समय में (दोनों का) अनुष्ठान सम्भव नहीं होने के कारण ज्ञान तथा कर्म परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा न कर मोक्ष का कारण बन सकता है (अर्थात् इनमें किसी एक का अवलम्बन कर मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।) ऐसी शंका हो सकती है। अतः इस संशय को दूर करने के लिए "कर्मनिष्ठा ज्ञाननिष्ठा का हेतु (उपाय) होने के कारण कर्मनिष्ठा परतन्त्ररूप से मोक्ष का कारण होती है—स्वतन्त्ररूप से नहीं। (अर्थात् कर्मनिष्ठा के द्वारा चित्तशुद्धि की प्राप्ति होती है। एवं चित्तशुद्धि होने से ज्ञान की प्राप्ति होती है—ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए कर्मनिष्ठा स्वतंत्रता से मोक्ष की उत्पत्ति नहीं कर सकती) किन्तु ज्ञाननिष्ठा यद्यपि कर्मनिष्ठारूप उपाय के द्वारा ही उदित होती है। तब भी शुद्ध अन्तःकरण में ज्ञाननिष्ठा की उत्पत्ति होने से वह तब स्वतन्त्र-रूप से (अर्थात् कर्म अथवा दूसरे और किसी कारण की अपेक्षा न कर) मोक्ष का कारण होती है, उसे दिखाने के लिए [एवं पहले कर्मनिष्ठा न रहने से जो सिद्धि (मोक्ष) के पथ पर अग्रसर होना असम्भव है। इसे स्पष्ट करने के लिए] भगवान् ने कहा है—

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

अन्वय--पुरुषः कर्मणाम् अनारम्भात् नैष्कर्म्यं अश्नुते (तथा) संन्य-सनात् एव सिद्धिं न च समधिगच्छति ।

अनुवाद—विहित कर्मों का अनुष्ठान न करने से बहिर्मुखी लोग सर्व-कर्म संन्यासरूप नेष्कर्म्य अर्थात् ज्ञानयोग में निष्ठा प्राप्त नहीं कर सकते हैं। पुनः (चित्तशुद्धि के विना) केवल मात्र कर्मत्याग कर संन्यास आश्रम ग्रहण करने से ही सिद्धि की प्राप्ति होना असम्भव है।

भाष्यदीपिका—पुरुषः मुमुक्षु इत्यन्ति कर्मणाम् अनारम्भात्—कर्मों के प्रारम्भ से अर्थात् शास्त्रविहित यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान नहीं करने से यज्ञादि क्रिया इस जन्म में या जन्मान्तर में अनुष्ठित होने से पूर्वजन्म के संचित पापों का नाश हो जाता है। इसलिए ही वह क्रिया चित्तशुद्धि का हेतु हो जाती है। एवं इस कारण ज्ञान की उत्पत्ति के द्वारा ज्ञाननिष्ठा प्राप्ति का कारण हो जाती है। शास्त्र में कहा गया है कि 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः यथा दर्शतल-प्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि' (महा० शान्ति० २४४।८) कर्मों का क्षय होने से पुरुषों में ज्ञान का उदय होता है एवं (ज्ञान का उदय होने से) जैसे ऐनक में अपना मुँह स्पष्ट रूप से दीखता है उसी प्रकार अपनी विमल आत्मा में ही (अंतःकरण में ही) शुद्धचित्त व्यक्ति उस परमात्मा को देख सकते हैं। इसलिए नैष्कर्म्यं न अश्नुते—ज्ञानप्राप्ति के अनुकूल कर्मों का अनुष्ठान न करने से पुरुष नैष्कर्म्य अर्थात् निष्कर्म भाव या कर्मशून्यता अर्थात् ज्ञानयोग के द्वारा निष्ठा (निष्क्रिय आत्मस्वरूप में ही अवस्थिति) प्राप्त नहीं कर सकता है। निष्कर्मणः संन्यासिनः कर्म ज्ञानं नैष्कर्म्यमिति (आनन्दगिरि) अर्थात् सर्व-कर्मत्यागी सन्न्यासियों का कर्म जो ज्ञाननिष्ठा है वही नैष्कर्म्य है। कर्म का प्रारम्भ नहीं करने से नैष्कर्म्यसिद्धि की प्राप्ति नहीं होती है। उस वचन से यही प्रतिपन्न होता है कि कर्म के प्रारम्भ से ही नैष्कर्म्य की प्राप्ति होती है अर्थात् कर्म आरम्भ होने से (निष्काम कर्मयोग के अनुष्ठान से ही) नैष्कर्म्य (अर्थात् ज्ञानयोग में निष्ठा) प्राप्त होती है। कारण के अभाव से कार्य की उत्पत्ति कभी नहीं होती है। अतः ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति के लिए विहित नित्य-नैमित्तिक कर्म का अनुष्ठान ईश्वरार्पण बुद्धि में करना अवश्य कर्त्तव्य है (आत्म-ज्ञान की प्राप्ति ही जीवन का परम पुरुषार्थ है)। निष्कर्मतारूप ज्ञानयोग को प्राप्त करने का उपाय है कर्मयोग। यह श्रुति तथा भगवद्गीता में भी कहा गया है—तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन इत्यादि (बृ० उ० ४।४।२२) अर्थात् वेद का अध्ययन दान, यज्ञ प्रभृति कर्म के द्वारा इस आत्मा को

जानने के लिए ब्राह्मण लोग प्रयत्न करते हैं। इसके द्वारा यह प्रतिपादित होता है कि कर्मयोग ही ज्ञान योग की प्राप्ति का उपाय है। गीता में भी कहा है—

"संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।" (गीता ५।६)
"योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये।" (गीता ५।११)
"यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।" (गीता १८।५)

अर्थात् हे महाबाहो। योग (कर्मयोग) की सिद्धि नहीं होने से संन्यास आश्रम को ग्रहण करना केवल दुःख का हेतु होता है। चित्तशुद्धि के लिए आसक्ति त्याग कर योगी लोग कर्म का अनुष्ठान करते हैं। यज्ञ, दान तथा तपस्या मनीषियों के लिए चित्तशुद्धि की प्राप्ति का उपाय है। कर्मयोग के द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त कर जो ज्ञानयोग की प्राप्ति हो सकती है उसे ये सारे वाक्य प्रतिपादित कर रहें हैं। अब ऐसी शंका हो सकती है कि शास्त्र में जब यह बात है कि "अभयं सर्वभूतेभ्यः दत्त्वा नैष्कर्म्यमाचरेत्" अर्थात् सभी भूत को अभय दान कर नैष्कर्म्य का आचरण करना चाहिए तब तो कर्त्तव्य कर्म त्याग करने से ही नैष्कर्म्य सिद्धि हो सकती है। एवं लोक में भी ऐसा प्रसिद्ध है कि किसी प्रकार का कर्म प्रारम्भ नहीं करने को ही नैष्कर्म कहा जाता है [यथा—"यतो यतो निवर्त्तते ततस्ततो विमुच्यते। निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि" अर्थात् मनुष्य जिन कर्मों से निवृत्त होता है उन उन कर्मों से युक्त होता है। सभी प्रकार के कर्मों से निवृत्त होने से दुःख का लेशमात्र भी नही रहता (आनन्दगिरि)। अतः जो नैष्कर्म्य को प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए कर्मारम्भ की आवश्यकता क्या है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं संन्यसनात् एव सिद्धिं न च समधिगच्छति—ज्ञान के बिना चित्तशुद्धि प्राप्त कर तत्त्वज्ञान का अधिकारी न होकर केवल कर्मों का परित्याग करने से ही (अर्थात् अलसता के कारण अथवा क्लेशबुद्धि रहने के कारण जो व्यक्ति कर्मों को त्याग किये हैं परन्तु जिनकी चित्तशुद्धि न होने के कारण वैराग्य उत्पन्न नही हुआ है। अतः जो ज्ञान प्राप्त करने के अधिकारी नहीं हुए हैं वे यदि केवल मात्र शिखा, यज्ञ एवं सूत्र विहित सर्वकर्म त्याग कर शुष्क संन्यास ग्रहण करें तब उस नाममात्र के संन्यास से सिद्धि अर्थात् नैष्कर्म्य-लक्षणरूप ज्ञानयोग की निष्ठा (एवं उसका फल जो मोक्ष है उसे) मुमुक्षु व्यक्ति सम्यक् रूप से प्राप्त नहीं कर सकते।]

[कर्मानुष्ठान से चित्तशुद्धि की उत्पत्ति होती है, चित्तशुद्धि के विना यथार्थ संन्यास नहीं हो सकता। और यदि उत्सुकतावश यथाकथंचित् (अवैध) संन्यास को ग्रहण किया जाय, तब वह फलपर्यवसायी नहीं होता अर्थात् नैष्कर्म्य या ज्ञाननिष्ठा का रूप नहीं होता है। (मधुसूदन)] निष्काम कर्म के द्वारा चित्तशुद्धि होने से, वेदान्त आदि को सुनने से जो ज्ञान होता है उसके द्वारा ही मुक्ति प्राप्त होती है। श्रुति में भी कहा गया है – "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्" अर्थात् ज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त होती है। श्लोक में 'च' शब्द 'तु' शब्द के अर्थ में (व्यवृत्तार्थ में अर्थात् विलक्षणता के अर्थ में) व्यवहृत किया गया है। केवल कर्मत्याग से प्रकृत संन्यास विलक्षण है, क्योंकि ब्रह्म या आत्मा में आरोपित नामरूप का त्याग होने से ही प्रकृत संन्यास की प्राप्ति होती है। केवल कर्म त्याग करने से संन्यास नहीं होता है, इसे समझाने के लिए 'च' शब्द को 'तु' शब्द के अर्थ में प्रयोग किया गया है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[अतः सम्यक् प्रकार से चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति जब तक न हो तब तक निज निज वर्णाश्रम के अनुकूल कर्मों को करना चाहिए। नहीं तो चित्तशुद्धि के अभाव में ज्ञान की उत्पत्ति कभी भी सम्भव नहीं है। इसलिए कह रहे हैं—**कर्म्मणाम् अनारम्भात्**—वर्णाश्रमोचित कर्मों को नहीं करने से **नैष्कर्म्य—ज्ञानं पुरुषः न अश्नुते**—कोई पुरुष प्राप्त नहीं कर सकता है। यदि कहो कि श्रुति में कहा गया है 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' अर्थात् परिव्राजक लोग इस ब्रह्मलोक को प्राप्त करने की इच्छा करते हैं, अतः संन्यास ही मोक्ष का प्रधान अंग होने के कारण केवल संन्यास के द्वारा ही जब मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है तो कर्म के द्वारा और किस फल की प्राप्ति होगी ? इस प्रकार की आशंका के उत्तर में भगवान् कह रहे हैं—**न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति**—चित्तशुद्धि के बिना अर्थात् चित्तशुद्धि प्राप्त करने के पहले केवल ज्ञानशून्य संन्यास से सिद्धि अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कोई भी नहीं प्राप्त कर सकता है।

(२) शंकरानन्द—अच्छा, ऐसा ही यदि हो तब ज्ञान तथा कर्म एक दूसरे की अपेक्षा न करके ही तो साक्षात् मोक्ष का हेतु हो सकता है ? नहीं, ऐसी युक्ति ठीक नहीं है। क्योंकि 'न कर्मणा न प्रजया' (न तो कर्म के द्वारा और न तो सन्तान आदि के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है) इत्यादि श्रुतिवाक्य के द्वारा कहा गया है कि कर्म के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। पुनः 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' (ज्ञान से ही कैवल्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है) इत्यादि वाक्य के द्वारा यह कहा गया है कि ज्ञान ही साक्षात्रूप से

मोक्ष का साधन है। अतः कर्म मोक्ष का साधन नहीं हो सकता। किन्तु यद्यपि ज्ञान उत्पन्न होने से दूसरे किसी साधन की अपेक्षा न कर ज्ञान स्वयं ही पुरुष को मुक्ति का सुख प्रदान करता है तब भी 'सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः' (अन्तः-करण की शुद्धि होने से निश्चित स्मृति अर्थात् आत्मस्वरूप की स्मृति सम्भव है), इस प्रकार सत्त्वशुद्धि के बिना ज्ञानोदय सम्भव नहीं है, यह भी श्रुतिवाक्य में कहा गया है। 'ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन' (ब्राह्मण लोग यज्ञ, दान इत्यादि के द्वारा तत्त्व को जानना चाहते हैं) इत्यादि श्रुतिवाक्य के द्वारा यही प्रमाणित होता है कि यज्ञ, दान आदि सत्कर्म के बिना अन्तःकरण की शुद्धि नहीं हो सकती । अतः जिस मुमुक्षु में आत्मज्ञान की उत्पत्ति नहीं हुई है, उसकी चित्तशुद्धि के लिए कर्मों को (शास्त्रविहित वर्णाश्रम के अनुकूल कर्मों को) अवश्य करना चाहिए नहीं तो मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती, यही अब कह रहे हैं। कर्मणाम् अनारम्भात्—श्रौत आदि (वेदविहित) नित्य कर्मों का प्रारम्भ अर्थात् आचरण या अनुष्ठान के बिना नैष्कर्म्यं पुरुषः न अश्नुते—पुरुष नैष्कर्म्य प्राप्त नहीं करता है। जहाँ कर्म नहीं है उसे निष्कर्म अर्थात् ब्रह्म कहा जाता है क्योंकि श्रुतियों ने ब्रह्म को ही निष्फल, निष्क्रिय माना है। निष्कर्म के भाव को नैष्कर्म्य कहा जाता है। नैष्कर्म्य (अर्थात् निष्क्रिय ब्रह्मात्मा में अवस्थान करने से जिस मुक्ति की प्राप्ति होती है उसे) पुरुष प्राप्त नहीं करता है क्योंकि जिस उपाय के द्वारा (अर्थात् कर्मानुष्ठान के द्वारा) चित्तशुद्धि प्राप्त कर ब्रह्म में स्थिति प्राप्त करना सम्भव हो, वह उसको नहीं प्राप्त होता है। उपाय रहने से उपेय की सिद्धि होती है। उपायभूत (उपायरूप) कर्म का अनुष्ठान न करने से उपेयभूत तत्त्वज्ञान एवं उस ज्ञान का फल नैष्कर्म्य (अर्थात् ब्राह्मीस्थितिरूप मुक्ति) पुरुष को प्राप्त नहीं होता है। अतः मुमुक्षु को ईश्वरार्पणबुद्धि से नित्य तथा नैमित्तिक कर्म अवश्य करना चाहिए क्योंकि उसके द्वारा ही (चित्तशुद्धि उत्पन्न होकर) तत्त्वज्ञान एवं मोक्ष की सिद्धि होती है। यही कहने का अभिप्राय है। अब शंका है—'न कर्मणा न प्रजया' (न तो कर्म के द्वारा और न तो प्रजा अर्थात् पुत्र आदि के द्वारा मोक्ष की सिद्धि होती है) इत्यादि श्रुतिवाक्य के द्वारा कहा गया है कि कर्म मोक्ष का साधन नहीं है। पुनः 'संन्यासयोगात्' इत्यादि वचन के द्वारा श्रुति कह रही है कि संन्यास ही संन्यासियों के मोक्ष का हेतु है। अतः सभी कर्मों को त्यागकर मेरे लिए तो चुपचाप बैठे रहना ही कर्तव्य है; कर्म मात्र ही बहुक्लेशदायक है—विशेषकर हिंसाप्रधान युद्धरूप कर्म तो कभी भी करना नहीं चाहिए, ऐसा अगर कहूँ ? इसके उत्तर में कहा जा

३

रहा है—न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति—केवल संन्यास के द्वारा अर्थात् मुमुक्षु ब्राह्मण यदि सोचे कि कर्म करने से अधिक क्लेश होगा तथा आलस्य के कारण या आपात वैराग्य के कारण शिखा तथा उपवीत त्याग करके संन्यास (कर्मत्याग) करें तब ये सिद्धि अर्थात् सम्यक् प्रकार से नैष्कर्म्य सिद्धि (विदेह मुक्ति) की प्राप्ति नहीं कर सकते हैं क्योंकि वेदान्त श्रवण से उत्पन्न ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती है, इसे श्रुति ने 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' (ज्ञान से ही कैवल्य की प्राप्ति होती है) ऐसे प्रसिद्ध वचन के द्वारा प्रतिपादित किया है।

शंका—मुक्ति के लिए संन्यास ग्रहण कर अर्थात् सर्वकर्म त्यागकर मैं दहरोपासना, वैश्वानरी उपासना, शिवजी की पूजा अथवा शिवजी का नाम कीर्त्तन करूँगा ऐसा यदि कहूँ ?

समाधान—मुक्ति के लिए दहरोपासना की आवश्यकता नहीं है क्योंकि 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' इत्यादि श्रुति वाक्य से यह पता लगता है कि दहरोपासना में सत्यकामत्व आदि गुण वर्तमान रहते हैं। इस प्रकार गुणविशिष्ट उपासना के द्वारा गुणभाव को प्राप्त करने की सम्भावना रहती है। गुणविशिष्ट पजा की उपासना करने से निर्गुण अर्थात् गुणातीत ब्राह्मीस्थितिरूप मोक्ष किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है ? यही कहने का अभिप्राय है। पुनः वैश्वानरी उपासना भी उचित नहीं है क्योंकि 'स सर्वेषु भूतेष्वन्नमत्ति' (वह सर्वभूतों में अन्न ग्रहण करता है) इत्यादि अर्थबोधक श्रुति के अनुसार वैश्वानरी उपासना के द्वारा सर्वभूतों को आत्मा के रूप में केवल अन्न भक्षण करने के सामर्थ्य रूप फल प्राप्त होगा। शिवजी की उपासना या पूजा भी मोक्ष के लिए उपयोगी नहीं है क्योंकि 'देवो भूत्वा देवानप्येति' (देव होकर देवता को प्राप्त करता है) इत्यादि श्रुति वचन से देवता की उपासना के द्वारा उस देवलोक को प्राप्त करने का ही प्रसंग उपस्थित होगा। शिवजी का नाम कीर्त्तन भी मोक्ष के लिए उचित नहीं है क्योंकि 'नास्ति पातकमहो कलिकाले नामकीर्त्तनपरेषु नरेषु' 'पुण्यं श्रवणकीर्त्तनम्' अर्थात् कलियुग में नामकीर्त्तनपरायण मनुष्य का कोई पातक (पाप) नहीं रहता है, यही नामकीर्त्तन की आश्चर्यजनक महिमा है। 'जिनके नाम को सुनने तथा कीर्त्तन करने से ही पुण्य हो जाता है' इन वचनों से पता चलता है कि नामकीर्त्तन के द्वारा पापक्षय होता है। 'यद् दृश्यं तदसत्' (जो दृश्य है वही असत् अर्थात् मिथ्या है) इत्यादि वाक्य से स्पष्ट होता है कि अव्याकृत से स्थूल पदार्थ तक सब सगुण पदार्थ दृश्य होने के कारण वे सभी ही असत् हैं एवं सभी उपास्य वस्तु सगुण होने के कारण वह

भी असत् हो जाती है। अतः असत् की उपासना के द्वारा जिस फल की प्राप्ति होगी वह असत् ही होगी अर्थात् सगुण की उपासना के द्वारा कभी भी सद्-भावरूप (जो हमेशा रहे ऐसे) फल की प्राप्ति नहीं होगी क्योंकि उपासना के अनुसार ही फल की सिद्धि होती है। श्रुति में भी इसीलिए कहा गया है—'तं यथा यथा उपासते तथैव भवति' (उसकी जिस प्रकार से उपासना की जाती है उसके अनुसार ही फल की प्राप्ति होती है), 'असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत्' (जो ब्रह्म को असत् मानता है, वह असत् ही हो जाता है)। स्मृति में भी कहा गया है—'ये यथा माम्' (गीता ४।११) अर्थात् जो जिस रूप से मेरी उपासना करता है मैं भी उसके उपर उसी रूप से कृपा करता हूँ। पुनः 'असूर्या नाम ते लोकाः 'न चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः' (असूर्या अर्थात् आत्मा को जो लोग नहीं जानते हैं वे लोग अन्धकारयुक्त लोक को प्राप्त करते हैं, यदि यह शरीर रहते ही आत्मा को न जान सको तब अनेक हानियों का सामना करना पड़ेगा।) इस प्रकार श्रुति वाक्य से पता चलता है कि जो लोग आत्मतत्त्व को नहीं जान सकते हैं उन लोगों को महान् अनर्थ की सम्भावना रहती है। पुनः 'अरून्मुखान् यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छम्' (अरून्मुख अर्थात् आत्मज्ञानशून्य संन्यासियों को इन्द्र ने कुत्ता को दिया था।)—इस प्रकार के वाक्य से वेदान्तविमुख संन्यासियों को इन्द्र से भय रहता है, ऐसा सुना जाता है। अतः 'प्रत्यक्तत्त्वविवेकाय संन्यासः सर्वकर्मणाम्। श्रुत्या विधीयते तस्मात्तत्त्यागी पतितो भवेत्॥' (आत्मतत्त्व के विवेक के लिए अर्थात् शुद्धचैतन्य स्वरूप आत्मा को अनात्म वस्तु से पृथक् रूप में अनुभव करने के लिए सभी कर्मों का संन्यास श्रुति के द्वारा विहित किया गया है। इसलिए तत्त्वविवेक न कर जो लोग केवल कर्मत्याग करते हैं वे लोग पतित होते हैं) इस प्रकार के वाक्य से यह प्रतिपन्न होता है कि आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में विवेक के अभाव में संन्यासी का भी पतन हो जाता है। संन्यास भी (कर्म त्याग भी) एक प्रकार का कर्म ही है, अतः संन्यास के द्वारा (अर्थात् केवल कर्मत्याग के द्वारा) मोक्ष प्राप्ति असम्भव हो जाती है। अतः मुमुक्षु संन्यासियों को वेदान्त-श्रवण के द्वारा प्रयत्नपूर्वक ज्ञान सम्पादन करना चाहिए (तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना कर्त्तव्य है), इसे ही सूचित करने के लिए श्रीभगवान् बोले 'न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति'। यहाँ च = तु है। [तत्त्वविवेक के लिए कर्मसंन्यास करने से तत्त्वज्ञान प्राप्त कर मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। किन्तु केवल कर्मसंन्यास अर्थात् केवल कर्मत्याग के द्वारा ही सिद्धि (मोक्ष) की प्राप्ति नहीं होती है। इस अर्थ को समझाने के लिए ही

'च' शब्द का प्रयोग किया गया है] और श्रुति में जो कहा गया है संन्यास-योगात् यतयः शुद्धसत्त्वाः' यहाँ संन्यास शब्द का अर्थ है ब्रह्म में आरोपित नाम तथा रूप को त्याग करना—संन्यास शब्द के द्वारा यहाँ कर्म त्याग को नहीं समझाया जा रहा है क्योंकि 'यतयः' इस पद के द्वारा ही संन्यास की सिद्धि होती है (अर्थात् संन्यास के बिना यति असम्भव है)। [अतः शब्द का अर्थ यदि कर्मत्याग से लिया जाय तब पुनरुक्ति का प्रसंग उपस्थित होगा अतः यह सिद्ध होता है कि यति के (संन्यासी का) संन्यास का फल है वेदान्तश्रवण से उत्पन्न तत्त्वज्ञान (जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है)]।

(३) **नारायणी टीका**-'दानेन' एवं दानविषयक श्रुति तथा स्मृति के शत सहस्र वाक्य के द्वारा यही प्रतिपादित होता है कि यज्ञ, दान आदि सत्कर्मों के बिना अन्तःकरण की शुद्धि सम्भव नहीं है। इसलिए जिस मुमुक्षु व्यक्ति को आत्मज्ञान नहीं हुआ है उसको चित्तशुद्धि के लिए विहित कर्म अवश्य करना चाहिए नहीं तो ज्ञान प्राप्त कर नैष्कर्म्य (अर्थात् सर्वकर्मशून्य होकर निष्क्रिय आत्मस्वरूप में ही निरन्तर स्थिति) प्राप्त करना किसी प्रकार से भी सम्भव नहीं है। यह नैष्कर्म्य अवस्था (ब्राह्मीस्थिति) प्राप्त करना और ब्रह्मनिर्वाण (मोक्ष) प्राप्त करना एक ही बात है।

निष्काम कर्म के द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त होने से ज्ञानलाभ करना सम्भव है एवं उस अवस्था में संन्यास का अधिकार प्राप्त होता है। कर्मयोग के द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त होने से ही ज्ञान एवं ज्ञान का फल ज्ञान-निष्ठा या जीवन्मुक्ति की अवस्था प्राप्त होना सम्भव है। चित्तशुद्धि के पहले ज्ञानहीन संन्यास से (कर्मत्याग से) सिद्धि अर्थात् ज्ञाननिष्ठा या मुक्ति प्राप्त करना असम्भव है। संन्यासी के लिए ज्ञाननिष्ठा (अर्थात् निरन्तर आत्मस्वरूप ब्रह्म में स्थिति) के अतिरिक्त दूसरा कोई कर्म नहीं है। और यदि कहा जाय कि संन्यास ग्रहण कर (सभी विहित कर्म त्याग कर) संन्यासी किसी इष्ट देवता की उपासना करके भी तो सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त कर सकते हैं। इसके उत्तर में कहा जायेगा कि अशुद्धचित्त व्यक्ति के चित्त में कामवासना रहने के कारण वह विक्षिप्त रहता है। अतः दीर्घकाल तक किसी देवता के ध्यान में उस प्रकार के व्यक्ति के लिए चित्त को स्थिर रखना सम्भव नहीं। इसके अलावे आत्मा से भिन्न अन्य सब उपास्य वस्तु सगुण होती हैं। सगुण उपासना भी संन्यासी का कर्म नहीं है क्योंकि गुणातीत आत्मस्वरूप में स्थिति प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करना ही प्रकृत संन्यास का एकमात्र लक्ष्य है। श्रुति में भी कहा गया है कि 'तं यथा यथोपासते तथैव भवति' अर्थात् परमात्मा की जिस रूप में जो

उपासना करते हैं, वे वैसे ही हो जाते हैं। अतः गुणयुक्त किसी वस्तु की उपासना करने से निर्गुण ब्रह्म में स्थिति प्राप्त करना असम्भव है।

पुनः शास्त्र में कहा है "अरून् मुखान् यतीन् शुलावृकेभ्यः प्रायच्छम्" अर्थात् अरुन्मुख (आत्मज्ञानशून्य) संन्यासियों को इन्द्र ने कुत्ता को दिया था [अर्थात् वे लोग कुत्ते का भोजन हुए थे]।

इसलिए वेदान्तश्रवणजनित आत्मतत्त्वज्ञान ही प्रकृत संन्यास का फल है एवं उस तत्त्वज्ञान से जिस परम पुरुषार्थ या मोक्ष की प्राप्ति होती है उसे ही यहाँ सिद्धि शब्द के द्वारा कहा गया है। कहने का अभिप्राय यह है कि शास्त्रविहित कर्मों के द्वारा जिन लोगों को चित्तशुद्धि नहीं प्राप्त होती है ऐसे मन्दबुद्धि रागद्वेषादियुक्त व्यक्ति आत्मानात्मविवेक के अभाव से नैष्कर्म्य अर्थात् सभी इन्द्रियों के व्यापार से शून्य होकर ज्ञाननिष्ठा (निरन्तर आत्म-स्थिति या ब्राह्मीस्थिति) प्राप्त नहीं कर सकते हैं। अतः कर्मानुष्ठान के द्वारा चित्तशुद्धि उत्पन्न होने के पहले संन्यास ग्रहण करने से अर्थात् सर्वकर्म का त्याग करने से कभी भी मोक्षरूप सिद्धि की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

[किस कारण से ज्ञानरहित होकर केवलमात्र कर्मत्याग के द्वारा नैष्कर्म्य लक्षणरूप सिद्धि की प्राप्ति नहीं हो सकती, वही अब कहा जा रहा है।]

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

अन्वय—कश्चित् जातु क्षणम् अपि अकर्मकृत् न हि तिष्ठति। हि सर्वः हि अवशः (सन्) प्रकृतिजैः गुणैः कर्म कार्यते।

अनुवाद—कोई भी व्यक्ति, किसी समय एक क्षण के लिए भी विना कर्म किये नहीं रह सकता है क्योंकि (चित्तशुद्धिविहीन) सभी प्राणी ही प्रकृति या स्वभावजात गुण के द्वारा विवश होकर कार्य में प्रवृत्त होते हैं।

भाष्यदीपिका—कश्चित्—कोई भी व्यक्ति अर्थात् जिसे कर्म के द्वारा चित्तशुद्धि नहीं प्राप्त हुई है ऐसे अजितेन्द्रिय बहिर्मुखी जो कोई व्यक्ति, जातु—कभी भी, क्षणमपि—एक क्षण के लिए भी, अकर्मकृत्—कर्मविहीन न हि तिष्ठति—अवस्थान नहीं कर सकते हैं। [चित्त की शुद्धि न होने से काम-वासना या रागद्वेष अवश्य रहेगा एवं चित्त भी विक्षिप्त रहेगा। चित्त की चंचलता रहने के कारण किसी व्यक्ति के लिए अविचलित या शान्त

रूप से रहना असम्भव है। वह लौकिक या वैदिक किसी भी प्रकार के कर्म करने में अवश्य ही सर्वदा व्यग्र होकर रहेगा। सुषुप्ति के बिना जाग्रत् या स्वप्नअवस्था में सर्वदा ही शरीर, मन अथवा वाणी अथवा इन्द्रियों के द्वारा वह कुछ न कुछ करता रहेगा ही—कभी भी प्रशान्त (चुप-चाप) नहीं रह सकता है। (इसे सभी प्रत्यक्ष रूप से देख सकते हैं। इसलिए इसकी प्रसिद्धि प्रकाश करने के लिए श्लोक के पहले वाक्य में 'हि' शब्द का व्यवहार किया गया है।) अशुद्धचित्त व्यक्ति को संन्यास सम्भव नहीं है, यही इस श्लोक का तात्पर्य है।] हि—चूँकि, सर्वः—चित्तशुद्धिविहीन मूर्ख सभी प्राणी ही (मधुसूदन) अवशः (सन्)—अवश अर्थात् इच्छा न रहने से अस्वतन्त्र होकर ही प्रकृतिजैः—प्रकृति से उत्पन्न गुणैः—सत्त्व, रज तथा तमोगुण के द्वारा कर्म कार्यते—लौकिक तथा वैदिक कर्म में प्रवृत्त होते हैं अर्थात् कर्म करने के लिए बाध्य होते हैं। [अशुद्धचित्त व्यक्ति प्रकृतिजात गुण के वशीभूत होकर अस्वतन्त्र रूप से सभी कर्म करने के लिए बाध्य होता है तब उसका कर्मसंन्यास होना असम्भव है। (अतः बाह्य कर्मों को त्याग करने की इच्छा रहने पर भी) वैसे उस प्रकार संन्यास से ज्ञाननिष्ठा प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता है। (मधुसूदन)]। [प्रकृतिजैः गुणैः—इस वाक्यांश का ऐसा अर्थ हो सकता है—(क) प्रकृतिजैः—(अपने-अपने स्वभावजात, गुणैः—रागद्वेष आदि गुणों के द्वारा (मधुसूदन) अथवा (ख) प्रकृतिजैः—सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका प्रकृति, उससे उत्पन्न। गुणैः—अर्थात् द्रव्यवासना, गुणवासना, कर्मवासना, जातिवासना एवं रागद्वेष आदि के द्वारा। (शंकरानन्द)] "सर्वः" शब्द का अर्थ "समस्त अज्ञ प्राणी" है। यह इसलिए है क्योंकि बाद में श्रीभगवान् कहेंगे "गुणैर्यो न विचाल्यते" (गीता १४।२३) अर्थात् जो व्यक्ति गुण के द्वारा विचलित नहीं होते हैं, वे ही ज्ञानी हैं। इस प्रकार की उक्ति के द्वारा अज्ञानी से सांख्य या ज्ञानियों का पृथक् रूप से निर्देश किया गया है। इसलिए यह समझना पड़ेगा कि जिन लोगों में ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हुई है वे लोग ही प्रकृति के गुणों के वशीभूत होकर (अर्थात् उनके स्वभावजात रागद्वेष के द्वारा चालित होकर) सर्वदा ही किसी न किसी कर्म में व्यस्त रहते हैं। इसलिए इस प्रकार के अज्ञानी व्यक्तियों की चित्तशुद्धि के लिए निष्काम कर्मयोग का अनुष्ठान अवश्य कर्त्तव्य है। किन्तु ज्ञानी के लिये कार्य करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि ज्ञानी व्यक्ति रागद्वेषहीन होने के कारण गुणों के (सत्त्व, रजः तथा तम गुणों के) वशीभूत होकर परिचालित नहीं होते हैं एवं सर्वदा ही आत्म-

स्वरूप में स्थित रहते है (गीता १४।२३)। अतः ज्ञानी में स्वतः क्रिया का अभाव रहने के कारण ज्ञानी को कर्मयोग की आवश्यकता नहीं रहती है। पहले "वेदाविनाशिनम्" (गीता २।२१) इत्यादि श्लोक में भी इसी प्रकार की व्याख्या की गई है। [बात यह है कि, जबतक चित्तशुद्धि न प्राप्त हो तब तक अज्ञानी को कर्मयोग में ही अधिकार रहता है, कर्मसंन्यास या कर्मत्याग में नहीं, क्योंकि कर्म न कर वह थोड़ी देर के लिए भी नहीं रह सकता है। केवल हाथ-पाँव इत्यादि के क्रियात्मक व्यापार को त्याग करने से ही कर्मत्याग नहीं होता है, बल्कि वह मिथ्याचार होता है (गीता ३।६)। शुद्धान्तःकरण ज्ञानी में ही कर्तृत्वबुद्धि त्याग करने की क्षमता रहती है (मैं कर्म का कर्ता हूँ ऐसा अभिमान नहीं रहता है) वही प्रकृत त्याग या संन्यास है। अज्ञ व्यक्ति प्रकृति के वश में आकर स्वयं को कर्त्ता मानकर कर्म किया करता है (गीता३।२७) किन्तु ज्ञानी प्रकृति से उत्पन्न गुण ही प्रकृति से उत्पन्न गुण का कार्य कर रहे हैं ऐसा निश्चय कर (गीता ३।२८) प्रकृति के गुण के द्वारा चालित नहीं होते हैं। इस कारण से कर्मत्याग करना ज्ञानी के लिए ही सम्भव है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[श्रीधरस्वामी की व्याख्या भाष्यकार से भिन्न प्रकार की है।] कर्मसंन्यास का अर्थ है कर्म में अनासक्ति, स्वरूपतः कर्मत्याग नहीं क्योंकि वैसा कर्मत्याग असाध्य है। इसीलिए भगवान् कह रहे हैं—कश्चित् जातु क्षणमपि—कभी भी किसी अवस्था में ही क्षण मात्र के लिए भी ज्ञानी या अज्ञानी जो कोई भी क्यों न हो अकर्मकृत् न हि तिष्ठति—कर्म न करके नहीं रह सकते हैं। उसका कारण है प्रकृतिजैः गुणैः—स्वभाव से उत्पन्न रागद्वेष आदि गुणों के द्वारा अवशः—पराधीन होकर, सर्वः—सभी लोग, कर्म कार्यते—कर्म करने के लिए प्रवृत्त अर्थात् बाध्य होते हैं। [ज्ञानी जानते हैं कि आत्मा अकर्ता है इसलिए वे आत्मस्वरूप में स्थित रह कर मन के द्वारा सभी कर्मों का त्याग करते हैं। गीता में भी कहा गया है "सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी" (गीता ५।१३) ज्ञानी की दृष्टि से उन्हें किसी कर्म की आवश्यकता नहीं रहती है एवं वे कुछ नहीं करते हैं। भाष्यकार ने ज्ञानी की इस दृष्टि का अवलम्बन करके व्याख्या की है। किन्तु ज्ञानी के देह—इन्द्रिय आदि को प्रारब्ध के कारण कार्य में व्यस्त देख कर अज्ञानी लोग ज्ञानी को कर्म करते हुए देखते हैं। इस अज्ञानी की दृष्टि को अवलम्बन करते ही श्रीधर स्वामी बोले कि ज्ञानी हो या अज्ञानी, कोई भी क्षणमात्र कर्म न करके नहीं रह सकता है। इसलिए इन दो प्रकार की व्याख्या में श्लोक के तात्पर्य के सम्बन्ध में कोई विरोध नहीं हुआ है।]

(२) शंकरानंद—और जो तुम कहो कि मैं सभी कर्मों का त्याग कर चुपचाप बैठा रहूँगा, वह भी उचित नहीं है क्योंकि संस्कार से जिस प्रवृत्ति की क्रिया उत्पन्न होती है उसे त्याग करना असम्भव है। जिनकी चित्तवृत्ति का एक मात्र अवलम्बन ब्रह्म ही है वैसे ब्रह्मनिष्ठ पुरुष के विना किसी के लिए भी चुप होकर बैठे रहना सम्भव नहीं है। इसे ही श्रीभगवान् अब कह रहे हैं—

कश्चित्—इस लोक में जो कोई भी प्राणी हो, जातु—कभी भी, क्षणम् अपि—एक क्षण या आधा क्षण भी अकर्मकृत्—कोई कर्म न करके, न हि तिष्ठति—रहने में समर्थ नहीं होते हैं। किन्तु सुषुप्ति अवस्था के विना जाग्रत् तथा स्वप्न में सर्वदा ही शरीर के द्वारा, मन के द्वारा अथवा वाणी के द्वारा अथवा नेत्र के द्वारा कुछ न कुछ करते ही रहते हैं अर्थात् किसी समय में भी चुपचाप नहीं रह सकते हैं। यही कहने का अभिप्राय है। यही सभी को प्रत्यक्षसिद्ध है। इसकी प्रसिद्धि को समझाने के लिए श्लोक में 'हि' शब्द का प्रयोग किया गया है। अब प्रश्न है किस कारण से चुपचाप नहीं रह सकते हैं। इसके उत्तर में कह रहे हैं—हि—जिस कारण से, सर्वः—सभी प्राणी, प्रकृतिजैः गुणैः—सत्त्व-रज-तमो गुण से उत्पन्न गुणों के द्वारा अर्थात् द्रव्यवासना, गुणवासना, कर्मवासना, जातिवासना एवं रागद्वेष आदि के द्वारा (अन्तर से प्रेरित होकर) अवशः—(सन्) अवश अर्थात् पराधीन होकर कार्यते—कार्यमें—वाहर तथा अन्दर के अनेक प्रकार के कर्म करने के लिए वाध्य होते हैं। श्रेष्ठ ब्रह्मवित् पुरुष के विना सभी प्राणी वासना-रूप प्रवृत्ति के वशीभूत होते हैं। अतः वे कोई भी लोग चुपचाप नहीं रह सकते हैं। ब्रह्मवित् पुरुष के निर्विकल्प समाधिरूप अग्नि के द्वारा प्रकृति के गुण एवं प्रकृति के कार्य, रुई की तरह दग्ध (नष्ट) हो जाने से मेरु पर्वत जिस प्रकार वायु के द्वारा विचलित नहीं होता है उस प्रकार वे भी गुणों के द्वारा विचलित नहीं होते हैं किन्तु निष्क्रिय ब्रह्मात्मरूप में चुपचाप ही स्थित रहते हैं। गीता में भी कहा गया है 'उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते' (गीता १४।२३) (अर्थात् उदासीन की तरह अवस्थित रह कर गुणों के द्वारा चालित नहीं होते हैं)। अतः एकमात्र श्रेष्ठ ब्रह्मवित् पुरुष ही चुपचाप रह सकते हैं। ब्रह्मवित् के अलावे दूसरे किसी के लिए भी वैसा रहना सम्भव नहीं है, यही श्लोक का तात्पर्य है।

(३) नारायणी टीका—प्रथम अध्याय के परिशिष्ट में 'तृतीय अध्याय के तात्पर्य में' ३।५ श्लोक की व्याख्या द्रष्टव्य है।

[जिनमें आत्मज्ञान की उत्पत्ति नहीं हुई है वैसा व्यक्ति अर्थात् अशुद्ध चित्त वाले व्यक्ति यदि आलस्य या क्लेश के कारण विहित कर्मों को त्याग कर केवल संन्यास धर्म अवलम्बन करें तब वह असत् ही होता है अर्थात् उसके लिए वह कल्याणकर नहीं होता है क्योंकि संन्यास का फल उसे नहीं मिल सकता। बल्कि उसका अकल्याण ही हो जाता है। यही अब कहा जा रहा है।]

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

अन्वय—यः विमूढात्मा कर्मेन्द्रियाणि संयम्य मनसा इन्द्रियार्थान् स्मरन् आस्ते सः मिथ्याचारः उच्यते ।

अनुवाद—जो विमूढ़चित्त व्यक्ति बाह्यकर्मेन्द्रियों को विषयों के उपभोग से विरत रखकर मन के द्वारा इन्द्रियभोग्य विषय समूहों को सर्वदा स्मरण करता है उसे मिथ्याचारी अर्थात् पापाचारी कहा जाता है।

भाष्यदीपिका—यः—जो विमूढात्मा (विमूढान्तःकरण) अर्थात् राग (आसक्ति) तथा द्वेष प्रभृति के द्वारा विशेष रूप से मोहग्रस्त हुआ है जिसका चित्त, वैसा व्यक्ति कर्मेन्द्रियाणि—वाक्, पाणि (हाथ), पैर, मलद्वार, लिंग इन पाँच कर्मों के उपयोगी इन्द्रियों को संयम्य—संयत (नियमित) कर अर्थात् इन बहिरिन्द्रिय के द्वारा कोई कर्म न करके मनसा—मन के द्वारा [रागद्वेष प्रभृति के द्वारा वशीभूत एवं चालित मन के द्वारा] इन्द्रियार्थान्—इन्द्रियों के अर्थात् आँख, कान, नासिका, जिह्वा तथा त्वचा इन ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य अर्थ (विषय) सब अर्थात् शब्द, स्पर्श रूप, रस, तथा गन्ध आदि विषयों को स्मरन् आस्ते—चिन्ता करते रहते हैं। अर्थात् वाह्य दृष्टि में विषयों को आहरण करने का प्रयत्न छोड़कर निश्चेष्ट रूप से बैठे रहने से भी मन में विषय की ही चिन्ता करते हैं [किन्तु चित्त की अशुद्धि के कारण आत्म-तत्त्व का ध्यान या स्मरण नहीं कर सकते हैं। 'मैंने संन्यास का अवलम्बन किया है' ऐसे अभिमान के कारण एवं लोकलज्जा के भय से केवल कर्मशून्य होकर अवस्थान करने से भी विषय में आसक्ति के कारण विषय को परित्याग नहीं कर सकते हैं (मधुसूदन)] सः—वैसा व्यक्ति मिथ्याचारः उच्यते—शिष्ट पुरुष के द्वारा पापाचारी (आत्मवंचक) कहलाता है। [चित्तशुद्धि न होने के कारण संन्यास की फलस्वरूप जो योगनिष्ठा है उसकी प्राप्ति नहीं

होती है। फिर कर्म का अधिकारी होकर भी कर्म का अनुष्ठान नहीं कर रहा है ऐसा मिथ्याचारी व्यक्ति उभयभ्रष्ट होता है। धर्मशास्त्र में कहा गया है "त्वंपदार्थविवेकाय संन्यासः सर्वकर्मणाम्। श्रुत्येह विहितो यस्मात् तत्त्यागी पतितो भवेत्" अर्थात् 'त्वं' पद के अर्थ के विवेक के (आत्मस्वरूप के विशेष ज्ञान के) लिए ही श्रुति ने सभी कर्मों का त्याग कर संन्यास ग्रहण करने का विधान किया है। उसके लिए अधिकारी न होकर यदि कोई व्यक्ति विना कारण ही कर्म का त्याग करे तब वह व्यक्ति पतित हो जाता है। अतः श्रवण, मनन, निदिध्यासन के लिए जो लोग संन्यास ग्रहण कर श्रवणादि न कर केवल वेष के द्वारा जीविका निर्वाह करते हैं एवं 'मैं यति हूँ—मैं संन्यासी हूँ अतः मैं कृतार्थ हुआ हूँ' ऐसा मानते हैं, तब भी वे मिथ्याचारी हैं। बात यह है कि कर्म के मूल में काम तथा संकल्प रहता है। यह काम तथा संकल्प जबतक रहता है तबतक कर्मयोग का अनुष्ठान करना चाहिए। इसके पहले कर्मत्याग करने से ही 'मिथ्याचार' होना पड़ेगा। अतः अशुद्ध-चित्त व्यक्ति केवल बाह्य संन्यास के द्वारा जो सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकते उसे ही युक्ति के द्वारा यहाँ सिद्ध किया गया है। इसलिए योगवाशिष्ठ में कहा गया है—

'न कर्माणि त्यजेद् योगी कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ।
कर्मणो मूलभूतस्य संकल्पस्यैव नाशतः॥

अर्थात् बुद्धिमान् योगी स्वयं कर्मत्याग नहीं करते हैं, जब कर्म का मूलभूत (अर्थात् मूल कारण) काम तथा संकल्प का नाश होता है तब कर्म उस विरक्त पुरुष को अपने से ही छोड़कर चला जाता है। ऐसा संन्यास जो विषय के वैराग्य से स्वतः ही उत्पन्न है वही प्रकृत संन्यास है। इस प्रकार कर्मत्याग के द्वारा ही ज्ञाननिष्ठा एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार संन्यास स्वयं उपस्थित होने के पहले कर्मत्याग करने से इहलोक तथा परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं, यही कहने का अभिप्राय है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[इसलिए अज्ञ कर्मत्यागी की निन्दा कर रहे हैं–] कर्मेन्द्रियाणि—वाक्, पाणि इत्यादि कर्मेन्द्रियाँ, संयम्य—संयत कर, मनसा इन्द्रियार्थान् स्मरन्—भगवान् के ध्यान के छल से मन के द्वारा इन्द्रिय का अर्थ अर्थात् विषयों को स्मरण कर यः आस्ते—जो रहता है, सः—वह, मिथ्याचारः उच्यते—कपटाचार तथा दाम्भिक कहा जाता है। [मन में विषयों के प्रति आसक्ति रखकर बाहर से कर्मत्याग करना दाम्भिकता के

अलावा कुछ भी नहीं है।] मन अशुद्ध रहने के कारण चुपचाप बैठे रहने से भी आत्मा में कर्मत्यागी को स्थिरता की प्राप्ति नहीं होती है। पुनः उस शुद्धचित्त के अभाव के कारण ही कर्म से उपरत रहकर भी मन में सर्वदा विषयों की चिन्ता ही रहती है। अतः वैसा कर्मसंन्यास मिथ्याचार (कपटता) के अलावा और कुछ भी नहीं है।

(२) शंकरानन्द—सभी कर्मों को त्याग कर हाथ, पैर इत्यादि इन्द्रियों को रुद्ध कर (रोककर) बाहर में स्थाणु की तरह चुपचाप निश्चल होकर रहना तो दूसरे पुरुषों के लिए भी सम्भव है उसके उत्तर में कह रहे हैं वही बन्धन तथा मोक्ष का स्वरूप एवं अपना अधिकार न जानकर जो अज्ञानी व्यक्ति निष्फल एवं अधिक कष्टदायक कर्म करके क्या होगा इस प्रकार दुष्ट अहंकार से मुक्ति के साधनरूप समस्त वैदिक कर्मों को त्याग कर चुपचाप बैठे रहते हैं वे दम्भाचारी अर्थात् दुराचारी ही होते हैं। इसे ही अब श्रीभगवान् कह रहे हैं—

यः विमूढात्मा—क्या करना चाहिए एवं क्या नहीं करना चाहिए इस विषय में जिसकी आत्मा (मन) विवेकरहित है उसे विमूढ़ात्मा कहा जाता है जो पुरुष विमूढ़-अन्तःकरण होकर कर्मेन्द्रियाणि संयम्य—अपना कर्त्तव्य तथा मुक्ति के साधन वैदिक कर्मों को परित्याग कर बाहर से कर्मेन्द्रियों का संयम कर (रुद्धकर) अर्थात् आँख बन्द कर अन्दर में, इन्द्रियार्थान्—इन्द्रियों के विषय शब्द आदि को मनसा स्मरन्—मन से स्मरण अर्थात् चिन्तन करते हुए आस्ते—बैठे रहते हैं अर्थात् मैं ब्रह्मज्ञानी हूँ क्योंकि कर्मों को त्याग कर मैं कृतार्थ हूँ ऐसा सोचता है सः मिथ्याचारः उच्यते—वह मिथ्याचारी है एवं शिष्ट पुरुषों द्वारा आत्मप्रवंचक कहलाते हैं। श्रीभगवान् के इस वाक्य से यह भी सूचित किया गया है कि वेदान्त-वाक्य को सुनने के लिए अथवा दूसरे किसी कारण से संन्यास ग्रहण कर श्रवणादि न कर जो यति केवल संन्यास के वेष के द्वारा जीविका निर्वाह करता है एवं संन्यास लेकर मैं कृतार्थ हुआ हूँ ऐसा सोचता है तो वह यति भी मिथ्याचारी हो जाता है।

(३) नारायणी टीका—[३।७ श्लोक की टीका में स्पष्ट किया गया है]

[अतः अज्ञानी पुरुष को विहित कर्म परित्याग न कर चित्त शुद्धि के लिए निष्काम रूप से शास्त्रविहित कर्मों को करना चाहिए।]

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

अन्वय—हे अर्जुन ! यः तु इन्द्रियाणि मनसा नियम्य असक्तः (सन्) कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगम् आरभते सः विशिष्यते ।

अनुवाद—हे अर्जुन, जो व्यक्ति मन के द्वारा ज्ञानेन्द्रियों को नियमित कर (अर्थात् विषयों से अपने को संयत कर) अनासक्तः रहकर (अर्थात् किसी फल की अभिसन्धि न रखकर) कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्मयोग (अर्थात् चित्तशुद्धि के विहित कर्मों को ईश्वरार्पण बुद्धि से) करता रहता है वह व्यक्ति ही श्रेष्ठ माना जाता है ।

भाष्यदीपिका—हे अर्जुन, तुम तो शुद्धबुद्धि हो । तुम्हारे लिए पूर्वश्लोक में कहा गया मिथ्याचार या कपट मात्र अवलम्बन करना (अर्थात् चित्तशुद्धि प्राप्त करने के पहले ही स्वधर्मरूप युद्ध परित्याग कर संन्यास ग्रहण करना) किसी प्रकार भी शोभनीय नहीं है । [इसे सूचित करने के लिए अर्जुन को (शुद्धबुद्धि) कहकर भगवान् ने सम्बोधित किया है ।]

यः तु—किन्तु जिसका कर्म में ही अधिकार है ऐसा अज्ञ व्यक्ति [शुद्ध अन्तः करण वाले संन्यासियों से विलक्षणता (भेद)] दिखाने के लिए 'तु' शब्द का प्रयोग किया गया है । अतः 'यस्तु' शब्द का अर्थ है वह अज्ञ व्यक्ति जो शुद्ध अन्तःकरणवाले संन्यासियों से भिन्न है तथा चित्तशुद्धि के लिये जिसको कर्मयोग की आवश्यकता है अथवा 'तु' शब्द को पहले श्लोक में कहा गया मिथ्याचारी कर्मत्यागी संन्यासी से कर्मयोगी का श्रेष्ठत्व दिखाने के लिए प्रयोग किया गया है । **इन्द्रियाणि**—इन्द्रियों को अर्थात् चक्षुः, कर्ण इत्यादि ज्ञानेन्द्रियों को **मनसा नियम्य**—मन के द्वारा नियमित कर [अर्थात् ताकि वे इन्द्रियाँ पाप के हेतुस्वरूप शब्द आदि विषयों में लिप्त होकर रागद्वेषरूपादि दोषों में दोषयुक्त न हो उसके लिए उन विषयों से श्रोत्रादि इन्द्रियों को विवेकयुक्त मन के द्वारा संयत या निवृत्त कर (मधुसूदन)] **असक्तः (सन्)** स्वयं फल की अभिसन्धि से रहित होकर अर्थात् फल की इच्छा न कर, **कर्मेन्द्रियैः**— वाक् , पाणि प्रभृति पाँच कर्मेन्द्रियों के द्वारा **कर्मयोगम्**— अपने अपने आश्रम के अनुकूल जो समस्त श्रौत (वैदिक) या स्मार्त्त कर्मों को चित्तशुद्धि के लिए विहित किया गया है वे कर्म, **आरभते**—ईश्वरार्पणबुद्धि से श्रद्धा के साथ आरम्भ करते हैं अर्थात् अनुष्ठान करते हैं **सः**—वह विवेकी

पुरुष मिथ्याचारी अज्ञानी कर्मत्यागी से विशिष्यते—विशिष्ट अर्थात् श्रेष्ठ माने जाते हैं। [मिथ्याचारी व्यक्ति तथा विवेकी व्यक्ति का परिश्रम बराबर होने से भी मिथ्याचारी के मनमें विषयों के प्रति आसक्ति रहती है किन्तु विहित कर्मों को त्याग करने के लिए उस में कभी भी चित्तशुद्धि प्राप्त कर तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करने की सम्भावना नहीं रहती है अर्थात् मिथ्याचारी सभी पुरुषार्थों से भ्रष्ट (शून्य) होता है किन्तु विवेकी व्यक्ति निष्काम कर्मयोग अवलम्बन कर चित्तशुद्धि के द्वारा परम पुरुषार्थ (मोक्ष) प्राप्त कर सकते हैं इसलिए वे श्रेष्ठ कहे जा सकते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि जब तक अज्ञान की अवस्था रहती है तब तक कर्म त्याग न कर आसक्तिहीन होकर कर्मयोग का अनुष्ठान करना ही प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है। अन्दर से विषयों के प्रति आसक्ति (विषयवासना, रागद्वेष) रखकर बाहर से कर्मेन्द्रियों का व्यापार बन्द रखने से (अर्थात् बाह्यकर्म न करने से) वह मिथ्या-चारी हो जाता है किन्तु भीतर से ज्ञानेन्द्रियों को नियमित कर बाहर से विहित कर्मों का अनुष्ठान, फलाकांक्षारहित होकर ईश्वरार्पणबुद्धि से करने से चित्तशुद्धि प्राप्त होती है एवं ज्ञानोत्पत्ति के द्वारा अन्त में मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है. यही हैं दोनों भेद]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[पूर्व श्लोक में कहा गया है कि कर्मत्यागी से कर्मकर्त्ता ही श्रेष्ठ हैं इसे ही अब कह रहे हैं] यस्तु—मिथ्याचार से विपरीत कर्मकर्ता ज्ञानेन्द्रियाणि मनसा नियम्य—आँख, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों को मन के द्वारा नियमित कर (वशीभूत कर) ईश्वरपरायण कर [अर्थात् आँख, कान, नासिका, जिह्वा तथा त्वचा के द्वारा जो कुछ ग्रहण किया जाता है वह सभी ईश्वर को अर्पण कर अथवा शब्द आदि विषयों के रूप में एकमात्र ईश्वर ही विद्यमान है ऐसी बुद्धि को] असक्तः—फलाकांक्षारहित होकर कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगम् आरभते—वाक्, पाणि प्रभृति कर्मेन्द्रियों के द्वारा कर्मयोग (कर्मरूप योग अर्थात् उपाय) आरम्भ करते हैं (अनुष्ठान करते हैं) सः विशिष्यते—वह व्यक्ति विशिष्ट (श्रेष्ठ) कहे जाते हैं क्योंकि कर्म के द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त कर वे तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। [अनासक्ति या कर्मफल को त्याग करना ही प्रकृत कर्मयोग है; वही संन्यास की प्रथम अवस्था है। जिस संन्यास के द्वारा ज्ञाननिष्ठा प्राप्त कर ज्ञानी व्यक्ति संसार से मुक्त हो जाते हैं। निष्काम कर्मयोग ही उस प्रकृत संन्यास का साधन या उपाय है। योग शब्द का अर्थ है उपाय। जो कर्म तत्त्वज्ञान का उपाय या साधन है उसे कर्मयोग कहा जाता है।]

(२) शंकरानन्द—अनात्मज्ञ मुमुक्षु के लिए कर्म संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग ही श्रेष्ठ है यह अब कहा जा रहा है।

यः तु—जो किन्तु, यहाँ 'तु' शब्द का व्यावृत्त के अर्थ में प्रयोग किया गया है अर्थात् पूर्व श्लोक में कहा गया मिथ्याचारी से इस श्लोक में जिसके बारे में कहा गया है उनकी श्रेष्ठता (भेद) प्रतिपादन करने के लिए 'तु' शब्द का व्यवहार किया गया है। जो कोई अनात्मज्ञ मुमुक्षु कर्मत्याग न करके ही इन्द्रियाणि मनसा नियम्य—आँख इत्यादि इन्द्रियाँ ताकि राग द्वेष आदि दोषों को विषय नहीं कर सकते हैं इसलिए इन्द्रियों को मन के द्वारा (अंतर में) नियत (संयत) रखकर असक्तः (सन्)—स्वयं अनासक्त होकर अर्थात् फल प्राप्ति के लिए (विषयभोग के) संकल्प से रहित होकर केवल ईश्वरार्पणबुद्धि से कर्मेन्द्रियैः—वाणी प्रभृति कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्मयोगम्—श्रौत तथा स्मार्त कर्मयोग, आरभते—आरम्भ करते हैं अर्थात् श्रद्धापूर्वक चित्तशुद्धि के लिए कर्म करते हैं, सः विशिष्यते—वे श्रेष्ठ माने जाते हैं अर्थात् मोक्ष के साधन कर्मयोग में उनकी निष्ठा रहने के कारण वह कर्मयोगी पूर्वोक्त दाम्भिक कर्मसंन्यासी की अपेक्षा श्रेष्ठ कहे जाते हैं—यही कहने का अभिप्राय है।

(३) नारायणी टीका—हाथ, पैर इत्यादि कर्मेन्द्रियों को कर्म से निवृत्तकर मन से जो पुरुष शब्द आदि विषयों का चिन्तन करते हैं अर्थात् बाहर के लोगों के पास 'मैं संन्यासी हूँ' ऐसा अभिमान कर एकान्त में ध्यान का बहाना कर कर्मशून्य होकर चुपचाप बैठे रहते हैं, तथा मन में सोचते हैं कि भक्तलोग मुझे अच्छी-अच्छी चीजें दें, ऐसे पुरुषों को कर्म-संन्यास के द्वारा किसी पारमार्थिक वस्तु की प्राप्ति तो होती ही नहीं, बल्कि वे लोग मिथ्याचारी अर्थात् कपट एवं प्रवंचक बन जाते हैं। एक ओर कर्म-संन्यास के नाम से दूसरों का प्रवंचन करना और दूसरी ओर कर्त्तव्य कर्मों को नहीं करने के कारण चित्तशुद्धि तथा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति से वंचित रहकर अपने को भी ऐसा कर्मत्यागी प्रतारित ही करता है। इस कारण से वे केवल मिथ्याचारी विशेषरूप से मूढता (विवेक-हीनता) प्राप्त होने के लिए उन्हें विमूढात्मा भी कहा जा सकता है। क्योंकि क्या करने से उन लोगों का यथार्थ कल्याण होगा तथा जो कुछ वे लोग कर रहें हैं उससे उन लोगों का अकल्याण ही होगा इसे उन लोगों की विवेकबुद्धि धारण नहीं कर सकती।

ऐसे मिथ्याचारी, कर्मत्यागी या दुष्ट संन्यासी की अपेक्षा जो लोग श्रोत्रादि (चक्षुः कर्ण प्रभृति) ज्ञानेन्द्रियों को शब्द आदि विषयों के प्रति

अनासक्त होकर उन इन्द्रियों को नियमित रूप से अर्थात् विवेकयुक्त मन से ईश्वरपरायण कर, एवं किसी प्रकार की फल की आकांक्षा न कर हाथ, पैर इत्यादि कर्मेन्द्रियों के द्वारा कर्मयोग का अनुष्ठान करते हैं, वे लोग उन मिथ्याचारी कर्मत्यागियों से श्रेष्ठ हैं। [श्रवण आदि इन्द्रियों का शब्द आदि विषयों के प्रति स्वाभाविक राग (आसक्ति) एवं द्वेष रहता है (गीता ३।३४) किन्तु इन्द्रियों के द्वारा विषयों को यदि अपने अहंकार की तृप्ति के लिए ग्रहण न कर इन्द्रिय तथा विषय के संयोग के साथ-साथ विषयों को ईश्वर में ही अर्पित किया जाय एवं इस प्रकार से इन्द्रियों के सभी कर्मों में ईश्वर ही एकमात्र उपास्य रहता है तथा इन्द्रियाँ ईश्वरपरायण होकर संयत होती हैं अर्थात् रागद्वेषों से मुक्त हो जाती हैं अतः कर्मयोग कर्मेन्द्रियों के द्वारा अनुष्ठित होते रहने से भी निष्काम कर्मयोगी क्रमशः चित्तशुद्धि तथा तत्त्वज्ञान प्राप्त कर मोक्ष के भागी हो सकते हैं। इसलिए पूर्व श्लोक में कहे गये कर्मत्यागी से ऐसा कर्मयोगी विशिष्ट (श्रेष्ठ) है, इसे स्वीकार करना ही पड़ेगा। [इस कारण से योगवाशिष्ठ में कहा गया है—जो ज्ञानेन्द्रिय से विमुक्त हुए हैं वे कर्मेन्द्रिय में आबद्ध रहने से भी विमुक्त हैं, और जो ज्ञानेन्द्रिय में आबद्ध हैं वे कर्मेन्द्रियों से विमुक्त होने पर भी उन्हें बद्ध जानोगे। योगवाशिष्ठ स्थिति प्रकरण १५ अध्याय)]

[पूर्व श्लोक में जो कारण निर्दिष्ट हुआ है उस कारण के लिये मुमुक्षु को सिद्धि प्राप्त करने के लिए (अर्थात् ज्ञाननिष्ठा प्राप्त करने के लिए) एवं मिथ्याचारत्व निवारण करने के लिए, अवश्य कर्म करना चाहिए, यह कहा जा रहा है।]

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः॥ ८॥

अन्वय—त्वं नियतं कर्म कुरु। हि अकर्मणः कर्म ज्यायः। अकर्मणः ते शरीरयात्रा अपि च न प्रसिध्येत्।

अनुवाद—तुम नियत अर्थात् अवश्यकर्त्तव्य नित्य तथा नैमित्तिक कर्म करते रहो। कर्म नहीं करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेयस्कर है। पुनः देखो, तुम यदि कर्म न करो तब (केवल जो तुम्हारी चित्तशुद्धि नहीं होगी, यह बात नहीं) तुम्हारी शरीरयात्रा भी (जीविकानिर्वाह भी) सिद्ध नहीं हो सकेगी।

भाष्यदीपिका—त्वं—तुम अर्जुन अर्थात् जो तुम अब भी कर्मयोग का अवलम्बन कर सम्यक् प्रकार से अन्तःकरण की शुद्धि प्राप्त नहीं कर सके हो वह तुम नियतं कर्म कुरु—जिस कर्म का फल श्रुति में विशेषरूप से निर्दिष्ट नहीं किया गया है अर्थात् दर्शपूर्णमासादि काम्य कर्म के द्वारा जिस प्रकार स्वर्गादिप्राप्तिरूप के बारे में श्रुति में कहा गया है उस प्रकार जिन कर्मों का विशेष कोई फल शास्त्र के द्वारा निर्दिष्ट नहीं है परन्तु जो कर्म उस कर्म के अधिकारी के लिए अवश्यकर्त्तव्य ऐसा शास्त्र द्वारा विहित किया गया है वह श्रौत या स्मार्त्त नित्यकर्म या नैमित्तिक कर्म ही (संध्यावन्दनादि अग्निहोत्रादि कर्म ही) उस व्यक्ति के लिए नियत कर्म है। जो युद्धादि कर्म क्षत्रिय राजाओं के लिए शास्त्र में नित्यकर्म के रूप से विहित हैं उसे तुम ईश्वरार्पणबुद्धि से कर्त्तृत्वाभिमान तथा फलाकांक्षा का त्याग करके करो—यही कहने का अभिप्राय है। निष्काम भाव से शास्त्रविहित नित्य कर्मों को नहीं करने से चित्त पाप या मलिनता से मुक्त होकर शुद्धि प्राप्त नहीं कर सकता है। इसलिए भगवान् नियत कर्म करने का उपदेश दे रहे हैं। अशुद्ध अन्तःकरण वाले व्यक्ति के लिए और भी किन कारणों से निष्कामरूप से शास्त्रविहित कर्मों को करना चाहिए वह अब कहा जा रहा है—हि—चूँकि, अकर्मणः—अकर्म की अपेक्षा अर्थात् बाहर की कर्मेन्द्रियों को व्यापारहीन रखकर कुछ नहीं करने की अपेक्षा कर्म ज्यायः—कर्म ही अधिकतर श्रेष्ठ है। क्योंकि विहित कर्मों का अनुष्ठान करने से अधिकतर फल (अर्थात् चित्तशुद्धि) की प्राप्ति होगी। केवल यही नहीं—

शरीरयात्रा अपि च—तुम्हारे कर्महीन होने से अर्थात् युद्धादिकर्म न करने से तुम्हारी शरीरयात्रा भी (शरीर स्थिति भी) न प्रसिध्येत्—प्रसिद्ध अर्थात् प्रकृष्टरूप से सिद्ध नहीं हो सकेगी। [युद्ध आदि कर्म नहीं करने से तुम्हारी जीवनयात्रा धर्म के अनुसार नहीं होगी। अतः स्वधर्म से विच्युत होने के कारण तुम्हारे शरीर की स्थिति अति हेय प्रतिपन्न होगी। इस कारण से कर्म करना एवं न करने से जो विशेषता (वैलक्षण्य) है वह इस लोक में (संसार में) सभी लोगों को ही प्रत्यक्ष होवी है। क्षत्रियवृत्ति का अवलम्बन कर जीवनयापन करना ही क्षत्रिय की प्रकृष्ट वृत्ति है। क्योंकि यदि युद्धभूमि त्यागकर भिक्षावृत्ति अवलम्बन कर जीवनयात्रा निर्वाह करना चाहो, तब वह क्षत्रिय के लिए अत्यन्त अशोभनीय होगा। (मधुसूदन)]। दूसरा जब तक चित्तशुद्धि प्राप्त कर तत्त्वज्ञान प्राप्त न कर सको तब तक शरीर के प्रति सम्पूर्ण उदासीन नहीं हो सकोगे। अतः पूर्ण वैराग्य के अभाव के कारण अन्तर में (मन में) विषयों की चिन्ता चलती रहती है

(गीता ३।६) एवं बाहर से शरीररक्षा के लिए भी तुम्हारी चेष्टा रहेगी। जो देहात्मबुद्धि तुम्हारी प्रकृत आत्मा को आवृत कर अनादि काल से तुम्हें जन्म-मृत्यु के क्लेशपूर्ण चक्र में भ्रमण करा रही है उस देह की रक्षा करने के लिए यदि सर्वदा चेष्टा करो और अन्य सब कर्त्तव्य कर्म (शास्त्रविहित युद्ध आदि कर्म) को त्याग कर अपनी आत्मा का उद्धार करने के लिए कर्म न करो तो उससे बढ़कर मूढता और क्या हो सकती है? अतः शास्त्रविहित स्वधर्म के अनुकूल युद्ध आदि कर्मों को फलाकांक्षा रहित होकर, ईश्वरार्पण-बुद्धि से चित्तशुद्धि प्राप्त कर, आत्मतत्त्वज्ञान प्राप्त कर आत्मा का दुःख-सागर से उद्धार करो। तब यह जो महामूल्यवान् मनुष्य शरीर है, उसकी यात्रा अर्थात् मोक्ष की ओर उसकी यात्रा (गमन या गति) प्रसिद्ध होगी अर्थात् प्रकृष्टरूप से सिद्धि प्राप्त कर सकोगे। पुनः बाह्य शरीरयात्रा भी (अर्थात् निर्वाह या स्थिति भी) धर्मशास्त्र तथा शिष्टलोगों के आचरण के अनुकूल होने के कारण प्रसिद्ध हो सकेगी। यही "प्रसिद्ध्येत्" शब्द का तात्पर्य है।] [श्लोक में 'अपि च' शब्द का तात्पर्य यह है कि कर्मों के त्याग से तुम्हारी शरीरयात्रा, निर्वाह करना भी असम्भव होगा। तथा शास्त्र-विहित कर्मों को त्याग करने से तुम्हारी चित्तशुद्धि लाभ करना भी असम्भव होगा (मधुसूदन)।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[चित्तशुद्धि के लिए कर्म करना ही अच्छा है यह कहकर उपसंहार कर रहे हैं।] नियतं कर्म कुरु—[जब कर्म करने के सिवा दूसरा उपाय ही नहीं तब] नियत अर्थात् शास्त्रविहित नित्यकर्म उपासना इत्यादि करो। हि अकर्मणः कर्म ज्यायः—चूँकि कर्म नहीं करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है, अकर्मणः ते शरीरयात्रा अपि न प्रसिध्येत्—सभी कर्मों से शून्य होने से अर्थात् कर्म नहीं करने से शरीरयात्रा का भी ठीक से निर्वाह नहीं होगा अर्थात् जीवन का पालन [श्रीधरस्वामी ने कर्म शब्द का अर्थ 'सर्वकर्म' से लगाया है एवं भाष्यदीपिका के अकर्मणः कर्म उपाय इस वाक्य में कर्म शब्द का अर्थ है विहितकर्म। क्योंकि जीवित अवस्था में कोई भी सारे कर्मों का त्याग नहीं कर सकता है, इसे पूर्ववर्ती ५ वें श्लोक में ही कहा गया है।]

(२) शंकरानन्द—नैष्कर्म्यसिद्धि के लिए एवं मिथ्याचारत्व आदि की निवृत्ति के लिए मुमुक्षु को अवश्य कर्म करना चाहिए इसे सूचित करने के लिए कह रहे हैं।

हि—जिस कारण से अकर्मणः—जिससे पुरुषों के कर्म का बन्धन न हो उसे अकर्म अर्थात् कर्मसंन्यास कहा जाता है इस अकर्म से कर्म ज्यायः—कर्म श्रेष्ठ है अर्थात् मूढ़ व्यक्ति के द्वारा कर्मत्याग की अपेक्षा विवेकी पुरुष के द्वारा मोक्ष के साधन के रूप में किया गया कर्म ही अधिक श्रेष्ठ है। यद्यपि 'संन्यास एवाऽत्यरेचयत्' (संन्यास ही सर्वोत्तम है) इत्यादि श्रुति ने संन्यास को ही सभी वस्तु से उत्कृष्टतम बताया है तब भी 'योग्यप्रयुक्तं साधनं कार्यसाधकम्' (योग्य व्यक्ति के द्वारा प्रयुक्त साधन कार्य का साधक होता है) इस नियम के अनुसार 'मैं कर्म नहीं करता हूँ' ऐसा अभिमानी मूढ़तम पुरुष के द्वारा कृतसंन्यास (कर्मत्याग) की अपेक्षा 'मैं परमेश्वर की आराधना कर संसार से उत्तीर्ण हो जाऊँगा' इस प्रकार निरभिमानी मुमुक्षु के लिए ईश्वरार्पण-बुद्धि से अनुष्ठित कर्म ही श्रेष्ठ हैं, ऐसा उपचार रूप से (गौण रूप से) कहा गया है। ऐसा कहने से प्रकृत संन्यास के सम्बन्ध में किसी प्रकार का दोष आरोपित नहीं किया गया है। किन्तु विद्वत् संन्यास तथा विविदिषासंन्यास से विलक्षण केवल कर्मत्यागरूप संन्यास किसी स्वस्थ पुरुष को नहीं करना चाहिए, आलसी इसे ही यहाँ कहा जा रहा है क्योंकि इस प्रकार के संन्यास की कोई विधि शास्त्र में नहीं है। (यदि आत्मतत्त्व को न जानकर एवं आत्म-तत्त्व जानने की इच्छा न जानकर) कोई नितान्त मूढ़ व्यक्ति कर्मसंन्यास अर्थात् कर्मत्याग करता है तब उसको चार प्रकार के अनर्थ अवश्य होंगे—(१) विहित कर्म न करने के कारण प्रत्यवाय (पाप) होता है; (२) उस पाप के फलस्वरूप नरकपात; (३) पुनर्जन्म में दुष्टयोनि की प्राप्ति एवं (४) मोक्षाभाव। और यदि विहित कर्म का अनुष्ठान करें तब किसी प्रकार का प्रत्यवाय न होने के कारण क्रमशः ईश्वरप्रसाद, चित्तशुद्धि, ज्ञान एवं अन्त में मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होता है। अतः चूँकि कर्मत्याग की अपेक्षा कर्म का अनुष्ठान करने से अधिक फल की प्राप्ति होती है अतः त्वं नियतं कर्म कुरु—तुम नियत कर्म करो अर्थात् विधियुक्त (शास्त्रविहित) अथवा नित्य या नैमित्तिक कर्म को ईश्वर की प्रीति के लिए एवं चित्तशुद्धि के लिए केवल परलोक के लिए ही (स्वर्ग आदि की प्राप्ति के लिए ही) कर्म करना होगा ऐसी कोई युक्ति नहीं है। इह लोक के लिए भी कर्म करना चाहिए क्योंकि, अकर्मणः—देह को निश्चल कर स्थाणु की तरह चुपचाप अवस्थान करने को अकर्म कहा जाता है अतः अकर्म शब्द का अर्थ है कर्मसंन्यास, इस प्रकार अकर्म होने से अर्थात् अन्त में कर्म का परित्याग करने से ते—तुम्हारी, शरीरयात्रा अपि—शरीरयात्रा भी, न प्रसिध्येत्—प्र (सुखपूर्वक अर्थात्

अनायास ही) सिद्ध नहीं होगी। बृहत् प्रस्तर की तरह गुहा में जो चुपचाप बैठे रहते हैं उनके लिए शरीर के अनुकूल किसी न किसी व्यापार के बिना शरीर यात्रा निर्वाह करना सम्भव नहीं है। अतः शरीरयात्रा के लिए भी कर्म करना ही कर्त्तव्य है। और यदि कहो कि जितने ही कर्म के द्वारा शरीर की रक्षा की जाय उतना ही कर्म करूँगा उससे अधिक नहीं तब भी तुम अत्यन्त मूढ़ हो एवं संन्यास के अयोग्य माने जाओगे क्योंकि अपने से भिन्न अनात्म देह की ही रक्षा करने की इच्छा कर रहे हो किन्तु अपनी आत्मा की रक्षा करने की इच्छा नहीं कर रहे हो। तुम्हारी यह आत्मा जन्म-मरण के प्रवाह के कारण पतित होकर बार बार संसार सागर में डूब रही है और पुनः सागर से उठ रही है एवं इस प्रकार से निरन्तर दुःख के द्वारा क्लेश को प्राप्त कर रही है। तुम इस आत्मा की रक्षा न कर शत्रुरूपी अनात्मदेह की रक्षा के लिए प्रयत्न कर रहे हो। अतः शरीर की रक्षा के लिए अत्यन्त आस्था के साथ जिस प्रकार कर्म करते हो उसी प्रकार दुरभिमान त्याग कर अर्थात् देहात्मबुद्धि त्याग कर अत्यन्त आस्था के साथ (श्रद्धा के साथ) अपने परिश्रम के अनुकूल शास्त्रविहित कर्मों को करके, उसके द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त करने के बाद अपरोक्षलक्षण आत्मज्ञान को सम्पादित कर (आत्मसाक्षात्कार कर) अपने आत्मा का दुःखसागर से उद्धार करो। गीता में बाद में श्रीभगवान् कहेंगे 'उद्धरेदात्मनाऽत्मानम्' अर्थात् आत्मा का आत्मा के द्वारा उद्धार करो। इस वाक्य के द्वारा यही स्पष्ट होता है कि आत्मा के मोक्ष के लिए ही तुम्हें कर्म करना चाहिए दूसरे किसी प्रयोजन की सिद्धि क लिए कभी भी कर्म नहीं करना चाहिए।

(३) **नारायणी टीका** – चूँकि अज्ञान की अवस्था में कोई एक क्षण भी कर्म के बिना नहीं रह सकता है अतः कर्मत्याग की बात न कर नियत कर्म अर्थात् जिस कर्म को तुम्हारे वर्णाश्रम के अनुसार शास्त्र द्वारा विहित किया गया है (जैसे कि क्षत्रिय का कर्म राज्य की रक्षा तथा प्रजा के पालन के लिए युद्ध करना) उसे करो। मनुष्य की जीवन-यात्रा तीन प्रकार से प्रसिद्ध है। (क) जिसका जैसा नियत कर्म है, (शास्त्र के द्वारा नियमित या विहित कर्म) उसका अनुष्ठान करने से, न्यायानुसार उपार्जित धन के द्वारा आहार संग्रह कर देवयज्ञ, अतिथिसेवा इत्यादि पञ्चमहायज्ञों को पूर्ण कर जो कुछ अवशिष्ट रहता है उसके द्वारा शरीरयात्रा निर्वाह करने से सभी पापों से मुक्त होकर चित्तशुद्धि द्वारा ज्ञान प्राप्त करने से (गीता

४।३१ द्रष्टव्य)। शास्त्र के अनुसार शरीरयात्रा निर्वाह करने के लिए कर्म करना आवश्यक है। (ख) यदि शरीरयात्रा का निर्वाह करना शिष्ट लोगों के आचरण के अनुकूल हो तब इहलोक में कीर्त्ति की प्राप्ति होती है कारण साधारण लोग उनको आदर्श के रूप में मानते हैं एवं इस कारण उसका शरीर धारण करना भी सफल हो जाता है। क्षत्रिय को संन्यास का अधिकार नहीं है। अतः भिक्षा के द्वारा शरीरयात्रा निर्वाह करना क्षत्रिय के लिए शिष्टाचार के विरुद्ध है एवं शास्त्र के द्वारा मना किये गये इस प्रकार के भिक्षान्न के द्वारा पुष्ट जीवन कभी भी समाज में प्रशंसित नहीं हो सकता। (ग) दुर्लभ मनुष्य-जीवन का परम पुरुषार्थ है मोक्ष की प्राप्ति। इस मोक्ष की प्राप्ति के लिए ही अर्थात् परमानन्द की प्राप्ति के लिए ही अनादि काल से जीव की शरीरयात्रा (गति) चल रही है। ब्राह्मीस्थिति या ज्ञान-निष्ठा प्राप्त करने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। एवं जो जीवित अवस्था में ही उसे प्राप्त करने में समर्थ होते हैं उनकी शरीर (जीवन) यात्रा ही सफल है। अर्थात् प्रकृष्ट रूप से (पूर्णरूप से) उन्हें सिद्धि (कृतकृत्यता) प्राप्त हो गई है, ऐसा समझना पड़ेगा। किन्तु अनादिकाल से कर्म से उत्पन्न संस्कार चित्त को शुद्ध रखकर (विषयों में अनासक्त कर) तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के पथ में प्रतिबन्धक बन जाते हैं। जिसके लिए शास्त्र में जैसा कर्म निश्चित किया गया है उसे ही भगवान् की प्रीति के लिए यज्ञ के रूप में करने से अज्ञान से उत्पन्न विषयसंस्कार नष्ट हो जाते हैं। एवं भगवत्संबंधी संस्कार जाग्रत होकर उसके साथ साथ चित्त की शुद्धि होती रहती है। चित्तशुद्धि होने से ज्ञान की प्राप्ति होती है एवं अन्त में ज्ञाननिष्ठा के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने से शरीरयात्रा प्रसिद्ध अर्थात् सम्यक् प्रकार से सिद्ध हो जाती है। किन्तु निष्काम भाव से कर्त्तव्यकर्म अनुष्ठान नहीं करके उक्त क्रम से (अर्थात् चित्तशुद्धि, ज्ञानप्राप्ति इत्यादि क्रम से) मोक्ष की प्राप्ति करना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। अतः जब तक तत्त्वज्ञान प्राप्त न हो तब तक कर्मत्याग की अपेक्षा नियत कर्म (शास्त्रविहित कर्त्तव्य कर्म) भगवदर्पणबुद्धि द्वारा निष्काम रूप से करना ही श्रेष्ठ है।

[किन्तु शास्त्र में कहा गया है 'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते' अर्थात् कर्म के द्वारा जीव को बन्धन प्राप्त होता है एवं विद्या या ज्ञान के द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है। मुमुक्षु व्यक्ति बन्धन त्याग करना चाहता है। किन्तु कर्म करने से ही जब बन्धन होता है तब उसके लिए कर्म अनुष्ठेय नहीं है।

यह बात अर्जुन के मन में उठ सकती है, ऐसी आशंका कर भगवान् कह रहे हैं कि 'यदि तुम मानो कि कर्म ही वन्धन का कारण है एवं इसलिए कर्म करना नहीं चाहिए' तो ऐसी धारणा भी असत् अर्थात् भूल ही है ।]

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मवन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥ ९ ॥

अन्वय—यज्ञार्थात् कर्मणः अन्यत्र अयं लोकः कर्मबन्धनः भवति । हे कौन्तेय ! (त्वम्) मुक्तसंगः (सन्) तदर्थम् कर्म समाचर ।

अनुवाद—यज्ञ के अर्थात् परमेश्वर की प्रीति के उद्देश्य से जो कर्म किया जाता है उससे अतिरिक्त जो कर्म (कामना के वश से) किया जाता है, उस कर्म के द्वारा लोग (अर्थात् कर्माधिकारी पुरुष) संसार में बद्ध हो जाता है । हे कुन्तीनन्दन ! तुम उस उद्देश्य से ही (अर्थात् परमेश्वर को प्रीति के लिए) निःसंग होकर विहित कर्म का अनुष्ठान करो ।

भाष्यदीपिका—यज्ञार्थात् कर्मणः अन्यत्र—"यज्ञो वै विष्णुः" श्रुति में कहा गया है कि यज्ञ ही विष्णु (परमेश्वर) है। इस परमेश्वर की आराधना के लिए जो कर्म किया जाता है वही यज्ञार्थ कर्म है। उस कर्म के अलावा यदि कोई कर्म (काम्य या विहित कर्म) किया जाय तब, अयं लोकः—यह कर्माधिकारी कर्तापुरुष, कर्मवन्धनः—उस कर्म के द्वारा बन्धन प्राप्त करता है। कर्म जिसका बन्धन है उसे कर्मवन्धन कहा जाता है। विहित कर्मों को नहीं करने से अथवा काम्य या निषिद्ध कर्मों के अनुष्ठान से कर्मकर्ता को जन्ममृत्यु-रूप संसार आवद्ध कर देता है किन्तु ईश्वर की आराधना के लिए जो कर्म किया जाता है। उनसे वन्धन नहीं होता है। हे कौन्तेय !—अतः हे कौन्तेय (कुन्तीपुत्र अर्जुन) ! त्वं—तुम अर्थात् कर्म के अधिकारी तुम, मुक्तसंगः सन्—कर्मफल में आसक्ति रहित होकर अर्थात् कर्मफल की आशा न कर तदर्थं—उस यज्ञ के लिए अर्थात् यज्ञपुरुष परमेश्वर की तृप्ति के लिए, समाचर—कर्त्तव्य कर्म का सम्यक्रूप से अर्थात् श्रद्धा के साथ आचरण करो (अनुष्ठान करो)। तब परमेश्वर की कृपा से शुद्धान्तःकरण होकर ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो सकोगे ।

टिप्पणी (१) श्रीधर—सांख्यलोग कहते हैं कि समस्त कर्म ही वन्धन का हेतु है, अतः उनके मतानुसार कर्म नहीं करना चाहिए। इस मत का निराकरण करने के लिए भगवान् कह रहे हैं—यज्ञार्थ—यज्ञ शब्द का

अर्थ है विष्णु (परमेश्वर)। क्योंकि श्रुति में कहा गया है 'यज्ञो वै विष्णुः' इति। उस यज्ञस्वरूप विष्णु की आराधना के लिए जो कर्म किया जाता है, अन्यत्र कर्म—उसके अलावे दूसरे किसी कर्म का अनुष्ठान करने से, अयं लोकः—ये मनुष्य लोग, कर्मबन्धनः—उन कर्मों के द्वारा आबद्ध होते हैं। किन्तु ईश्वर की आराधना के लिए किये हुए कर्म मनुष्य को बद्ध नहीं कर सकते हैं। दूसरे कर्म ही संसार के बन्धन के कारण हैं। अतः मुक्तसंगः सन्—निष्काम होकर (फलाकांक्षारहित होकर) तदर्थं कर्म समाचर—विष्णु प्रीति के लिए कर्मों का सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान करो। [इस प्रकार परमेश्वर की प्रीति के लिए निष्काम कर्म करने से चित्तशुद्धि प्राप्त कर ज्ञान प्राप्त करोगे—यही कहने का अभिप्राय है।]

(२) शंकरानन्द—'कर्मणा बद्ध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते' (प्राणी कर्म के द्वारा बद्ध होते हैं एवं विद्या के द्वारा अर्थात् तत्त्वज्ञान के द्वारा मुक्ति प्राप्त करते हैं) इस प्रकार के स्मृति वाक्य से पता चलता है कि कर्म ही बन्धन का हेतु है। अतः उस बन्धन करने वाले कर्मों को करना किस प्रकार से उचित है ? ऐसी शंका यदि की जाय तो कहा जायेगा कि यह आशंका युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि काम्यकर्म ही बन्धक (बन्धन का हेतु) है, ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करने से वह बन्धक नहीं होता है। इसे ही अब स्पष्ट रूप से कहा जा रहा है—

यज्ञार्थात्—'यज्ञो वै विष्णुः' इस श्रुति वाक्य के अनुसार यज्ञ शब्द का अर्थ है विष्णु अर्थात् परमेश्वर। उस परमेश्वर की संतुष्टि के लिए यदि किसी भी प्रकार का वैदिक कर्म किया जाय तो उसे 'यज्ञार्थ' कहा जाता है। कर्मणः—उस परमेश्वर की प्रीति के लिए जो नित्यनैमित्तिक कर्म किया जाता है उससे, अन्यत्र—भिन्न दूसरे काम्य कर्म से अयं लोकः—अधिकारी ब्राह्मण आदि, कर्मबन्धनः—(कर्मफल द्वारा बद्ध होते हैं)। कर्म ही बन्धन (जन्म मरण आदि का निबन्धन या हेतु) जिनका है उन्हें कर्मबन्धन कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि वैदिक कर्मों के अधिकारी ब्राह्मण लोग काम्य कर्म का अनुष्ठान कर बन्धन को प्राप्त करते हैं। विहित कर्मों को नहीं करने से या काम्य या निषिद्ध कर्मों को करने से मनुष्य बद्ध हो जाते हैं। किन्तु ईश्वरप्रीति के लिए कर्म करने से बन्धन नहीं प्राप्त करते हैं। स्मृतिशास्त्र में कहा गया है 'तत्कर्म यन्न बन्धनाय' (जो बन्धन का कारण नहीं है, वही कर्म है)। अतः ईश्वर की आराधना के लिए जो कर्म किया जाता है उससे बन्धन नहीं होता है किन्तु ईश्वर की आराधना रूप कर्म के

विना अन्य समस्त कर्म ही बन्धन के हेतु हैं। अतः तदर्थम्—उस ईश्वर की प्रीति के लिए, मुक्तसंगः—फलकामनारहित होकर कर्म—तुम अवश्य विहित कर्मों का, समाचर—सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान करो। क्योंकि इस प्रकार से कर्म करने से ईश्वर की प्रसन्नता के द्वारा शुद्धचित्त होकर तत्त्वज्ञान प्राप्त कर तुम मोक्ष प्राप्त कर सकोगे।

(३) नारायणी टीका—['कर्मणा बध्यते जन्तुः' (जीव कर्म के द्वारा बद्ध होता है) ऐसा कह कर कर्मशब्द के द्वारा आसक्तियुक्त कर्म को समझाया जा रहा है। कर्तृत्वाभिमानयुक्त क्रिया करने से उस कर्म के फल के लिए आसक्ति भी रहेगी। इसलिए कर्तृत्वाभिमानयुक्त तथा आसक्तियुक्त क्रिया को ही साधारणतः कर्म कहा जाता है-उससे ही संसार का बन्धन होता है। किन्तु मैं प्रभु का दास या यंत्रमात्र हूँ—वे जिस प्रकार मुझे शक्ति या प्रेरणा दे रहे हैं एवं उन्हीं की शास्त्ररूप वाणी से मेरे लिए जो कर्म विहित किये हैं उसके द्वारा उनकी ही तृप्ति होगी एवं उनके श्री-चरण कमल में वे कर्म तथा उन कर्मों के कर्मफल को अर्पण करना ही मेरा कर्तव्य है, ऐसा निश्चय जिनमें हैं, उनमें कर्तृत्व तथा भोक्तृत्वाभिमान न रहने के कारण उनकी समस्त क्रिया ही अकर्म हो जाती है। अतः वह बन्धन का कारण न होकर मुक्ति का ही हेतु होती है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि उस सर्वव्यापी आत्मा जिसको वेद में 'विष्णु' या 'यज्ञपुरुष' कहा गया है उन्हीं की तृप्ति के लिए ही फलाकांक्षारहित होकर कर्म करो एवं उनमें ही सभी कर्मों को समर्पित करो। इस प्रकार तुम कर्म करते हुए भी कर्म से उत्पन्न संसार-बन्धन को नहीं प्राप्त करोगे।]

[वक्ष्यमाण कारण के लिए भी (अभी जो कहा जा रहा है उस कारण के लिये भी) कर्म में अधिकार प्राप्त व्यक्ति को कर्म करना ही चाहिए। (अभिप्राय यह है कि, पहले के कुछ श्लोकों में (क) नैष्कर्म्य सिद्धि के लिए (ख) मिथ्याचार की निवृत्ति के लिए एवं (ग) शरीरयात्रा की सिद्धि के लिए कर्म अवश्य कर्त्तव्य है यह कहकर अव 'धर्मज्ञसमयः प्रमाणम्" अर्थात् धर्मज्ञ पुरुष का सिद्धान्त प्रमाण है, इस नियम के अनुसार धर्मज्ञतम (अर्थात् जो सभी से श्रेष्ठ धर्मज्ञ हैं) ब्रह्माजी जो कुछ कहते हैं उस प्रमाणित धर्म कर्म में अधिकारी मुमुक्षु को अवश्य विहित कर्मों को करना चाहिए, उसे ही भगवान् अब कह रहे हैं]

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥

अन्वय—पुरा प्रजापतिः सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा उवाच—"अनेन प्रसविष्यध्वम् एषः यज्ञः वः इष्टकामधुक् अस्तु" ।

अनुवाद—पहले (सृष्टि के पहले) प्रजापति ने यज्ञ के साथ (अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इस त्रिवर्ण की) सृष्टि कर उन लोगों को कहा था कि तुम लोग इस यज्ञ के द्वारा वृद्धि लाभ करो। यह यज्ञ तुम्हारे अभिलषित फल को प्रदान करने में समर्थ हो।

भाष्यदीपिका—पुरा—पहले अर्थात् सृष्टि के पहले अथवा कल्प के आदिकाल में प्रजापतिः—प्रजाओं का सृष्टा, सहयज्ञाः—यज्ञ के साथ विद्यमान [अर्थात् अपने अपने आश्रम के अनुसार विहित कर्मों के साथ जो लोग वर्त्तमान रहते हैं उन लोगों को 'सहयज्ञ' कहा जाता है। अतः 'सहयज्ञाः' शब्द के द्वारा यज्ञ आदि कर्म में अधिकृत पुरुषों को समझाया जा रहा है। (मधुसूदन)] इस प्रकार प्रजाः—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य यह तीन वर्ण [क्योंकि वे लोग वैदिक यज्ञ आदि कर्मों को करने का अधिकार प्राप्त किये हैं]। सृष्ट्वा—सृष्टि कर, उवाच—कहे थे। [उन लोगोंने जो कहा था वही अब कहा जा रहा है—]। अनेन प्रसविष्यध्वम्—इसके द्वारा (इस यज्ञ के द्वारा) तुम लोग प्रसव (उत्पत्ति) करो। [प्रसव शब्द का अर्थ है वृद्धि या उत्पत्ति। अतः 'प्रसव करो' इस शब्द का अर्थ है क्रमशः वृद्धि प्राप्त करना (मधुसूदन)] अब प्रश्न हो सकता है कि इस यज्ञ के द्वारा किस प्रकार वृद्धि हो सकती है ? उसके ही उत्तर में कह रहे हैं—एषः यज्ञः—यह यज्ञ अर्थात् यज्ञनामक वर्णाश्रम के धर्मानुकूल कर्म वः—तुमलोगों का, इष्टकामधुक् अस्तु—जो इष्ट (अर्थात् अभिलषित) काम (अर्थात् काम्य फल) को दोहन करता है अर्थात् प्राप्त करा देता है वही 'इष्टकामधुक्' है। यह यज्ञ इष्टकामधुक् हो अर्थात् यज्ञ तुम्हारे अभीष्ट (आकांक्षित) काम्य फल अथवा अभीष्ट भोग को प्रदान करने में समर्थ होवे !

[मधुसूदन सरस्वती कहते हैं—इस श्लोक में 'यज्ञ' शब्द का आश्रमोचित सभी कर्त्तव्य कर्म के उपलक्षण के रूप में व्यवहार किया गया है अर्थात् 'यज्ञ' कहने से केवल यज्ञकर्म को ही नहीं समझा रहा है बल्कि सभी आवश्यक नित्य, नैमित्तिक कर्म को समझाया जा रहा है क्योंकि इन कर्मों को नही करने से जो प्रत्यवाय अर्थात् पाप होगा, वह बाद में कहा जायगा। 'इष्टकामधुक्'

शब्द के द्वारा काम्य कर्मों को करने का प्रस्ताव किया गया है वह भी नहीं क्योंकि 'मा कर्मफलहेतुर्भूः (गीता २।४७) अर्थात् तुम कर्मफल हेतु न बनो इत्यादि कहने के कारण काम्य कर्म की कर्त्तव्यता पहले ही निराकृत हो गई है, तब भी फल के उद्देश्य से कर्म नहीं करने से भी उन कर्मों के स्वभाव के अनुसार स्वतः ही फल की उत्पत्ति होती है। इस कारण से 'एषः वः अस्तु इष्टकामधुक्' अर्थात् यह तुम्हें अभीष्ट फल प्रदान करे, यह जो कहा गया है, वह युक्तियुक्त ही है अर्थात् चित्तशुद्धि के लिए निष्काम (फलाकांक्षारहित) कर्म का उपदेश देने के प्रसंग में कर्म का जो फल निर्दिष्ट किया गया है वह असंगत मालूम होने से भी स्मरण रखना पड़ेगा कि इस स्थल में फल मुख्य नहीं है बल्कि आनुषंगिक है अर्थात् स्वतः ही उत्पन्न होता है। आपस्तम्भ स्मृति भी ऐसा कहती हैं—"तद्यथाम्रे फलार्थे निर्मिते छायागन्धावनूत्पद्येते एवं धर्मञ्चार्थमानमर्था अनूत्पद्यन्ते नोचेदनूत्पद्यन्ते न धर्महानिर्भवतीति" अर्थात् जिस प्रकार आम्रवृक्ष फल के लिए निर्मित होने से भी उसकी छाया तथा गन्ध आनुषंगिक रूप से (स्वतः ही) उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार धर्म का आचरण करते रहने से (फल की कामना न रहने से भी) योगरूप फल आनुषंगिक रूप से उत्पन्न होता रहता है और यदि वह उत्पन्न न हो तो उसके लिए धर्म की कोई हानि नहीं होती है। एक ही कर्म काम्य कर्म तथा नित्यकर्म दोनों हो सकता है। काम्यकर्म में फल की कामना रहती है और नित्यकर्म में वह बात नहीं है। फल की अभिसन्धि नहीं रहने से भी यदि कर्म के स्वभाव के कारण स्वतः ही फल उत्पन्न हो तब भी नित्य कर्म के नित्यत्व में कोई हानि नहीं पहुँचती है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[प्रजापति के कथनानुसार भी कर्मकर्ता जो श्रेष्ठ हैं उसे चार श्लोकों में कह रहे हैं] सहयज्ञाः—यज्ञों के साथ वर्तमान अर्थात् यज्ञ के अधिकारी, प्रजाः—ब्राह्मण आदि प्रजाओं को पुरा—सृष्टि के आदि में, सृष्ट्वा—सृष्टि कर, प्रजापति उवाच—प्रजापति (ब्रह्मा) यह बोले थे, अनेन—इस यज्ञ के द्वारा, प्रसविष्यध्वम्—उत्तरोत्तर अभिवृद्धि प्राप्त करो (प्रसव शब्द का अर्थ है वृद्धि)। एषः इष्टकामधुक् वः अस्तु = यह यज्ञ तुम लोगों का इष्टान् (अभिलषित) कामान् (समस्त भोगों को) दोग्धीति (दोहन करता है), यह इष्टकामधुक् हो अर्थात् यह अभीष्ट भोगप्रद हो। यहाँ आवश्यक कर्म के उपलक्षण के रूप में यज्ञ शब्द का ग्रहण किया गया है। इससे काम्यकर्म की प्रशंसा नहीं की जा रही है। सामान्यतः अकर्म से कर्म श्रेष्ठ है, ऐसा ही कहा गया है इसलिए [इष्टकामधुक् इत्यादि कहने में] कोई दोष नहीं है।

(२) शंकरानन्द—पूर्वश्लोक में नैष्कर्म्य सिद्धि के लिए एवं मिथ्याचार की निवृत्ति के लिए एवं शरीरयात्रा की सिद्धि के लिए भी कर्म अवश्य कर्त्तव्य है, ऐसा कहकर अब 'धर्मज्ञसमयः प्रमाणम्' (धर्मज्ञ व्यक्ति का सिद्धान्त प्रमाण हुआ करता है। इस सूत्रोक्त रीति के अनुसार धर्मज्ञतम ब्रह्मा के द्वारा कथित, प्रमाणित इस परमधर्म को इन्द्र आदि देवताओं की प्रसन्नता के लिए, पालन करना अवश्य कर्त्तव्य है, इसे अब श्रीभगवान् दो श्लोकों से कह रहे हैं। पुरा—पूर्वकाल अर्थात् सृष्टि का आदि में, प्रजापतिः—ब्रह्मा, सहयज्ञाः—श्रुति में उक्त यज्ञ आदि के साथ प्रजाः—ब्राह्मण आदि वर्णों को, सृष्ट्वा—उत्पन्न कर, उवाच—उन प्रजाओं को कहे थे, अनेन—तुमलोग इस श्रौत तथा स्मार्त यज्ञ के द्वारा प्रसविष्यध्वम्—चरुपुरोडाश आदि द्रव्यों के द्वारा देवताओं की प्रीति उत्पन्न करो। एषः—देवताओं के उद्देश्य से श्रद्धा के साथ किये गये ये यज्ञ भी, वः—तुमलोगों का इष्टकामधुक् भवेत्—इष्ट (अर्थात् इच्छा के विषयीभूत) समस्त काम को (जो कामना की जाती है, वह काम अर्थात् फल या भोग उसको) जो दोहन करता है अर्थात् प्रदान करता है उसे इष्टकामधुक् कहा जाता है। देवताओं के लिए जो लोग निष्कामरूप से यज्ञ करते हैं, उनके ज्ञान के प्रतिबन्धकरूप पापों का क्षय हो जाता है एवं जो लोग कामना के साथ करते हैं उन लोगों को स्वर्गसुख मिलता है। इस प्रकार दोनों प्रकार के कर्मियों की कामना (इच्छा) की पूर्त्ति हो जाने के कारण ऐसा कर्म, इष्टकामधुक् भवेत्—

(३) नारायणी टीका—ब्रह्म जगत् रूप में विवर्त्तित होने से (माया के द्वारा अपने को प्रगट करने से) उन्हें विराट् पुरुष कहा जाता है। यह विराट् पुरुष ही ब्रह्मा है। पुनः वे प्रजा की भी सृष्टि करते हैं इसलिए उन्हें प्रजापति भी कहा जाता है। प्रजा की सृष्टि कैसे होती है ? वह [ऋग्वेद में पुरुष सूक्त में कहा गया है—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥] ब्रह्मा या प्रजापतिने यज्ञ के साथ प्रजाओं को अपने अपने आश्रम के अनुसार वेदविहित कर्मों के साथ सृष्टि की है अतः प्रत्येक प्रजा ही निस्त्रैगुण्य (आत्मज्ञ) न होने तक यज्ञादि कर्म की अधिकारिणी है। इस प्रकार से प्रजापति ब्रह्मा ने ब्राह्मण आदि प्रजाओं का कर्त्तव्य निर्धारित कर दिया है कि यज्ञ के द्वारा अर्थात् अपने अपने कर्त्तव्यों के अनुष्ठान के द्वारा तुम लोग वृद्धि प्राप्त करो। तुम लोग जो कुछ इष्ट (अभिलषित) मानकर कामना करोगे उस यज्ञरूप कर्म से तुम लोग वही

प्राप्त करोगे (क्योंकि इस प्रकार यज्ञादि कर्म तुम लोगों के लिये)इष्टकामधुक अर्थात् यदि कामना के साथ कर्म करो तब सांसारिक वृद्धि या स्वर्ग सुख प्राप्त करोगे। और यदि निष्काम रूप से कर्मों को ईश्वरार्पणबुद्धि से यज्ञ के रूप में कर्म करोगे तव चित्तशुद्धि प्राप्त कर ज्ञान के द्वारा मोक्ष भी प्राप्त कर सकोगे। यहाँ यज्ञ शब्द के द्वारा शास्त्रविहित सभी कर्मों को उपलक्षण मान कर कहा गया है। [यज्ञ से ही जगत् की समस्त वस्तु की सृष्टि हुई है। इसलिए कालिकापुराण में कहा गया है कि—यज्ञेषु देवास्तिष्ठन्ति यज्ञे सर्वं प्रतिष्ठितम्। यज्ञेन ध्रियते पृथ्वी यज्ञस्तारयति प्रजाः ॥ अन्नेन भूता जीवन्ति पर्जन्यादन्नसम्भवः। पर्जन्यो जायते यज्ञात् सर्वं यज्ञमयं ततः ॥]

[यज्ञ किस प्रकार से इष्टफल प्रदान करता है, वह अब कहा जा रहा है—]

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥

अन्वय—अनेन देवान् भावयत ते देवाः वः भावयन्तु परस्परं भावयन्तः परं श्रेयः अवाप्स्यथ।

अनुवाद—इस यज्ञ के द्वारा तुम लोग देवताओं की वृद्धि करो। (तृप्ति साधन करो) एवं वे देवताएँ भी परितृप्त होकर तुम लोगों को वर्धित (तृप्त) करेंगे। इस प्रकार परस्पर को वर्धित कर (तृप्त कर) तुमलोग परम श्रेयः को प्राप्त करोगे।

भाष्यदीपिका—अनेन—इस यज्ञ के द्वारा, देवान्—इन्द्र आदि देवताओं को, भावयत—भावित करो अर्थात् हविर्भाग के द्वारा सम्यक् प्रकार से वर्द्धित करो अर्थात् उन लोगों को तृप्त करो। ते देवाः—वे देवतालोग तुम लोगों के द्वारा भावित (तृप्त) होकर वः भावयन्तु—तुम लोगों को भावित करें अर्थात् उत्तम रूप से वृष्टि प्रभृति के द्वारा अन्न आदि उत्पन्न कर तुम लोगों को सम्यक् प्रकार से वर्द्धित करें (तुम लोगों को तृप्त करें)। परस्परं भावयन्तः—इस प्रकार देवता लोग एवं तुम लोग परस्पर की वृद्धि करते हुए (तृप्त करते हुए) परं श्रेयः—यदि निष्काम रूप से कर्म करो तो तुम लोग चित्त शुद्धि तथा ज्ञान प्राप्त कर परम श्रेयः निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त करोगे और यदि सकाम रूप से यज्ञ आदि करोगे तब स्वर्गादिरूप परम श्रेयः, अवाप्स्यथ—प्राप्त करोगे। निष्काम कर्मीलोग जो ज्ञान प्राप्ति रूप परम श्रेयः को प्राप्त

करते हैं उसका कारण यह है कि यज्ञ आदि कर्म के द्वारा इन्द्रियाँ सात्त्विक बन जाती हैं एवं चित्त की मलीनता दूर होने पर ज्ञान का आलोक प्रकाशित हो जाता है। अतः वह निष्काम कर्म परम श्रेयः प्राप्ति का (मोक्ष का) हेतु बन जाता है। [मधुसूदन सरस्वती इस प्रकार अर्थ माने हैं— श्रेयः परम्— (अभिमत अर्थ अर्थात् जिस विषय की कामना की जाती है) अवाप्स्यथ— प्राप्त करो। देवताएँ तृप्ति लाभ करें और तुम लोग स्वर्ग नामक परम श्रेयः को प्राप्त करो]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[यज्ञ किस प्रकार से 'इष्टकाम दोग्धा' (अभीष्ट फलप्रद) होता है उसे कह रहे हैं—] अनेन—इस यज्ञ के द्वारा तुमलोग, देवान् भावयत—देवताओं को हविर्भाग (घृताहुति) के द्वारा भावना करो अर्थात् संवर्धन करो, ते देवाः वः भावयन्तु—वे देवताएँ भी तुम लोगों को वृष्टि आदि के द्वारा अन्न की उत्पत्ति कर संवर्द्धित करें। परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ—इस प्रकार से परस्पर के संवर्द्धन के द्वारा देवताएँ एवं तुम लोग परस्पर श्रेयः अर्थात् अभीष्ट अर्थ (विषय) प्राप्त करोगे। [भावना=संवर्द्धन=वृद्धि=अभीष्टसिद्धि=तृप्ति]

(२) शंकरानन्द—यह यज्ञ किस प्रकार से हम लोगों के इष्ट के सिद्धि में सहायक होते हैं ? इसके उत्तर में कह रहे हैं अनेन—इस श्रौत तथा स्मार्त यज्ञ के द्वारा देवम्—इन्द्र आदि देवताओं को भावयत—चरुपुरोडाश आदि के द्वारा संतुष्ट करो। इस प्रकार सम्भावित होकर अर्थात् तुष्ट होकर ते देवाः—वे समस्त इन्द्रादि देवता वः—तुम लोगो को भावयन्तु—इष्ट विषय प्रदान कर सन्तुष्ट करें। इस प्रकार से परस्परं भावयन्तः—परस्पर एक दूसरे को सन्तुष्ट करते हुए (देवताओं के प्रसाद से सम्पूर्णरूप से प्रतिवन्ध (विघ्न विभ्रष्ट होने से) अर्थात् निःशेष रूप से प्रतिवन्ध रहित होकर अन्तः-करण की शुद्धि द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त कर परं श्रेयः—निरतिशाय (परम) आनन्द रूप श्रेयः अर्थात् विदेह कैवल्य अवाप्स्यथ—प्राप्त करोगे। यद्यपि यहाँ 'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ' इस प्रकार कहने में मालूम होता है कि दोनों पक्ष को ही परम श्रेयः (परमानन्द रूप मोक्ष) की प्राप्ति के लिए विधि बनाया गया है तब भी विचार करने से पता चलता है कि प्रजा ही धर्मोपदेश का विषय है अर्थात् प्रजा को उद्देश्य करके ही धर्मोपदेश दिया गया है अतः प्रजाओं के लिए ही उक्त धर्म के अनुष्ठानलभ्य परम श्रेयः को प्राप्त करने की विधि बताई गयी है (प्रजाएँ ही उक्त धर्मों का पालन करने से

परम श्रेयः अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर सकेंगो ऐसा ही विधान बनाया गया है), किन्तु प्रजाओं पर अनुग्रह करने वाले देवताओं के लिए परम श्रेयः को प्राप्त करने की विधि नहीं बताई है। देवता इन उपदेशों का विषय नहीं है क्योंकि देवता स्वयं प्रभात विज्ञान है (वे आत्मतत्त्वज्ञान प्राप्त किये हैं) एवं वे लोग जीवन्मुक्त हैं अतः सम्भावना ही (संतुष्ट करने में ही) 'परस्पर' पद का सम्बन्ध है अर्थात् प्रजा तथा देवता परस्पर एक दूसरे को भावना (संतुष्ट) करेंगे यही यहाँ 'परस्पर' पद का तात्पर्य है किन्तु परस्पर परं श्रेयः (मोक्ष) को भी प्राप्त करेंगे, ऐसी विधि निर्णय करने के लिए 'परस्पर' पद को व्यवहृत नहीं किया गया है। श्लोक का अर्थ भी इस प्रकार है।

(३) नारायणी टीका—प्रथम अध्याय के परिशिष्ट में 'तृतीय अध्याय के तात्पर्य' में ३।११ श्लोक की व्याख्या द्रष्टव्य है।

[यज्ञ से केवल पारलौकिक फल की ही प्राप्ति होती है, ऐसी बात नहीं, इससे ऐहिक फल की भी प्राप्ति होती है। इसे ही अब कहा जा रहा है]

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

अन्वय—देवाः यज्ञभाविताः (सन्तः) इष्टान् भोगान् वः दास्यन्ते। हि तैः दत्तान् एभ्यः अप्रदाय यः भुङ्क्ते सः स्तेनः एव।

अनुवाद—देवताएँ यज्ञ के द्वारा परितोषित (तृप्त) होने से तुम लोगों को अभीष्ट भोग प्रदान करेंगो। उन देवों ने जो कुछ दिया है, उनकी भोग्य वस्तुओं को देवताओं को न देकर स्वयं भोग कर लेने से, वह व्यक्ति चोर के सिवा और कुछ नहीं है।

भाष्यदीपिका—देवाः—देवताएँ, यज्ञभाविताः—यज्ञ के द्वारा परिवर्धित होकर अर्थात् परितोषित होकर (तृप्त होकर) इष्टान् भोगान्—तुम लोगों के द्वारा इच्छा किये गये पुत्र, स्त्री, पशु, अन्न, सुवर्ण आदि के भोगों को, वः—तुम लोगों को दास्यन्ते—प्रदान करेंगे, हि तैः दत्तान्—चूँकि वे अनेक चीजें दान करते हैं एवं तुम लोग उनके ऋणी हो इसलिए उन देवताओं के द्वारा दिये गये भोग, एभ्यः—इन्हें अर्थात् इन देवों को, अप्रदाय—न प्रदान कर अर्थात् देवताओं के उद्‌देश्य से यज्ञ में चरुपुरोडाश आदि आहुति न देकर (देवताओं के प्रति जो ऋण है उससे यज्ञ आदि के द्वारा अपने को मुक्त न कर), भुङ्क्ते—जो व्यक्ति भोग करता है। अर्थात्

केवल अपने देह तथा इन्द्रियों की तृप्ति करता है सः—वह देवधन—अपहरणकारी व्यक्ति स्तेनः एव—चोर के अलावा और कुछ नहीं है। अर्थात् वह शिष्ट व्यक्तियों के द्वारा अत्यन्त निन्दित होता है। एवं मृत्यु के बाद देवताओं को दी जानेवाली वस्तु न देने के कारण उसको अधोगति प्राप्त होती है। ['अप्रदाय' शब्द का अर्थ ग्रहण से मुक्त न होने से लिया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि गृहस्थ मात्र को पंच महायज्ञ द्वारा पंच ऋण से उऋण होना चाहिए। देवताओं का ऋण यज्ञ के द्वारा, ऋषियों का ऋण ब्रह्मचर्य तथा शास्त्र के अध्ययन के द्वारा एवं पितरों का ऋण तर्पण तथा प्रजाओं की सृष्टि के द्वारा, नृ ऋण तथा भूत-ऋण अन्न आदि के द्वारा परिशोध करना चाहिए। इन ऋणों को परिशोध न कर अर्थात् देवताओं का सन्तोष उत्पन्न न कर जो मूढ़ व्यक्ति केवल अपने देह तथा इन्द्रिय के संघात (पिण्ड) को ही पुष्ट करने के लिए भोजन आदि में सर्वदा व्यस्त रहता हैं वह चोर ही है।

(१) श्रीधर—[इन यज्ञ आदि क्रियाओं के फल को स्पष्ट करके कहते हुए यज्ञादि कर्म को न करने से क्या दोष होता है, वह कह रहे हैं –] यज्ञभाविताः देवाः वः इष्टान् भोगान् दास्यन्ते हि—यज्ञ के द्वारा भावित (संवर्धित) होकर देवताएँ वृष्टि आदि के द्वारा तुमलोगों के अभीष्ट भोगों को निश्चय ही प्रदान करेंगी। ['हि' शब्द का अवधारण के अर्थ में (निश्चय के अर्थ में) व्यवहार किया गया है।] अतः तैः दत्तान् एभ्यः अप्रदाय—देवताओं के द्वारा दिये गये अन्न आदि उनलोगों को (देवताओं को) पंचयज्ञ आदि के द्वारा न देकर, यः भुङ्क्ते—जो भोग करता है, सः स्तेनः एव—वह चोर ही है।

(२) शंकरानन्द—यज्ञ के द्वारा सन्तुष्ट होकर देवता लोग मुमुक्षु व्यक्ति को जो केवल परलोक का ही सुख देते है, यह बात नहीं, वे उनको जागतिक सम्पत्ति तथा सुख भी प्रदान करते हैं। इसलिए देवताओं को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ आदि अवश्य करना चाहिए। क्योंकि ऐसा न करने से मनुष्य प्रत्यवायी (पापी) हो जाता है। इसे सूचित करने के लिए कह रहे हैं—यज्ञभाविताः— श्रौत तथा स्मार्त यज्ञ आदि के द्वारा भावित अर्थात् सन्तुष्ट देवाः—इन्द्र आदि देवता वः—तुम लोगो के इष्टान्—इच्छा के विषयीभूत (इच्छित) भोगान्—पशु, पुत्र, स्त्री, धन, धान्य आदि भोगों को हि—निश्चय ही दास्यन्ते—प्रदान करेंगे अर्थात् वितरण करेंगे इस प्रकार से तैः–

उन देवताओं के द्वारा दत्तान्—प्रदत्त पदार्थों को अप्रदाय—चरुपुरोडाश आदि के रूप में न प्रदान कर अर्थात् देवता, ऋषि एवं पितरों का ऋण क्रमशः यज्ञ, ब्रह्मचर्य एवं प्रजा (सन्तानोत्पत्ति) के द्वारा परिशोध न कर यः भुङ्क्ते—जो अपने शरीर की पुष्टि के लिए ही भोग किया करता है (आहार करता है) सः स्तेनः एव—वह चोर है एवं शिष्ट पुरुष के द्वारा निन्दित होता है। अतः देवता तथा ब्राह्मणों के धन को चोरी करने वाले चोर की जो गति होती है वही गति उसको भी प्राप्त होती है यही कहने का अभिप्राय है।

(३) नारायणी टीका—प्रथम अध्याय के परिशिष्ट में तृतीय अध्याय के तात्पर्य में १२ वें श्लोक का तात्पर्य निर्णीत हुआ है।

[दूसरी ओर जो लोग पंचमहायज्ञ आदि का अनुष्ठान कर यज्ञ का अवशिष्ट अन्न भोजन करते हैं वे लोग सभी पापों से मुक्त होते हैं।]

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥

अन्वय—यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः सर्वकिल्बिषैः मुच्यन्ते। ये तु आत्मकारणात् पचन्ति, ते अघं भुञ्जते, पापाः (च भवन्ति)।

अनुवाद—जो समस्त साधु व्यक्ति यज्ञ का अवशिष्ट (अमृतरूप) अन्न भोजन करते हैं वे लोग सभी पापों से मुक्त हो जाते हैं। किन्तु जा लोग केवल अपनी परितृप्ति के लिए अन्न आदि को पकाते हैं, वे लोग पाप को ही भोजन करते हैं एवं पापी ही हो जाते हैं।

भाष्यदीपिका—यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः—यज्ञ का अवशिष्ट भोजन (भक्षण) करना जिनका काम स्वभाव या शील है उन लोगों को 'यज्ञ-शिष्टाशिनः' कहा जाता है। ऐसा होकर [देवयज्ञ, पितृयज्ञ, ऋषियज्ञ (ब्रह्मयज्ञ), मनुष्ययज्ञ एवं भूतयज्ञ यह जो पाँच महायज्ञ है। गृहस्थ के पंचसूनाकृत पाप का नाश करने के लिए (अर्थात् गृहस्थ के घर में उदूखल (ऊखल), चाकी, चूल्हा, जलकलश एवं मार्जनी—इन पाँचों द्रव्य के द्वारा प्राणीहिंसा होने के कारण जो पाप होता है उसके नाश के लिए) शास्त्र में पञ्चमहायज्ञ का अनुष्ठान अवश्य कर्त्तव्य रूप से विहित किया गया है। उन पंचमहायज्ञों का सम्पादन करने के बाद अमृतनामक जो अन्न (भक्ष्य वस्तु) अवशिष्ट रहता है

उसे जो लोग अशन या भक्षण करते हैं वे लोग।] [मधुसूदन सरस्वती 'सन्तः' शब्द का अर्थ साधु या शिष्ट करते हैं, चूँकि वे लोग वेद में कहे गये कर्म के द्वारा देवऋण परिशोध करते हैं।] सर्वकिल्विषैः–सभी पापों से अर्थात् (क) ऊपर में कहा गया उदूखल (ऊखल) इत्यादि से पञ्चसूनाजनित पाप एवं (ख) विहित कर्म न करने से जो पाप उत्पन्न होते हैं एवं (ग) प्रमादवश हिंसा आदि से उत्पन्न अनादिकाल से संचित पाप जो आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रतिबन्धक है, पापों से मुच्यन्ते—विमुक्त हो जाते हैं अर्थात् अतीत तथा अनागत पातक के संसर्ग का उनलोगों को भोग नहीं करना पड़ता है। विहित कर्म करने से पाप से मुक्ति मिल सकती है, इसे अन्वय-मुख से इस श्लोक में दिखाया गया है। अब उन कर्मों को नही करने से क्या दोष होता है वह आगे बतायेंगे।

ये तु—जो लोग उदर-परायण हैं, अर्थात् यज्ञ आदि कर्मों के अधिकारी होकर भी शूद्र की तरह जो देवताओं के लिए पंच महायज्ञों को न कर [अथवा वैश्वदेवादि नित्य कर्म न कर (मधुसूदन)] ['तु' शब्द अवधारण के अर्थ (निश्चय के अर्थ में) व्यवहार किया गया है जो लोग यज्ञ के अन्त में अवशिष्ट अमृत अन्न भोजन करते हैं वे सभी पापों से मुक्त हो जाते हैं—उनसे पापभोजियों को व्यावृत्त (पृथक्) रूप से दिखाने के लिए व्यवहृत किया गया है। किन्तु मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि 'तु' शब्द को अर्थात् जो लोग पंचमहायज्ञादि न कर केवल अपने लिए ही अन्नपाक करते हैं वे लोग अवश्य ही पाप भोजन करते हैं।)] आत्मकारणात् पचन्ति—केवल अपना पेट भरने के लिए ही भोजन बनाते हैं किन्तु वैश्वदेव आदि के लिए नहीं बनाते हैं, ते—वे लोग, अघं भुञ्जते—केवल पाप को ही भक्षण करते हैं। क्योंकि पंच-महायज्ञ आदि नित्य कर्मों को नहीं करने के कारण पंचसूनु आदि से उत्पन्न जो संचित पाप है, वह नष्ट नहीं हो सकता है बल्कि दिन दिन पंचमहायज्ञ तथा वैश्वदेवादि के कर्म को नहीं करने से नये-नये पापों की वृद्धि होती है। इसलिए उन लोगों का समस्त भोग ही पापों में परिणत हो जाता है एवं (ते) पापाः च भवन्ति—ऐसा पापभोग करने के कारण वे लोग स्वयं ही पापी बन जाते हैं।

टिप्पणी (१) मधुसूद—नअथ भुञ्जते—गृहस्थ लोगों को गार्हस्थ्य-धर्म पालन करने के कारण स्वतः ही पाँच प्रकार के पापों की उत्पत्ति होती रहती है—

कन्डनी पेषणी चुन्नी उदयकुम्भी च मार्ज्जनी।
पंचसूना गृहस्थस्य ताभिः स्वर्गं न विन्दति॥

अर्थात् कन्डनी (चक्की तथा उदूखल प्रभृति), पेषणी (शिन) चुल्हा, जलकलश एवं मार्ज्जनी (झाडू) गृहस्थ को इन पंचसूना (पाँच प्रकार के पाप) अर्थात् इन पाँचों के द्वारा इच्छा न रहने पर भी अनजान में ही चींटी प्रभृति को मारने के कारण पाप संचय होते हैं और उन पापों के कारण व्यक्ति स्वर्ग प्राप्ति से वंचित रहता है। "पंचसूनाकृतं पापं पंचयज्ञैर्व्यपोहति" अर्थात् पंचसूनाकृत पापों से मुक्ति पंचमहायज्ञों को करने से ही मिल सकती है। पंचमहायज्ञ इस प्रकार हैं—'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्। होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ अर्थात् वेद आदि शास्त्रों का अध्ययन है ब्रह्मयज्ञ, तर्पण है पितृयज्ञ, होम है देवयज्ञ, प्राणियों के उद्देश्य से किया गया अन्नादि का दान है भूतयज्ञ और अतिथि सत्कार है नृयज्ञ (गारुड़पुराण ११५ अध्याय)। श्रुति में भी ऐसा ही कहा गया है—"इदमेवास्य तत् साधारणमन्नं यदिदमद्यते स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्त्तते मिश्रं ह्येतत्" (बृह. उ. १।४।१०) अर्थात् जो कुछ खाया जाता है वह सब कुछ ही समस्त भोक्ताओं का (चींटी तक समस्त प्राणियों का) साधारण (सर्वोपभोग्य) अन्न है जो इनकी उपासना करता है अर्थात् केवल अपने लिए इन अन्नों का व्यवहार करता है वह पाप (अधर्म) से निवृत्त नहीं हो सकता है क्योंकि यह मिश्र है अर्थात् वह अन्न सभी का साधारण अन्न है। वेद में भी ऐसा कहा गया है—"मोघमन्नं विन्दतेऽप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य। नायमिषां पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी" (ऋग्वेद १०।१२९।५) अर्थात् यह अप्रचेता (हृदयहीन) व्यक्ति विफल अन्न भोजन करता है, मैं सत्य कह रहा हूँ कि यह उनके वध का ही (ध्वंस या अधःपतन का ही) स्वरूप है। वह व्यक्ति सूर्य को भी पुष्ट नहीं करता है अर्थात् वैश्वदेव यज्ञ के द्वारा अग्नि में विधिपूर्वक प्रक्षेप आहुति नहीं करने के कारण वह सूर्य में उपस्थित नहीं होता है एवं वह अपने सखा अर्थात् दूसरे जीव को भी पुष्ट नहीं कर सकता है। वह केवल अपना पेट भरने में ही व्यस्त रहता है। इस प्रकार जो व्यक्ति केवल अपने ही भोजन करता है उसे पापी कहा जाता है। यहाँ जिस वैश्वदेव यज्ञ के बारे में कहा गया है वह स्मृतिविहित पंचमहायज्ञ का एवं श्रुतिविहित नित्य कर्मों का उपलक्षण है अर्थात् इसके द्वारा श्रौत तथा स्मार्त्त सभी प्रकार के कर्म के बारे में ही कहा गया है। १० श्लोक से १३ श्लोक तक प्रजापति का वचन कहा गया है। अभिप्राय यह है कि

जब तक कर्माधिकारी व्यक्ति को चित्त-शुद्धि के द्वारा ज्ञान प्राप्त न हो तब तक स्व स्व अधिकार के अनुरूप विहित कर्मों का अनुष्ठान करना आवश्यक कर्त्तव्य है]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[पूर्व श्लोकोक्त कारण से अतिरिक्त दूसरे कारण से भी यज्ञ आदि को करने वाले श्रेष्ठ माने जाते हैं, जो लोग यज्ञादि कर्म नहीं करते हैं वे श्रेष्ठ नहीं है—इसे अब कह रहे हैं ।]

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः—जो लोग वैश्वदेव आदि यज्ञ के अवशिष्ट को भक्षण करते हैं, **सर्वकिल्विषैः मुच्यन्ते**—वे लोग पंचसूना आदि के द्वारा किये गये सभी पापों से मुक्त हो जाते हैं, [स्मृतिशास्त्र में पंचसूना के बारे में कहा गया है—'कन्डनी, पेषणी, चुल्ली, चोदकुम्भी च मार्जनी । पंचसूना गृहस्थस्य ताभिः स्वर्गं न गच्छति ।' अर्थात् (उदूखल) ऊखल, चक्की, चूल्हा, जल का कलश तथा मार्जनी (झाड़ू), गृहस्थ को यह पाँच सूना (वध करने का स्थान) अर्थात् इन स्थानों में कीट आदि का वध होता है। उस वध से उत्पन्न पाप के लिए गृही लोग स्वर्ग में नहीं जा सकते हैं। किन्तु पंचयज्ञ को करने से उन पापों से निवृत्ति हो जाती है । [पंचयज्ञ—'ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा । नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् (मनु) ऋषियज्ञ—वेद का अध्ययन तथा आरति उपासना आदि, देवयज्ञ—अग्निहोत्र आदि, भूतयज्ञ–बलिवैश्वदेवादि, नृयज्ञ—अन्नादि से अतिथिसत्कार, पितृयज्ञ–श्राद्ध तर्पण आदि ।] **ये तु आत्मकारणात् पचन्ति**—जो लोग केवल अपने भोग के लिए ही भोजन बनाते हैं, अर्थात् वैश्वदेव आदि के लिए नहीं बनाते हैं, **ते पापाः अघं भुञ्जते**—वे पापीलोग (दुराचारी लोग) पाप का ही भक्षण करते हैं ।

(२) **शंकरानन्द**—जो लोग पंच महायज्ञों (प्रतिदिन देवयज्ञ, अर्थात् देवपूजा आदि, ऋषियज्ञ अर्थात् ऋषि के द्वारा प्रणीत शास्त्र आदि का पाठ, पितृयज्ञ अर्थात् पितृपुरुषों का तर्पणादि, नृयज्ञ अर्थात् अतिथि सेवा अथवा मनुष्यों को अन्न दान करना आदि, एवं भूतयज्ञ अर्थात् प्राणियों को खाद्य वितरण इत्यादि) का अनुष्ठान कर अन्नभोजन करते हैं। वे सभी पापों से मुक्त हो जाते हैं । और जो लोग देवता, अतिथि प्रभृति के उद्देश्य से भोजन नहीं बनाकर केवल अपने ही लिए भोजन बनाते हैं वे लोग पाप का ही भक्षण करते हैं । इस प्रकार पंचमहायज्ञों का अनुष्ठान करने से क्या फल होता है एवं अनुष्ठान नहीं करने से क्या कुफल होता है ? इसे प्रतिपादन

करने के लिए पंचमहायज्ञ प्रतिदिन का अवश्य कर्तव्य है। इसे दृढ़ करने के लिए अब कह रहे हैं—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः—ब्राह्मण लोग देवयज्ञ, पितृयज्ञ इत्यादि श्रुति में कहे हुए पंचमहायज्ञों का अनुष्ठान करने के बाद जो अन्न अवशिष्ट रहता है, केवल उसको भक्षण कर सर्वकिल्विषैः—सभी पापों से अर्थात् 'कन्डनी पेषणी चुल्ली चोदकुम्भी च मार्ज्जनी। पंचसूना गृहस्थस्य पंचयज्ञात् प्रणश्यति' (ऊखल, चक्की, चूल्हा, जल का कलश एवं झाड़ू—इन पाचों के द्वारा गृहस्थों को प्राणिहत्यारूप पाप होता है। यह पाँच प्रकार के पाप पंचमहायज्ञ के द्वारा नष्ट हो जाते हैं।) इस प्रकार स्मृतिवाक्य में कहे गये पापों को यदि बुद्धिपूर्वक किया गया हो अथवा यदि हाथ पैरों के संचालन से पाप उत्पन्न हुआ हो अथवा यदि अवश होकर किया जाय तो उन पापों से मुक्ति इन पंचमहायज्ञों के द्वारा मिल सकती है। इन पापों से मुक्त होने से चित्तशुद्धि की प्राप्ति होती है। जो कि ज्ञान तथा मोक्ष प्राप्त कराने में सहायक है। यही कहने का अभिप्राय है। दूसरी ओर, ये पापाः—पंचमहायज्ञ का अनुष्ठान न करने वाले पापी ब्राह्मणलोग, जो आत्मकारणात्—अपने उदर की पूर्त्ति के लिए ही शूद्र की तरह भोजन बनाते हैं अर्थात् देवता तथा वैश्वदेव के लिए भोजन नहीं बनाते, एवं जो देवताओं को, पितरों को एवं ब्राह्मणों को अन्न प्रदान न कर स्वयं ही भोजन किया करते हैं। ते तु अघं भुञ्जते—वे लोग पाप को ही अर्थात् अन्न के रूप में पाप को ही भोग करते हैं—अन्न को नहीं।

वह पापी व्यक्तियों की दृष्टि से अन्न प्रतीत होने पर भी शास्त्र तथा देवताओं की दृष्टि से पाप ही है। अतः कहने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार के अन्न को भक्षण करने वाले को पापिष्ठतम कहना चाहिए। श्रुति भी ऐसा ही कहती है, यथा—'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः' (जो व्यक्ति यज्ञ नहीं करता है वह वृथा ही अन्न भोजन करता है) 'केवलाघो भवति केवलादी' (अकेले जो भोजन करता है वह पापी है) एका क्रिया द्व्यर्थंकरी बभूव' (एक क्रिया का दो अर्थ होता है) इस न्याय के अनुसार श्रोत्रिय मुमुक्षु के द्वारा कर्म अनुष्ठित होने पर अन्तःकरण की शुद्धि उत्पन्न कर मुमुक्षु अपने लिये मोक्ष प्राप्ति कर सकता है फिर वह कर्म ही, (देवताओं की कृपा से) वृष्टि आदि के द्वारा जगत की स्थिति का कारण बन जाता है। अतः इन दोनों अभिप्राय की सिद्धि के लिए यज्ञ आदि कर्म अवश्यकर्तव्य हैं।

(३) नारायणी टीका—प्रथम अध्याय के परिशिष्ट में तृतीय अध्याय के तात्पर्य में श्लोक का अभिप्राय क्या है ? उसका वर्णन किया गया है।

[केवल मात्र प्रजापति के वचन के अनुसार अतः वह द्रष्टव्य ही कर्म कर्त्तव्य हैं ऐसी बात नहीं है, बल्कि कर्म संसारचक्र की प्रवृत्ति का हेतु भी है। इस कारण से भी कर्म को अवश्य करना चाहिए। कर्म किस प्रकार से संसार चक्र की प्रवृत्ति का हेतु है ? वही अब कहा जा रहा है।]

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्ज्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

अन्वय—अन्नाद् भूतानि भवन्ति, पर्ज्जन्यात् अन्नसम्भवः यज्ञात् पर्ज्जन्यः भवति यज्ञः कर्मसमुद्भवः।

अनुवाद—अन्न से प्राणियों की उत्पत्ति होती है, पर्ज्जन्य (बादल अर्थात् वृष्टि) से अन्न की उत्पत्ति होती है, यज्ञ से पर्ज्जन्य (बादल) की उत्पत्ति होती है और उस अपूर्व रूप यज्ञ की उत्पत्ति वैदिककर्म से ही होती है।

भाष्यदीपिका—अन्नाद् भूतानि भवन्ति—स्त्री और पुरुषों के द्वारा खाये गये अन्नरज-शुक्र के रूप में परिणत होने से उससे भूत अर्थात् प्राणियों का जन्म होता है। इसे सभी प्रत्यक्ष ही देख सकते हैं। पर्ज्जन्याद् अन्नसम्भवः—पर्ज्जन्य अर्थात् वृष्टि से अन्न का सम्भव होता है अर्थात् अन्न की उत्पत्ति होती है। इस विषय में कर्म की उपयोगिता है वही अब कहा जा रहा है—

यज्ञात्—यज्ञ से [अग्निहोत्र आदि यज्ञ से अर्थात् उक्त यज्ञ से अपूर्व नामक जिस धर्म की उत्पत्ति होती है उससे (मधुसूदन)] पर्ज्जन्यः—वृष्टि की उत्पत्ति होती है। [अग्निहोत्र की आहुति परम्परारूप से किस प्रकार वृष्टि एवं प्रजासृष्टि का कारण (जनक) बन जाती है उसकी व्याख्या शतपथब्राह्मण के अष्टाध्यायी कांड में जनक तथा याज्ञवल्क्य के संवाद नामक छः प्रश्नों में की गई है (मधुसूदन)]। मनु ने भी कहा है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ (मनु० ३।७६)

अर्थात् अग्नि में सम्यक् रूप से दी गयी (यथाविधि देवताओं का ध्यान आदि करके प्रक्षिप्त) आहुति रश्मि के द्वारा सूर्य में जाकर उपस्थित

होती है। सूर्य से वृष्टि की निष्पत्ति होती है, वृष्टि से अन्न उत्पन्न होता है एवं अन्न से प्रजा का जन्म होता है। [अर्थात् माता का रज तथा पिता का शुक्र—दोनों मिलकर प्रजा अर्थात् प्राणियों की सृष्टि होती है (आनन्दगिरि)।] यज्ञः कर्मसमुद्भवः—उस अपूर्व नामक धर्म का हेतु जो यज्ञ है उसकी उत्पत्ति ऋत्विक् तथा यजमान के व्यापाररूप कर्म से ही (अर्थात् होम, मन्त्र, तन्त्र आदि क्रिया के द्वारा साधित याग आदि कर्म से ही) होती है। [श्लोक में 'च' शब्द द्रव्य तथा देवताओं का संग्राहक अर्थात् (क) होम, मन्त्र, तन्त्र, आदि क्रिया; (ख) होम आदि के लिये उपयुक्त द्रव्यों एवं (ग) जिन देवताओं के उद्देशों से होम आदि किया जाता है वे देवताएँ,—इन तीनों के संयोग द्वारा साधित याग आदि कर्म से ही यज्ञ की उत्पत्ति होती है, ऐसा अर्थ समझना होगा (आनन्दगिरि)]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[कर्म जगत् चक्र की प्रवृत्ति का हेतु है। इसलिए भी कर्म करना चाहिए इसे ही अब तीन श्लोकों में कहा जा रहा है] अन्नात्—अन्न से अर्थात् अन्न शुक्र तथा रज के रूप में परिणत होने पर भूतानि भवन्ति—भूत अर्थात् प्राणियों की उत्पत्ति होती है। पर्जन्याद् अन्नसम्भवः—वृष्टि से अन्न की उत्पत्ति होती है। पर्जन्यो यज्ञाद् भवति—वह वृष्टि उस यज्ञ से उत्पन्न होती है। यज्ञः कर्मसमुद्भवः—और कर्म से अर्थात् यजमान आदि की क्रिया से यज्ञ की उत्पत्ति होती है। श्रुति में कहा गया है—'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टि-र्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥' वैदिक अग्नि में अर्थात् अग्निहोत्र आदि में जो आहुति देता है वह आदित्य में पहुँचती है। आदित्य से वृष्टि, वृष्टि से अन्न एवं अन्न से प्रजा की उत्पत्ति होती है।

(२) शंकरानन्द—मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः (सभी पापों से मुक्त हो जाता है गीता ३।१३) न कर्मणामनारम्भात् नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते' (पुरुष कर्म का आरंभ नहीं करने से ही मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकता है—गीता ३।४) इत्यादि वचन के द्वारा प्रतिपादित होता है कि कर्म ही मोक्ष का हेतु है। अब निरूपण किया जाता है कि कर्म जगत् की स्थिति का भी हेतु है।

यज्ञाद् भवति पर्जन्यः—स्मृतिशास्त्र में कहा गया है अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥' (अग्नि में सम्यक् प्रकार से दी गई आहुति आदित्य को प्राप्त होती है; आदित्य से वृष्टि एवं वृष्टि से अन्न एवं अन्न से प्रजा की उत्पत्ति होती है)

श्रोत्रिय ब्राह्मण के द्वारा शास्त्र के अनुसार यज्ञ करने से उक्त स्मृति में जैसा कहा गया है उस प्रक्रिया के अनुसार पर्जन्य (वृष्टि) होता है।

पर्जन्याद् अन्नसम्भवः—वृष्टि से अन्न सम्भव है, अर्थात् अन्न की उत्पत्ति होती है। **अन्नाद् भूतानि भवन्ति**—अन्न से अर्थात् स्त्री पुरुषों के द्वारा खाये गये अन्न रजः तथा वीर्य में परिणत होने से भूत अर्थात् प्राणियों की उत्पत्ति होती है। पुनः उत्पन्न होकर वे प्राणी अन्न के द्वारा ही जीवित रहते हैं। इस प्रकार वृष्टि तथा अन्न ही जगत् के जीवन का हेतु है, उस **यज्ञकर्मसमुद्भवः**—यज्ञ की उत्पत्ति कर्म से होती है। ऋत्विक् यजमान आदि के द्वारा किया गया होम, मंत्र, तंत्र आदि वैदिक क्रिया को कर्म कहा जाता है। इस प्रकार के कर्म से जिसका उद्भवः अर्थात् उत्पत्ति होती है उसे कर्मसमुद्भव कहा जाता है। यज्ञ को कर्मसमुद्भव कहने से सूचित किया गया है कि यज्ञ अपूर्वलक्षण है अर्थात् यज्ञ आदि कर्म से अपूर्व की सृष्टि होती है।

(३) **नारायणी टीका**—अक्षर परमात्मा से पुरुष के निःश्वास की तरह स्वतः ही वेदों का आविर्भाव हुआ है। वेद ही मनुष्य के कर्त्तव्यत्व तथा अकर्त्तव्यत्व के सम्बन्ध में एकमात्र प्रमाण है। अतः कर्मों की उत्पत्ति वेद से ही होती है। ऋत्विक् तथा यजमान के व्यापारसाध्य यज्ञ की उत्पत्ति वेद-विहित कर्म से ही होती है। यज्ञ से अपूर्व नामक धर्म की उत्पत्ति होती है। एवं उस धर्म के प्रभाव से यज्ञ में जो कुछ आहुति दी जाती है वह आदित्य में उपस्थित होकर वृष्टि की उत्पत्ति होती है। वृष्टि से अन्न की उत्पत्ति होती है एवं वह अन्न खाये जाने पर पुरुष के शरीर में शुक्र एवं स्त्री के शरीर में रज के रूप में परिणत हो जाने पर उन के संयोग से प्रजा की (प्राणी की) सृष्टि होती है। [इस श्लोक तथा इस के परवर्ती श्लोक में भी इसी प्रकार जगत् चक्र के क्रम के बारे में कहा गया है।] चूँकि वेदविहित यागादि कर्म साक्षात् रूप से जगत की स्थिति तथा सृष्टि का कारण है अतः कर्म अवश्यकर्त्तव्य है, यही कहने का अभिप्राय है।

[अब, कर्म (यागादि कर्म) की उत्पत्ति किस प्रकार होती है। वह कहा जा रहा है]

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ १५॥

अन्वय—कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि, ब्रह्म अक्षरसमुद्भवम्, तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म यज्ञे नित्यं प्रतिष्ठितम्।

अनुवाद—यज्ञ आदि के कारणभूत कर्म की उत्पत्ति वेद से हुई है अर्थात् वेद ही कर्म का प्रवर्त्तक है। वेद की उत्पत्ति अक्षर (परमेश्वर) से हुई है। इस कारण से सर्वगत (अर्थात् सर्वप्रकाशक) वेद (जिन कर्मों से अपूर्व की उत्पत्ति होती है। ऐसे यज्ञ आदि सभी कर्मों में नित्य सदा नियम-पूर्वक) स्थित है अर्थात् वेद अशुद्धचित्त व्यक्ति के लिए उन कर्मों का कर्त्तव्य के रूप में विधान करता है।

भाष्यदीपिका–कर्म—पूर्ववर्ती श्लोक में अपूर्व नामक यज्ञ के हेतुभूत यागादिकर्म के बारे में जो कहा गया है, वह, ब्रह्मोद्भवं विद्धि—ब्रह्म अर्थात् वेद उन कर्मों का उद्भव है अर्थात् कारण (या प्रमाण) है उन्हें ब्रह्मोद्भव कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि उन कर्मों को वेद से ही जाना जाता है। वेदविहित कर्म ही अपूर्व का साधन है किन्तु नास्तिक के द्वारा प्रतिपादित वेद—बहिर्भूत कर्म कभी भी अपूर्व की सृष्टि नहीं कर सकता है, यही कहने का अभिप्राय है। अब प्रश्न हो सकता है कि वेद में ऐसा कौन-सा वैलक्षण्य (विचित्रता) है जिससे कि वेद के द्वारा प्रतिपादित सब कुछ ही धर्म है। उसके अलावे और कुछ भी धर्म नहीं हो सकता है? इसके उत्तर में कहा जा रहा है, ब्रह्म–वेद नामक ब्रह्म, अक्षरसमुद्भवं च—अक्षर से अर्थात् सभी दोषों से विवर्जित सच्चिदानन्द ब्रह्म या परमात्मा से समुद्भूत हुआ है। (आविर्भूत हुआ है) [अर्थात् पुरुष के निःश्वास की तरह, वेद स्वतः ही विना प्रयत्न से परमात्मा से आविर्भूत हुआ। परमेश्वर ने वेद को बुद्धि के द्वारा नहीं बनाया है। इसलिए वेद को नित्य एवं अपौरुषेय माना जाता है। श्रुति में भी कहा गया है—'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरसः इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनु-व्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि निःश्वसितानि' (बृ० उ० २ । ४ १०) अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वांगिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद् श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान एवं व्याख्यान, यह सब ही उन महत् (अनवच्छिन्न) भूत के (परमात्मा के) निःश्वास की तरह हैं। जिस कारण से पुरुष के निःश्वास की तरह विना प्रयत्न के ही परमेश्वर से वेद आदि शास्त्रों का आविर्भाव हुआ है (बुद्धि के द्वारा नहीं), अतः अतीन्द्रिय विषयों में वेदवाक्य ही एकमात्र प्रमाण है। क्योंकि वेद आदि, अपौरुषेय एवं सभी प्रकार के दोषों से वर्जित होने के कारण वही प्रमिति का अर्थात् यथार्थ-ज्ञान का जनक है किन्तु नास्तिक लोगों का वाक्य बुद्धि के द्वारा एवं प्रयत्न के द्वारा प्रेरित होने के कारण वह प्रमिति का (यथार्थज्ञान का) जनक नहीं हो

सकता है, क्योंकि वे (वेदबहिर्भूत) प्राणी ऐसे व्यक्तियों के द्वारा प्रणीत किये गये हैं (रचे गये हैं) जिनमें स्वभावतः ही भ्रम, प्रमाद, इन्द्रिय की अपटुता एवं विप्रलिप्सा अर्थात् प्रतारणा की इच्छा विद्यमान रहती है। इसलिए वेद को ही सभी अलौकिक विषयों का प्रमाण माना गया है (मधुसूदन)], तस्मात्—जिस कारण से वेद का आविर्भाव पुरुष के निःश्वास की तरह परमात्मा से स्वतः ही हुआ है। उस कारण सर्वगत ब्रह्म—वेद सर्वार्थ प्रकाशक है। इस कारण वेद सर्वगत है एवं सर्वगत होने के कारण नित्यं—सदा नियमित रूप से, यज्ञे—याग आदि कर्म से उत्पन्न अपूर्व नामक अतीन्द्रिय धर्म में (मधुसूदन) प्रतिष्ठितम्—तात्पर्य के रूप में प्रतिष्ठित है। वेद में यज्ञ आदि कर्मों की विधि का विस्तृत रूप से वर्णन है एवं यज्ञविधि में वेद की प्रधानता है। इस कारण वेद सदा यज्ञ में प्रतिष्ठित है, ऐसा कहा गया है। इसलिए वर्णाश्रम धर्मपालन करनेवाले पुरुषों का कर्म किस विधि के अनुसार अनुष्ठित होना चाहिए उस विषय में वेद को ही यथार्थ प्रमाण के रूप में मानना चाहिए। अतः नास्तिकों के द्वारा प्रचारित उपधर्म परित्याग कर कर्त्तव्याकर्त्तव्य के व्यापार में वेदविहित धर्म का ही अनुष्ठान करना चाहिए, यही कहने का अभिप्राय है (मधुसूदन)।

टिप्पणी (१) श्रीधर—कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि—यजमान आदि जो कर्म करते हैं वे सब ब्रह्म अर्थात् वेद से प्रवृत्त हुए हैं। ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्—वह जो वेदाख्य ब्रह्म हैं वह अक्षर अर्थात् परब्रह्म से उत्पन्न हुआ है। श्रुति में कहा गया है—इस महाभूत के (परब्रह्म के) निःश्वास से अर्थात् विना प्रयत्न से ही स्वतः ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद की उत्पत्ति हुई है। चूँकि अक्षर परब्रह्म से यज्ञों की उत्पत्ति होती है इसलिए यज्ञ परमेश्वर का अत्यन्त (प्रिय) अभिप्रेत है। तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्—अक्षरब्रह्म सर्वगत होने से भी नित्य (सर्वदा) यज्ञ में प्रतिष्ठित रहता है अर्थात् यज्ञरूप उपाय के द्वारा इसकी प्राप्ति होती है। [यज्ञरूप उपाय के द्वारा क्रमशः अक्षर ब्रह्म की अर्थात् परमात्मा की स्वरूपता प्राप्त होती है।] इसलिए कहा जाता है कि ब्रह्म नित्य (सर्वदा) यज्ञ में प्रतिष्ठित रहता है। जैसे कि कहा जाता है कि लक्ष्मी सदा उद्यम में स्थित है अर्थात् लक्ष्मी सर्वदा उद्यम के द्वारा ही प्राप्त की जाती है। अथवा—चूँकि जगत् चक्र का मूल ही कर्म है। मन्त्रमूलक यज्ञ आदि ही कर्म है। यज्ञ आदि के द्वारा जीव की सर्वार्थसिद्धि होती है। यज्ञादि कर्म में जिन विधि तथा आख्यानों के द्वारा सभी प्रयोजनों की सिद्धि होती है उन विधि एवं आख्यानों में

वेदमन्त्र तथा अर्थवाद (प्रशंसा) के द्वारा सर्वगत अर्थात् स्थित (विद्यमान) रहता है। अतः वेदरूपी ब्रह्म तात्पर्य के रूप में सर्वदा यज्ञ में प्रतिष्ठित है। अतः यज्ञादि कर्म अवश्य कर्त्तव्य हैं। [क्योंकि वेदोक्त कर्म के द्वारा केवल जो संसार में अभ्युदय (वृद्धि) ही होता है ऐसी बात नहीं— निष्कामरूप से कर्म करने पर वह चित्तशुद्धि प्रदान कर मोक्ष का लाभ करने में सहायक होता है।]

(२) शंकरानन्द—कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि—यज्ञ के कारणभूत जो कर्म है वह ब्रह्म से (ऋक् आदि वेद) उद्भव (उत्पन्न) हुआ है, ऐसा जानो। ब्रह्म अक्षरसमुद्भवम्—और, वह ब्रह्म, या वेद अक्षर (परमात्मा) से उत्पन्न हुआ है ऐसा जानना चाहिये। श्रुति में कहा गया है—'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः' (उस महान् पुरुष के अर्थात् समस्त जगत् के कारणभूत अक्षर परमात्मा के निःश्वास के रूप में ये ऋग्वेद, यजुर्वेद इत्यादि स्वयं ही आविर्भूत हुए हैं)। अतः ब्रह्म को अर्थात् वेद को नित्य तथा अपौरुषेय मानना पड़ेगा। तस्मात्—चूँकि जगत् की उत्पत्ति तथा स्थिति का मूल यह यज्ञ ही होता है अतः सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्—स्वयं सर्वगत (समस्त अर्थ के अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष— इन पुरुषार्थों के प्रकाशक के रूप में एवं सर्वलोक में धर्म की नियति का अर्थात् नियंत्रण के स्थापक के रूप में सर्वत्र स्थित) रहकर भी ब्रह्म (वेद) यज्ञ में [ब्राह्मण आदि के द्वारा अनुष्ठान करने के योग्य उपासना से आरम्भ कर अश्वमेध तक समस्त यज्ञ कर्म में उन कर्मों का विधान करने के लिए प्रतिष्ठित रहता है नियमपूर्वक स्थित रहता है ।] समस्त वर्ण तथा आश्रमवासियों के कर्त्तव्य कर्म को वेदविहित ही कर देना है—यही कहने का अभिप्राय है।

(३) नारायणी टीका—पूर्ववर्ती श्लोक की टिप्पणी (३) द्रष्टव्य है।

[अच्छा ऐसा ही मानों हुआ, तो उसका फल क्या हुआ ? इसका उत्तर दे रहे हैं।]

एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः।
अघायुरिंद्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

अन्वय—हे पार्थ ! एवं प्रवर्तितं चक्रं यः इह न अनुवर्त्तयति, सः अघायुः इन्द्रियारामः मोघं जीवति।

अनुवाद—इस प्रकार जो व्यक्ति परमेश्वर के द्वारा प्रवर्तित संसार-चक्र को वेदविहित यज्ञ आदि के अनुष्ठान के द्वारा अनुवर्तन नहीं करता है, उसका जीवन पापमय हो जाता है क्योंकि वह व्यक्ति इन्द्रिय की तृप्ति-साधन में ही व्यस्त रहता है। अतः उन लोगों का जीवित रहना निष्फल (बेकार) है।

भाष्यदीपिका। हे पार्थ—हे पृथा पुत्र अर्जुन ! परमेश्वररूप मुझसे संसारचक्र प्रवर्तित हुआ है। तुम्हारी माता कुन्ती ने मुझको ही निरन्तर स्मरण कर इस संसार-चक्र से मुक्त होने की योग्यता प्राप्त की है। तुम उस पृथा के पुत्र हो एवं स्वयं मेरे परम भक्त हो अतः तुम्हारा जीवन कभी भी विफल नहीं होगा। इस प्रकार का आश्वासन देने के लिए ही भगवान् ने यहाँ 'पार्थ' कहकर सम्बोधित किया है। एवं प्रवर्त्तितं चक्रम्—इस प्रकार परमेश्वर ने वेदविहित यज्ञ आदि के द्वारा जो संसारचक्र प्रवर्त्तित किया है उसको [प्रथमतः, परमेश्वर से सर्वावभासक अर्थात् सभी प्रकार के अर्थ के प्रकाशक या प्रतिपादक नित्य निर्दोष वेद का आविर्भाव होता है। उसके बाद उस वेद से यज्ञ आदि कर्मों का ज्ञान होता है। यज्ञ आदि कर्म से अपूर्व नामक धर्म की उत्पत्ति होती है। उससे वृष्टि एवं उस वृष्टि से प्राणियों का जन्म होता है। पुनः संस्कार के कारण जीवों की कर्म में प्रवृत्ति होती है। यज्ञ आदि कर्म से वृष्टि, वृष्टि से अन्न एवं अन्न से प्रजा की उत्पत्ति होती है,] इस प्रकार के जगत् चक्र को, यः—जो कर्माधिकारी पुरुष, इह—इस लोक में, न अनुवर्त्तयति—अनुवर्तन नहीं करता है [जगत् निर्वाह के लिए परमेश्वर ने जिस क्रम से संसार-चक्र की व्यवस्था की है उस क्रम से वेदविहित यज्ञ आदि कर्म के अनुष्ठान के द्वारा अनुवर्तन नहीं करता है अर्थात् उन विहित कर्मों का अनुष्ठान नहीं करता है (मधुसूदन) सः अघायुः—उसका जीवन पापमय हो जाता है, इन्द्रियारामः—उससे इन्द्रियों को (विषय भोग में ही) सुख मिलता है किन्तु धर्म में या आत्मा में सुख नहीं मिलता है। इन्द्रियों के द्वारा जिसको केवल विषय में ही सुख प्राप्त होता है अर्थात् आरमण या आक्रीड़ा होती है [आ—समन्तात् अर्थात् सभी ओर रमण या क्रीड़ा होती है] अर्थात् विषय के सुख के पीछे ही सर्वदा जो भागता रहता है एवं विषयों का भोग करने से ही जिसे तृप्ति प्राप्त होती है किन्तु जगत्-चक्र की रक्षा एवं जगत् के कल्याण के लिए अथवा आत्मचिन्तन के लिए क्षणकाल के लिए भी जिसकी इन्द्रिय (मन, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ) व्याप्टत नहीं रहती हैं, उसे इन्द्रियाराम कहते हैं।

मोघं जीवति—अतः वह कर्माधिकारी होकर भी यदि शास्त्रविहित कर्म न करे तो अघायु (पापस्वरूप) एवं इन्द्रियाराम होकर मच्छर, मक्खी की तरह वृथा ही जीवन धारण करता है अर्थात् उसका जीवन निष्फल हो जाता है क्योंकि मनुष्य जीवन का परम पुरुषार्थ जो मोक्ष है, उसे वह कभी भी नहीं प्राप्त कर सकता है। [हे पार्थ ! उसको जीवित रहने की अपेक्षा मरना ही अच्छा है (अघायुः न होकर मृत्यु ही अच्छी है) क्योंकि तब वह दूसरे जन्म में धर्म-कर्म करने में प्रवृत्त हो सकता है। (इस सम्बन्ध में बृहदारण्यक उपनिषद् का १।४।१६ मंत्र द्रष्टव्य है)।] पंच महायज्ञ प्रभृति कर्मों को नहीं करने के कारण उसको पंचसूना के पाप से मुक्ति नहीं मिल सकती है। बल्कि ईश्वर की आज्ञा न मानने के कारण एवं विहित (नित्य, नैमित्तिक, अग्निहोत्र आदि) कर्म न करने से उसका पाप उत्तरोत्तर वृद्धि पाने के कारण इस जन्म में वह वृथा ही जीवन-यापन करता है तथा मृत्यु के बाद भी उसे अनेक कल्पों तक नरक में ही रहना पड़ता है। इस कारण से अनात्मज्ञ परन्तु कर्म के अधिकारी लोगों के लिए ही कर्म कर्त्तव्य है, यही तात्पर्य है। आत्मज्ञाननिष्ठा की योग्यता प्राप्त करने के पहले अनात्मज्ञ एवं कर्म के अधिकारी पुरुष को (चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के लिए) कर्मयोग का अनुष्ठान अवश्य कर्त्तव्य है। इसे 'न कर्मणामनारम्भात्' इत्यादि श्लोकों से आरम्भ कर "शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः" इस श्लोक (३।४ से ३।८) तक जो कहा गया ह उसके द्वारा प्रतिपादित किया गया है। "यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र" "मोघं पार्थ स जीवति" तक (३।९ से ३।१६ श्लोक तक) प्रसंग के क्रम से अनात्मज्ञ तथा कर्माधिकारी व्यक्ति को कर्म का अनुष्ठान अवश्य कर्त्तव्य है इस विषय में अनेक कारणों का (ईश्वरकृपा प्राप्ति इत्यादि) श्रीभगवान् ने निर्देश किया है एवं "तैर्दत्तानप्रदाय" इत्यादि श्लोकों के द्वारा यही प्रतिपादित किया है कि यज्ञ आदि को नहीं करने से दोष हुआ करता है। [अतः तत्त्वज्ञान न होने तक स्व स्व वर्णाश्रमोचित कर्मों को अवश्य करना चाहिए, यही भगवान् के कहने का अभिप्राय है।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[चूँकि परमेश्वर ने ही जीव की पुरुषार्थ-सिद्धि के लिए कर्मादि चक्र को प्रवर्त्तित (स्थापित) किया है अतः उस कर्म-चक्र का जो अनुवर्त्तन (अनुसरण) नहीं करता है उसका जीवन वृथा है, इसे ही अब कह रहे हैं—] परमेश्वर के वाक्य से उत्पन्न वेदाख्यब्रह्म से पुरुष की कर्म में प्रवृत्ति होती है, उससे कर्म निष्पन्न होता है एवं वे यज्ञ

आदि कर्म सम्पादित होने से पर्जन्य, पर्जन्य (वृष्टि) से अन्न, अन्न से भूत (प्राणी) उत्पन्न होता है एवं भूतों की (प्रजाओं की) पुनः पूर्व संस्कारवश कर्म में प्रवृत्ति होती है। **एवं प्रवर्त्तितं चक्रं यः इह न अनुवर्त्तयति**—इस प्रकार प्रवर्त्तित चक्र का जो इस लोक में अनुवर्त्तन नहीं करता है अर्थात् यज्ञ आदि कर्म नहीं करता है **सः अघायुः इन्द्रियारामः**—वह पापायुः होता है क्योंकि वह इन्द्रियाराम रहता है अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा विषयों में सदा रमण करता है किन्तु ईश्वर की आराधना के लिए कोई कर्म नहीं करता है अतः **हे पार्थ ! मोघं स जीवति**—हे अर्जुन ! ऐसा व्यक्ति व्यर्थ ही जीवन धारण करता है।

(२) **शंकरानन्द**—ईश्वर ने श्रुति के द्वारा (वेद विधि के द्वारा) यज्ञ आदि का विधान कर यज्ञ के द्वारा वृष्टि तथा अन्न उत्पन्न कर प्राणियों की सृष्टि तथा उसकी स्थिति निर्वाह करने की इच्छा कर स्वयं ही पूर्ववर्ती श्लोक में उक्त चक्र को प्रवर्त्तित किया है। **एवं प्रवर्त्तितं चक्रम्**—ईश्वर के द्वारा प्रवर्त्तित (चालित) उस चक्र का नियमपूर्वक, **इह**—इस लोक में **यः**—जो ब्राह्मण आदि कर्माधिकारी पुरुष, **न अनुवर्त्तयति**—अनुष्ठान नहीं करता है अर्थात् परमेश्वर के द्वारा वेदविहित कर्मयोग का अनुष्ठान नहीं करता है वह ईश्वर की इस आज्ञा का पालन न कर स्वयम् **इन्द्रियारामः**—इन्द्रियों के विषयों में सर्वदा रमण करता है। उसे इन्द्रियाराम या विषयलम्पट कहा जाता है। इस प्रकार वह विषयलम्पट होकर, **अघायुः**—पापायु होता है। जिसकी आयु (जीवन) फल अघ अर्थात् पापयुक्त ही रहती है; उसे अघायु कहा जाता है। इस प्रकार **मोघं स जीवति**—वह व्यर्थ जीवन व्यतीत करता है। कौवे या शाल्मली वृक्ष की तरह उसका जीवन मोघ अर्थात् व्यर्थ या निष्फल हो जाता है। केवल इतना ही नहीं, बल्कि ईश्वर की आज्ञा को न मानने के कारण एवं विहित कर्मों को नहीं करने के कारण रोज उसका पाप संचित होता जाता है। इसके फलस्वरूप अनेक कल्पों तक उसे नरक का भोग करना पड़ता है—यही 'मोघ' शब्द का तात्पर्य है। अतः विवेकी, मुमुक्षु एवं अनात्मज्ञ व्यक्ति को संसार से उत्तीर्ण होने के लिए एवं लोगों के हित के लिए वेद में कहे गये कर्मों को अवश्य ही करना चाहिए, यह भगवान् की वाणी से सिद्ध हुआ है !

(३) **नारायणी टीका**—जो अज्ञानी पुरुष परमेश्वर के द्वारा प्रवर्त्तित जगत् चक्र का अनुवर्त्तन नहीं करता है उसके सम्बन्ध में श्लोक में "अघायुः"

"इन्द्रियारामः" "मोघं जीवति" इन तीनों शब्दों का प्रयोग किया गया है। अघ (अर्थात् पाप) का फल है दुःख तथा पुण्य का फल है सुख। सर्वोत्कृष्ट पुण्य उसे ही कहा जाता है जिसके द्वारा सर्वोत्तम अर्थात निरतिशय सुख की प्राप्ति हो। श्रुति में कहा गया है "भूमैव सुखम्" अर्थात् भूमा ही (ब्रह्म या प्रत्यगात्मा ही) सुखस्वरूप है। इसके अलावा और सब कुछ ही तुच्छ (अल्प) है। अल्प में सुख नहीं है (नाल्पे सुखमस्ति)। अतः जब आत्मानन्द की प्राप्ति होती है तभी समझना होगा कि सर्वोत्कृष्ट पुण्य की प्राप्ति हुई है। जो कुछ उस आत्मानन्द से हटा लिया जाता है वही पाप है क्योंकि वह व्यक्ति को जन्म तथा मृत्यु के प्रवाह में निमज्जित कर देता हैं (डुबाता है) इसलिए उसको सर्वदा ही दुःख प्राप्त होता है परन्तु वेदविहित ये समस्त कर्म निष्कामरूप से अनुष्ठित होने पर वे आत्मानन्द में पहुँच जाते हैं। इस लिए वह सब ही पुण्य का हेतु है। परमेश्वर के द्वारा प्रवर्त्तित संसार के बारे में १४–१५ श्लोक में जो कुछ कहा गया है उसका मूल सूत्र यह है कि अपने-अपने कर्म के द्वारा आत्मदान (आत्मत्याग) कर दूसरे की वृद्धि करना यज्ञ आदि कर्म (अपूर्व नामक धर्म) अपने को लय कर मेघ वृष्टि को उत्पादन करता है; मेघ या वृष्टि अपने को लय कर अन्न का उत्पादन करती है; अन्न आत्मदान कर (अपने को लय कर) प्राणी का उत्पादन करता है। जगत् की दूसरी प्राकृतिक वस्तु (क्षिति, जल, अग्नि, वायु, आकाश एवं उनका कार्य पत्थर वृक्ष प्रभृति) ही इस आत्मदान का उज्ज्वल दृष्टान्त है। इस प्रकार आत्मदान से ही जगत् की प्रत्येक वस्तु की सार्थकता होती है। जो लोग जगत् के इस नियम का उल्लंघन कर इन्द्रियाराम होते हैं अर्थात् केवल अपने इस परिच्छिन्न क्षुद्र देह तथा इन्द्रियों की तृप्ति के लिए ही व्यस्त रहते हैं उन लोगों की देहात्मबुद्धि कभी भी नष्ट नहीं होती है। अतः वह कभी भी भूमा में (ब्रह्म में) आत्मबुद्धि कर (अहं ब्रह्मास्मि अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ इस प्रकार की भावना के द्वारा) परमानन्द की प्राप्ति नहीं कर सकता हैं। इन्द्रियाराम होने के कारण देह-इन्द्रिय के द्वारा वेदविहित कर्मों को करके अपने संचित पापों को तो नष्ट कर ही नहीं सकता हैं बल्कि वेदरूपी ईश्वराज्ञा को न मानने के कारण पाप क्रमशः बढ़ता जाता है एवं वह अन्त में अघायु अर्थात् पापस्वरूप हो जाता है। पुनः विहित कर्मों को न करने से उसकी चित्तशुद्धि कभी भी नहीं हो सकती। एवं चित्त-शुद्धि के अभाव के कारण देहेन्द्रियादि से विलक्षण चैतन्य स्वरूप आत्मा को पृथक् कर आत्मदर्शन कर मनुष्यजीवन की लक्ष्य वस्तु जो मोक्ष है उसे

प्राप्त नहीं कर सकता है। अतः इस प्रकार के व्यक्ति का मनुष्य-जीवन व्यर्थ ही हो जाता है (मोघं पार्थ स जीवति)। कीट, मच्छर, इत्यादि जैसे जन्म लेकर कुछ दिन के बाद ही मर जाते हैं विषयी लोगों का जीवन भी जगत् के किसी कल्याण के लिए अथवा आत्मकल्याण के लिए कुछ भी न करने के कारण निष्फल हो जाता है। अर्थात् विहित कर्मों को न करने से एवं निषिद्ध कर्मों को करने से उन्हें पापमय जीवन यापन करना (बिताना) पड़ता है एवं मृत्यु के पश्चात् इस कारण नरक में जाकर उन्हें और भी दुःखों का भोग करना पड़ता है। यही इस श्लोक का तात्पर्य है।

[पूर्ववर्ती कुछ श्लोकों में जो कुछ कहा गया है वही अगर सिद्धान्त हो तब आत्मज्ञ तथा अनात्मज्ञ इन दोनों को ही क्या परमेश्वर के द्वारा प्रवर्त्तित इस जगत् चक्र के अनुवर्त्तन के लिए विहित कर्म का समान रूप से अनुष्ठान करना पड़ेगा ? अथवा क्या यह समझना चाहिए कि आत्मतत्त्वज्ञ सांख्ययोगी लोग केवल ज्ञानयोग के द्वारा जिस निष्ठा की प्राप्ति करते हैं एवं पूर्वोक्त कर्मयोग के अनुष्ठानरूप उपाय के जो प्राप्तव्य (साध्य) हैं वह ज्ञाननिष्ठा जिस व्यक्ति को नहीं प्राप्त हुई है, उस प्रकार के आत्मविद् व्यक्ति को ही इस जगच्चक्र के अनुसार कर्म करना पड़ेगा ? इस प्रकार का प्रश्न अर्जुन के मन में उदित हो सकता है, ऐसी आशंका कर भगवान् उसके उत्तर में कह रहे हैं—"यस्त्वात्मरतिरेव स्याद्"इत्यादि। अथवा "इस आत्मतत्त्व को जानकर (अर्थात् परमात्मा, ब्रह्म तथा जीवात्मा एक दूसरे से अभिन्न है, इसका निश्चय कर) जिनका मिथ्याज्ञान निवृत्त हुआ है एवं जिन इच्छाओं को (कामनाओं को) [पुत्रैषणा (पुत्र की कामना), वित्तैषणा (वित्त की कामना) एवं लोकैषणा (लोक में मान, प्रतिष्ठा के लिए कामना)] मिथ्याज्ञानवान् पुरुष लोग किया करते हैं, उन इच्छाओं से जो ज्ञानी लोग निवृत्त होकर केवल मात्र शरीर यात्रा के लिए भिक्षाचर्या करते हैं उन पुरुषों को आत्म-ज्ञान की निष्ठा के अतिरिक्त दूसरा कोई कार्य नहीं करना चाहिए (बृह० उ० ३।५।१), इस प्रकार श्रुति वाक्य का अर्थ (तात्पर्य), गीताशास्त्र में स्वयं ही प्रतिपादन करने की इच्छा कर श्रीभगवान् अब कह रहे हैं—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

अन्वय—यः तु मानवः आत्मरतिः एव आत्मतृप्तः च आत्मनि एव सन्तुष्टः च स्यात् तस्य कार्यं न विद्यते।

अनुवाद—दूसरी ओर जो व्यक्ति केवल आत्मा में रमण करता है एवं केवल आत्मा में ही तृप्ति लाभ करता है एवं आत्मा से ही संतुष्ट रहता है उस व्यक्ति के लिये कोई कर्त्तव्य कर्म नहीं है।

भाष्यदीपिका—यः तु मानवः—पूर्व श्लोकों में कथित अनात्मज्ञ व्यक्ति से पृथक् जो सांख्य अर्थात् आत्मज्ञाननिष्ठ संन्यासी [पूर्ववर्ती श्लोकों में कहे गये अनात्मज्ञ व्यक्ति को आत्मज्ञ व्यक्ति से पृथक् करने के लिए 'तु' शब्द का व्यवहार किया गया है।] [भगवान् शंकराचार्य के मतानुसार 'मानव' शब्द का अर्थ है संन्यासी। शंकरानन्द कहते हैं—"बहिरन्तश्च सर्वत्र ब्रह्मैव मापयति ग्राहयति मानं प्रत्यग्दर्शनं तदेव सर्वदा वाति भजतीति मानवो ब्रह्मविद् यतिः" अर्थात् बाहर तथा अन्दर सभी जगह ब्रह्म को ग्रहण कराता है उसे मान या प्रत्यग्दर्शन कहा जाता है। उस प्रत्यग्दर्शन का जो सर्वदा भजन करता है उसे मानव या ब्रह्मज्ञानी कहा जाता है। मधुसूदन सरस्वती कहते हैं—जो व्यक्ति तत्त्वज्ञ होंगे उनको ही ऐसा होगा अर्थात् वे ही कृतकृत्य होंगे—केवलमात्र जन्म की उत्कर्षता के लिए ही व्यक्ति ब्राह्मण इत्यादि होते हैं, ऐसी बात नहीं, इस प्रकार के अर्थ प्रकाश करने के लिए 'मानवः' पदको प्रयुक्त किया गया है।]

आत्मरतिः एव स्यात्—आत्मा में ही रति है अर्थात् परमात्मा के साथ अपनी आत्मा का ऐक्य अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि'। [मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसा साक्षात्कार कर नित्यानन्द, एकरस, परब्रह्मस्वरूप आत्मा में जिसकी रति (अन्तःकरण से रमण क्रीड़ा या सर्वदा विहार) है] किन्तु शब्द आदि विषय में अथवा माला, चन्दन, स्त्री प्रभृति में किसी प्रकार का अनुराग नहीं रहता है उस महात्मा को ही 'आत्मवृत्ति' कहा जाता है।

आत्मतृप्तः च—आत्मा के द्वारा ही जिसको तृप्ति होती है, स्वादिष्ट अन्न तथा रस आदि में (भोग्य चोजों में) जो तृप्ति का अनुभव नहीं करते हैं। [यहाँ 'च' शब्द 'एव' अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। आत्मतृप्तः च आत्मतृप्तः एव (जो व्यक्ति आत्मतृप्त ही रहते हैं, इस प्रकार के अर्थ में व्यवहार किया गया है।)]

"आत्मलाभान्न परं विद्यते" अर्थात् आत्मलाभ से श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है। अतः आत्मानन्द से पूर्ण होने पर उनके लिये प्राप्त करने की या आकांक्षा करने की कोई भी चीज नहीं रहती है। अतः जो सर्वदा ही आत्मानन्द में निमग्न रहते हैं, वे ही आत्मतृप्त हैं।

आत्मनि एव च सन्तुष्टः—सभी विषयों से तृष्णाहीन होकर जो संन्यासी आत्मा में ही सन्तुष्ट रहते हैं। सभी लोगों को बाह्य विषयों को प्राप्त करने में सुख प्राप्त होता है किन्तु बाह्य विषयों को प्राप्त करने की अपेक्षा न कर अर्थात् सभी विषय भोगों से तृष्णाहीन होकर जिसकी बाह्य तथा आभ्यन्तर चित्तवृत्ति (जिस प्रकार कामीपुरुष भोग्य पदार्थों को भोग करने में ही सन्तुष्ट रहता है, उसी प्रकार) आत्मा में परितुष्ट रहती है। [आत्मन्येव च सन्तुष्टः' इस स्थान में 'च' शब्द का समुच्चय के अर्थ में प्रयोग किया गया है। अर्थात् जो एक ही साथ आत्मरति, आत्मतृप्त एवं आत्मा में ही सन्तुष्ट रहते हैं—इस प्रकार तीनों विशेषणों को समुच्चय (एकत्र) करने के लिये 'च' शब्द का व्यवहार किया गया है। **तस्य**—जो ऐसे तत्त्वज्ञानी हैं उस महापुरुष को (आत्मविद् को,) **कार्यं न विद्यते**—कोई कार्य नहीं रहता है।

टिप्पणी (१) मधुसूदन—इन्द्रियाराम व्यक्ति माला, चन्दन प्रभृति वस्तुओं में रति—अनुभव करता है, मनोज्ञ अन्न, पान आदि में तृप्ति—अनुभव करता है एवं पशु, पुत्र, वित्त तथा सुवर्ण आदि की प्राप्ति में एवं रोग आदि के अभाव में तुष्टि—अनुभव करता है। रति, तृप्ति तथा तुष्टि ये सब मनोवृत्तियाँ हैं एवं इनकी अनुभूति साक्षी चैतन्य के द्वारा होती है। जो व्यक्ति आत्मसाक्षात्कार कर आत्मज्ञान में निष्ठा प्राप्त करते हैं उनके पास (क) जागृत अवस्था में (समाधि से उत्थान होने पर) द्वैतवस्तु की प्रतीति होने से भी उनकी दृष्टि में आत्मा के अतिरिक्त सभी वस्तु तुच्छ प्रतीत होती है। अतः उनमें विषयों के प्रति कोई तृष्णा नहीं रहती है। अतः उनको आत्मा में ही रति रहती है। (ख) सभी प्रकार के आनन्द की प्रतिष्ठा या आधार जो ब्रह्मानन्द है, उसे प्राप्त करने से स्वतः ही दूसरे सब आनन्द की प्राप्ति होती है, इसे "यावान् अर्थ उदपाने" इसे (गीता २।४६) पहले ही कहा गया है। अतः वे आनन्दस्वरूप आत्मा में ही तृप्त रहते हैं। (ग) तत्त्वज्ञ पुरुष को "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "वासुदेवः सर्वमिति' (सब ही वासुदेव या ब्रह्म है) इस प्रकार सर्वत्र एक ही आत्मा, ब्रह्म या वासुदेव भगवान् के रूप में दर्शन होने के कारण अपने से भिन्न कोई वस्तु नहीं रहती है। अतः रमण करने के लिये अथवा सन्तोष लाभ करने के लिये उन्हें आत्मा से भिन्न किसी दूसरी वस्तु की आवश्यकता नहीं रहती है। अतः वे आत्मा में ही संतुष्ट रहते हैं। इस प्रकार के आत्मरत, आत्मतृप्त तथा आत्मसंतुष्ट व्यक्ति के लिये कोई कार्य ही नहीं रह सकता है अर्थात् तत्त्वज्ञानी को किसी दूसरे

विषयों की आवश्यकता न रहने के कारण लौकिक अथवा वैदिक किन्हीं कर्म के सम्बन्ध में कर्त्तव्यता नहीं रहती है।

(२) आनन्दगिरि—आत्मरतिः आत्मतृप्तः आत्मनि सन्तुष्टः—रति, तृप्ति तथा सन्तोष का मोद, प्रमोद तथा आनन्द की तरह भेद है। अथवा रति—विषयासक्ति। (आत्मरतिः—बाह्य विषयासक्ति से शून्य होकर आत्मविषय में ही जिनकी आसक्ति है, वे आत्मरति हैं) तृप्ति—विषयों के सम्पर्क से उत्पन्न सुख। अतः आत्मतृप्तः—आत्मा के साथ विशेष सम्पर्क के कारण जिनको तृप्ति या सन्तोष मिलता है, वे, सन्तोष—अभीष्ट विषयों को प्राप्तकर जिन साधारण (अविशेष) सुखों की प्राप्ति होती है उसको सन्तोष कहा जाता है। अतः आत्मनि सन्तुष्टः—अभीष्ट आत्मा को प्राप्तकर जिनको सामान्य (अविशेष) सुख या सन्तोष प्राप्त होता है, वे।

(३) श्रीधर स्वामी—[कर्म नहीं करने से कोई भी नैष्कर्म्य-सिद्धि या ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है। इसलिये अज्ञव्यक्ति को चित्तशुद्धि के लिये कर्मयोग का अनुष्ठान करना कर्तव्य है, ऐसा कहकर १७–१८ श्लोक में कहा जा रहा है कि ज्ञानी व्यक्ति को कर्म करने को कोई आवश्यकता नहीं है।] यः तु—परन्तु जो व्यक्ति, आत्मरतिः—आत्मा में रत रहता है अर्थात् जिसको, आत्मा से ही प्रीति है, आत्मतृप्तः—अपने स्वरूपानन्द के अनुभव में मग्न है अतः आत्मनि च सन्तुष्टः—आत्मा में ही सन्तुष्ट है [सन्तोष प्राप्त करने के लिये आत्मा के बाहर (आत्मविरक्ति) किसी वस्तु की आवश्यकता जिसको नहीं रहती है अर्थात् बाह्य किसी प्रकार के भोग की जिसे अपेक्षा नहीं है], तस्य कार्यं न विद्यते—उनके लिये कोई कर्त्तव्य-कर्म नहीं रहता है।

(४) शंकरानन्द—गीताशास्त्र में श्रीभगवान् ने 'ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्' (सांख्य अर्थात् संन्यासियों को ज्ञानयोग के द्वारा एवं योगी अर्थात् गृही को कर्मयोग के द्वारा) इस प्रकार उत्तर दक्षिण मार्ग के बराबर दो भिन्न-भिन्न निष्ठा विभाग कर 'तदेकं वद निश्चित्य' (उनमें किसी एक के बारे में कहो) इस प्रकार अपने कर्त्तव्य के बारे में कर्माधिकारी अर्जुन के प्रश्न करने पर अर्जुन की समस्या सामने उपस्थित रहने के कारण अर्जुन के हित के लिये उपदेश देते समय—'न कर्मणामनारम्भात्' (कर्मारम्भ के बिना) इत्यादि वचन के द्वारा कर्मयोग आरम्भ कर 'नियतं कुरु कर्म त्वम्' (तुम नियत कर्म करो) इतनी दूर तक अर्जुन के लिये उपदेश देकर 'यज्ञार्थात्' (गीता ३।९) से आरम्भ कर 'मोघं पार्थ स जीवति'

(गीता ३।१६) इन श्लोकों में कहा कि अनात्मज्ञ मुमुक्षु को अन्तःकरण की शुद्धि के लिये कर्म अवश्य करना चाहिये। क्योंकि विहित कर्म करने से देवताओं एवं ईश्वर का प्रसाद प्राप्त होता है, इसे सूचित करने के लिये अनेक प्रक्रियाओं के द्वारा कर्म की कर्त्तव्यता को निश्चय कर सांख्य यति के (ज्ञानयोग में अधिकारी संन्यासियों के लिए) लिये ज्ञाननिष्ठा के विना दूसरा कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है—इसे सूचित करने के उद्देश्य से श्रीभगवान् अब कह रहे हैं—

यः तु मानवः—'तु' शब्द का, अनात्मवस्तु में जिसकी रति है उससे आत्मरति मानव को व्यावृत्त करने के लिए (भेद दिखाने के लिए) प्रयोग किया गया है। बाहर तथा अन्दर सर्वत्र ही सर्वत्र ब्रह्म को ही 'मापयति—ग्राहयति' अर्थात् मापयति ग्रहण कराता है उसे **मान** अर्थात् प्रत्यगात्मदर्शन कहा जाता है। उस प्रत्यग्दर्शन को 'वरति भजतीति' अर्थात् जो सर्वदा भजन करते हैं उनको मानव अर्थात् ब्रह्मज्ञानी यति कहा जाता है। इस प्रकार जो मानव **आत्मरतिः**—'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इस प्रकार श्रुति में कहे गये रीति के अनुसार अपनी आत्मा के रूप में साक्षात्कृत नित्यानंदैकरस अद्वितीय परब्रह्म में ही जिनकी स्वाभाविक रति (अन्तःकरण में रमण) अर्थात् क्रीड़ा (सर्वदा विहार) होती है वह 'आत्मरति' हैं। श्रुति में भी कहा गया है 'आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः' अर्थात् जो ब्रह्मज्ञानी सर्वदा आत्मा में ही विहार करता है, अनात्मा में (देह आदि में या बाह्य विषयों में जिसका विहार या रति नहीं है) **आत्मतृप्तः च**—एवं जो आत्मतृप्त है अर्थात् आनन्दैकरसपूर्ण आत्मा का साक्षात्कार कर जो तृप्त रहता है क्योंकि स्मृति शास्त्र में कहा गया है 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' (आत्मलाभ से बड़ा और कुछ लाभ नहीं है)। अतः दूसरी कोई प्राप्तव्य वस्तु न रहने के कारण आत्मा की प्राप्ति से ही समस्त जागतिक वस्तु में जिनकी अलंबुद्धि (पर्याप्त बुद्धि) होती है वह आत्मतृप्त होता है। **आत्मनि एव सन्तुष्टः**—जिस प्रकार आँख रूप के दर्शन से ही संतुष्ट हो जाती है उस प्रकार बाहर तथा भीतर सर्वत्र एकमात्र चिदानन्दैकरस ब्रह्मरूप आत्मा ही चित्तवृत्ति का विषयभूत रहने के कारण जो संतुष्ट रहते हैं अथवा जिस प्रकार का भी पुरुष इष्ट अर्थ में (अभिलषित विषय में) संतुष्ट रहता है उसी प्रकार जब आत्मा में ही मानव संतुष्ट रहता है तब **तस्य**—उस महात्मा आत्माराम संन्यासी को, **कार्यं**—कर्त्तव्य कर्म **न विद्यते**—नहीं रहता है क्योंकि पूर्णकाम होने के कारण उसके लिए प्राप्त करने की और कोई वस्तु नहीं रहती है।

शंका—विद्वान् व्यक्ति को कर्म में समान अधिकार है। अतः विद्वान् को भी वैदिक कर्मानुष्ठान करना चाहिए क्योंकि कर्मविधि सभी के लिए ही बराबर है। विद्वान् शास्त्र और उसके अर्थ एवं नियम जानते हैं एवं शास्त्र से ही विद्वान् यजते (विद्वान् यजन करते हैं) इस प्रकार विशेष विधान रहने के कारण विधिबल के अनुसार विद्वान् को अवश्य कर्त्तव्य करना है, ऐसा यदि है ?

समाधान—नहीं, ऐसी शंका युक्तियुक्त नहीं है। इस विषय में मैं आपको प्रश्न करूँगा—जो पर तथा अवर का (ब्रह्म तथा जीव का) एकत्व विज्ञानरूप वह्नि के द्वारा द्वैतभ्रम को समूल नष्ट कर दिये हैं इस प्रकार के जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी, जो सब कुछ ब्रह्म के रूप में ही दर्शन करते हैं उनका कर्म क्या अपने लिये या दूसरों के लिये होगा ? यदि अपने लिये हो तो वह इहलोक या परलोक के फल के लिये होगा ? यदि इहलोक के फल के लिये हो तब क्या वह कर्म शरीर की रक्षा के लिये होगा, न कि परिग्रह की रक्षा के लिए होगा या भोग-विलास के लिए होगा ?

प्रथम पक्ष—जीवन्मुक्त पुरुष को शरीर की रक्षा के लिए कर्म करना सम्भव नही है क्योंकि सभी वस्तु उनके पास मिथ्या सिद्ध होने के कारण वे मिथ्या वस्तु को प्राप्त करना केवल परिश्रम ही समझते हैं अतः इसलिए वे प्रयत्न भी नहीं करते। पुनः वे शरीर की स्थिति को प्रारब्ध के अधीन ही मानते हैं अतः देह की रक्षा के लिए भी विद्वान् पुरुष कर्म नहीं करते हैं।

द्वितीय पक्ष—अर्थात् परिग्रह रक्षा करने के लिए भी वे कर्म करना युक्त नहीं मानते हैं क्योंकि 'एवं वै तमात्मानं विदित्वा' (इसप्रकार उस आत्मा को जानकर) इत्यर्थक श्रुतिवाक्य से पता चलता है कि जो लोग मिथ्याज्ञान से निवृत्त हुए हैं वैसे ब्रह्मज्ञानियों की सभी प्रकार की कामनाएँ (पुत्र की कामना, वित्त की कामना, लोक में मान प्रतिष्ठा की कामना) नष्ट हो जाती हैं। अतः विरक्त विद्वान् पुरुष को किसी प्रकार का परिग्रह न रहने के कारण परिग्रह रक्षा के लिए कर्म करना भी सम्भव नहीं होता है।

तृतीय पक्ष—अर्थात् विलास के लिए कर्म करना भी विद्वान् व्यक्ति के लिए युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि जो समस्त वस्तु को एकमात्र आत्मा के रूप में ही दर्शन करते हैं, जिनको आत्मा में ही निरन्तर रति है। उस विद्वान् पुरुष को आत्मा के अतिरिक्त और किसी वस्तु में रति होना असम्भव है। अतः उनके पास विलास नाम की कोई वस्तु नहीं रहती है। एवं विलास के

लिये कर्म करना भी उनके लिये असम्भव ही है। और यदि कहो कि परलोक में स्वर्ग प्राप्तिरूप फल के लिये विद्वान् व्यक्ति कर्म करे, तो प्रश्न है कि (क) परलोक में स्वर्ग प्राप्ति के लिए विद्वान् व्यक्ति कर्म करें, या (ख) मोक्ष प्राप्ति के लिए और न तो (ग) आत्मशुद्धि के लिए कर्म करें! इनमें प्रथम पक्ष तो संगत नहीं है क्योंकि 'पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः' (पर्याप्तकाम कृतात्म पुरुष की समस्त कामना यहीं अर्थात् इस शरीर में ही नष्ट हो जाती है) इस प्रकार श्रुतिवाक्य से पता चलता है कि विद्वान् व्यक्ति की सभी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं। अतः विद्वान् व्यक्ति में स्वर्गप्राप्ति के लिए कामना नहीं रहने के कारण स्वर्ग-प्राप्ति के उद्देश्य से कर्म करना भी असम्भव है। द्वितीय पक्ष—अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिये भी कर्म करना संगत नहीं है, क्योंकि 'न कर्मणा न प्रजया' (न तो कर्म के द्वारा और न तो प्रजा अर्थात् सन्तान आदि के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है) इस प्रकार श्रुति-वाक्य में कर्म को मोक्ष का साधन नहीं माना है अर्थात् वे प्रति कर्म के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। इसके अलावा विद्वान् पुरुष के लिये, मोक्ष प्राप्त करने के उद्देश्य से कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं है। तृतीय पक्ष भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि यदि आत्मशुद्धि का अर्थ शरीर शुद्धि से लिया जाय तो 'कलेवरं मूत्रपुरीषभाजनम्' (यह शरीर मूत्र तथा विष्ठा का पात्र है) इस प्रकार के स्मृतिवचन रहने के कारण और वह प्रत्यक्षसिद्ध होने के कारण भी मलमांसास्थिविशिष्ट शरीर की शुद्धि किसी कर्म के द्वारा भी सम्भव नहीं है। और यदि आत्मशुद्धि का अर्थ चित्तशुद्धि से लिया जाय तो 'यतयः शुद्धसत्त्वाः'—इत्यादि श्रुतिवचन से प्रमाणित होता है कि चित्तशुद्धि होने से ही सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति होती है। अतः जिस विद्वान् में सम्यग्ज्ञान उत्पन्न हुआ है उसे पुनः चित्तशुद्धि की अपेक्षा नहीं रहती है। इसलिए चित्तशुद्धि के लिये कर्म करना उसके लिये संगत नहीं है। और यदि कहो कि आत्मशुद्धि का अर्थ है आत्मा की शुद्धि, तब कहूँगा कि 'अस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्' (आत्मा नाड़ीविहीन शुद्ध अपापविद्ध निष्पाप है।)

इस प्रकार श्रुतिवाक्य से पता चलता है कि आत्मा नित्य शुद्ध है। उसके अलावा आत्मा निरवयव है अतः वह कर्म का अविषय है। अतः कर्म के द्वारा आत्मा की शुद्धि होगी, ऐसी कल्पना करना भी युक्तिसंगत नहीं है। जिस आत्मा के ज्ञान के बल से विष्णु, रुद्र, आदि देवता लोग शत शत करोड़ अकार्य करके भी स्वयं शुद्ध रहते हैं एवं दूसरे को शुद्ध कराते हैं

उस आत्मा को कौन एवं किसके द्वारा शुद्ध करेगा ? शास्त्र में कहा गया है 'स्वत एव सतः शुद्धिर्नाऽसता येन केनचित्' (सत् वस्तु की शुद्धि स्वतः ही होती है, कोई असत् अर्थात् मिथ्या वस्तु के द्वारा सत् वस्तु की शुद्धि नहीं हो सकती है) । अतः आत्मा स्वतः ही शुद्ध है । और यदि कहो कि विद्वान् का कर्म तब दूसरे के लिए ही हो ? तब प्रश्न है—दूसरों का अर्थात् लोगों के हित के लिए जो कर्म करते हैं वे क्या अपरोक्ष ज्ञानी हैं या परोक्षज्ञानी ? यदि अपरोक्ष ज्ञानी हों तब क्या वे संन्यासी हैं या गृहस्थ ? प्रथमपक्ष युक्त नहीं है अर्थात् अपरोक्षज्ञानी संन्यासी के लिए दूसरों के हित के लिए कर्म करना सम्भव नहीं है क्योंकि वे निरभिमान होने के कारण एवं सभी कर्म तथा कर्मों के साधनों को त्याग करने के कारण उनमें कर्मशब्द प्रयुक्त नहीं हो सकता है अर्थात् उनके द्वारा कर्मानुष्ठान सम्भव नहीं है । देह, वर्ण तथा आश्रम आदि में 'मैं' तथा 'मेरा' ऐसा अभिमान, प्रपंच में सत्यत्वबुद्धि, विषयों की इच्छा, कर्त्तव्यता की बुद्धि, कर्त्तव्य न करने में पाप का भय एवं शास्त्र का भय—इन सब कर्मों में प्रवृत्ति का बीज है । इन सब को ही ब्रह्म तथा जीवात्मा का एकत्वविज्ञानरूप महाग्नि के द्वारा समूल दग्ध कर स्वयं निष्क्रिय ब्रह्मस्वरूप में स्थित रह कर अनात्मवस्तु के (देहेन्द्रिय आदि के) साथ तादात्म्यरूप (एकत्वबोध) रहने के कारण जो अज्ञान-ग्रन्थि विद्यमान थी उसे जो दग्ध किये हैं एवं सभी वस्तु में आत्मभाव (मैं ही यह हूँ, यह भाव) प्राप्त हुए हैं इस प्रकार के स्वात्माराम यति के लिए जब कुछ कहना ही (आत्मा से भिन्न दूसरी चीज के सम्बन्ध में कहना ही) सम्भव नहीं है तब, उनकी कोई कर्म में प्रवृत्ति होना सम्भव नहीं है, इसमें तो कहना ही क्या है ? श्रुति में इसलिए कहा गया है—'प्राणो ह्येष सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी' (यह प्राण ही अर्थात् ब्रह्म ही सर्वभूत के द्वारा प्रकाशित हो रहा है, जो विद्वान् ऐसा जानते हैं वे अतिवादी नहीं होते हैं अर्थात् आत्मा के अतिरिक्त और किसी मिथ्या विषय के सम्बन्ध में बात नहीं करते हैं ।) इसलिए जो ब्रह्मनिष्ठ एवं आत्मरति हो गये हैं उनके लिए, अपने लिए एवं दूसरों के लिए कर्म में प्रवृत्त होना सम्भव नहीं है । अनेक हजार जन्म में किये गये पुण्यकर्म के फलस्वरूप एवं ईश्वर प्रसाद से सभी दृश्यों का मिथ्यात्व निश्चित कर "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार ब्रह्मस्वरूप के साथ एकत्व विज्ञान जब अप्रतिबद्धरूप से समुत्पन्न होता है तब गृहस्थ भी याज्ञवल्क्य आदि की तरह वासनाओं से मुक्त हो जाते हैं एवं अज्ञानरूप कारण न रहने के कारण उनके लिए 'मैं' तथा 'मेरा' ऐसा संकल्प कर कर्म करना सम्भव

नहीं है। देह आदि में अहंभाव एवं देहादि से भिन्न पदार्थ में ममत्व बोध ही संसार का कारण है। 'मैं ब्रह्म हूँ' इस एकत्व विज्ञान के द्वारा जिनका ये दोनों ही नष्ट हो गया है उनको जन्ममरणरूप संसार नहीं रहता है। 'मैं ब्रह्म ही हूँ' यह विज्ञान और 'मैं ब्राह्मण हूँ' 'यह मेरा है' ऐसी बुद्धि प्रकाश तथा अन्धकार की तरह परस्पर विरुद्ध है। अतः एक पुरुष में दोनों का रहना सम्भव नहीं है। इसलिए ब्रह्मतत्त्वविज्ञानरूप खड्ग के द्वारा जिन्होंने हृदय-ग्रन्थि को (अज्ञान ग्रन्थि को) छेदन कर दिया है, उस विद्वान् के लिए पुनः पुनः संस्मरण (संसार चक्र में भ्रमण) सम्भव नहीं है। अतः ज्ञान प्राप्त करने के बाद गृहस्थ विद्वान् भी संसार से मुक्त हो जाते हैं। यदि वैसा गृहस्थ विद्वान् मुक्त न हो तब उस (संन्यासी) विद्वान् पुरुष का भी अज्ञान तथा अज्ञान के कार्यों से निवृत्ति होने से भी मुक्ति होना सम्भव नहीं है। और यदि कहो कि मुक्ति के लिए प्रारब्ध न रहने के कारण ही ब्रह्मभाव-प्राप्त गृहस्थ भी गृहत्याग नहीं कर सकते हैं, तो इसके उत्तर में कहा जायेगा कि ऐसी उक्ति युक्ति संगत नहीं है। वह विद्वान् गृहस्थ जड भरत की तरह गृह में ही रह जाते हैं—'मैं' तथा 'मेरा' ऐसा भाव उनमें नहीं रहता है। इसलिए उनको संसारगति नहीं प्राप्त होती है क्योंकि जगत् के मिथ्यात्व का ज्ञान तथा संसार-गति परस्पर विरुद्ध है।

जिस प्रकार निर्जल मरुभूमि को देख कर अर्थात् मरु में पानी नहीं हैं ऐसा जानकर दूर से पानी प्रतीत होने से भी उस जल को ग्रहण करने के लिए अथवा जल को पीने के लिए विवेकी व्यक्ति कभी भी नहीं जाते हैं। बलवान् व्यक्ति के द्वारा प्रेरित होकर स्वयं वेगपूर्वक अथवा हर्ष के साथ कभी नहीं जाते हैं किन्तु हाय कितना कष्ट है इस प्रकार रोते हुए धीरे-धीरे चलते रहते हैं एवं दूसरों को भी वैसा कार्य करने के लिए प्रेरित नहीं करते हैं इस प्रकार प्रतिकूल प्रारब्धवान् होकर भी सर्वमिथ्यात्वदर्शी जागतिक सब वस्तु मिथ्या है ऐसा जो प्रत्यक्ष अनुभव किये हैं इस प्रकार के विद्वान् कर्म करते समय आनन्द का अनुभव नहीं करते हैं एवं दूसरों को भी कर्म में नियुक्त नहीं करते हैं किन्तु भग्नकटि (जिसकी कमर टूटी हुई है) सर्प की तरह मन्दगति हो जाते हैं क्योंकि समस्त प्रवृत्तियों का हेतु जो अनात्म-देहेन्द्रियादि में अहंभाव (बोध) 'यह' और 'उनका' नहीं रहता है। जिस प्रकार ब्राह्मण चंडाल को स्पर्श करने में रुचि नहीं रखता है उसी प्रकार 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार ब्रह्म के साथ एकात्मबोध के द्वारा ब्रह्म में स्थित विद्वान् को अपने शरीर को स्पर्श करने की रुचि (अर्थात् शरीर में 'मैं' यह बोध)

सम्भव नहीं है। देह के साथ तादात्म्यबोध नहीं रहने से 'मैं' तथा 'मेरा' ऐसा व्यवहार करना सम्भव नहीं है। ब्रह्मज्ञानी के लिए देहादि में तादात्म्य-बुद्धि भयानक दुःखकर है एवं उस तादात्म्य के द्वारा 'मैं' तथा 'मेरा' ऐसी प्रवृत्ति भी अत्यन्त दुःखदायक होती है एवं इस प्रकार की प्रवृत्ति के द्वारा कर्म करना और भी दुःख का कारण है, ऐसा जानकर विद्वान् व्यक्ति गृहस्थ होने से भी समस्त कर्मों का त्याग कर देते हैं—वे अपने लिए अथवा दूसरो के लिए कर्म करने में समर्थ नहीं होते हैं।

अतः चतुर्थ अध्याय में एवं इस तृतीय अध्याय में जिस लोकसंग्रह के बारे में श्रीभगवान् कहेंगे वह परोक्ष-ज्ञानी के लिए ही करना सम्भव है, अपरोक्षज्ञानी के लिए वह असम्भव है क्योंकि अनात्मदेहेन्द्रियादि में उसका अहंभाव सम्पूर्णरूप से निवृत्त हो गया है। शंका हो सकती है कि 'योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः। सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।' 'नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।' (योगयुक्त, विशुद्धान्तःकरण जितेन्द्रिय एवं सर्वभूत में जो आत्मबुद्धि करते हैं ऐसे विद्वान् कर्म करके भी लिप्त नहीं होते हैं। युक्त पुरुष ऐसा सोचते हैं कि वे कुछ भी नहीं करते हैं—गीता ५।७-८) इत्यादि वाक्यों का अर्थ विचार करने से जब अपरोक्षज्ञानी को भी लोक-संग्रह के लिए नित्य कर्म करना कर्त्तव्य प्रतीत होता है तब परोक्षज्ञानी ही लोक-संग्रह के लिए कर्म करेंगे, ऐसा नियम कैसे बनाया जा सकता है? और विशुद्धात्मत्वादि विशेषण ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मज्ञ के बिना परोक्षज्ञानी में किस प्रकार प्रयुक्त हो सकता है? पुनः उक्त वाक्य में 'मुनि' तथा 'तत्त्ववित्' शब्द के द्वारा ब्रह्मवित् का लक्षण ही दीखता है। अतः अपरोक्षज्ञानी को भी लोकसंग्रह के लिए कर्म करना कर्त्तव्य है, ऐसा यदि कहें? इसके उत्तर में कहा जायेगा—यह बात सत्य है कि विशुद्धात्मत्वादि विशेषणों के द्वारा अज्ञानी व्यक्ति से ब्रह्मवित् को पृथक् कर दिखाया गया है—क्योंकि इस प्रकार की मुक्ति का लक्षण शत जन्म में भी दूसरों के लिए प्राप्त करना सम्भव नहीं है। तब तुमको पूँछ रहा हूँ—अपरोक्षज्ञानी तो दो प्रकार का होता है (१) सिद्ध अपरोक्षज्ञानी एवं (२) साधक अपरोक्षज्ञानी, इनमें सिद्ध अपरोक्षज्ञानी का लोकसंग्रह करना कर्त्तव्य है न कि साधक अपरोक्ष ज्ञानी का। सिद्ध अपरोक्षज्ञानी मुक्त पुरुष होने के कारण उनके द्वारा लोक संग्रह असम्भव है। 'मैं और यह सब ब्रह्म है' इस प्रकार नित्यनिरन्तर ब्रह्मनिष्ठा के द्वारा तीक्ष्णीकृत जीव तथा ब्रह्म का एकत्वविज्ञानरूप खड्ग के द्वारा द्वैतभ्रम बन्ध को काटकर ब्रह्मादि स्तम्बतक समस्त प्राणी के साथ जो ब्रह्मज्ञानी

यति अपने को भी मुक्त मानता है उसकी दृष्टि में कोई भी प्राणी बद्ध नहीं है क्योंकि समस्त प्राणी ब्रह्म के रूप में अनुभूत होने के कारण उसको दृष्टि में सभी ही मुक्त हो जाते हैं। अतः वैसे ब्रह्मज्ञानी के लिए लोकसंग्रह का कोई प्रश्न ही नहीं है। जिस प्रकार देवदत्त सभी के पहले स्वयं भोजन कर अपने को ही मुक्त देखते हैं, दूसरों को नहीं, अथवा जिस प्रकार यज्ञदत्त स्वयं सबके पहले निद्रा से उठकर अपने को ही जाग्रत देखता है उस प्रकार विद्वान् केवल अपने को ही मुक्त नहीं देखते हैं बल्कि स्वरूपविज्ञान के द्वारा अपने को एवं समस्त प्राणि को मुक्त देखते हैं। जिस प्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति अपने चेतनतायुक्त विज्ञान के द्वारा ब्रह्मांड में स्थित प्राणियों को चेतनत्व-धर्म विशिष्ट ही मानता है अथवा जिस प्रकार पाचक पात्र के एक चावल को उबला हुआ देखने से दूसरों को भी उबला ही मानता है उस प्रकार ब्रह्मज्ञानी यति अपनी मुक्ति के द्वारा सभी को ही मुक्त मानते हैं। यदि कोई केवल अपने को ही मुक्त देखता है, दूसरों को नहीं तो वह व्यक्ति ब्रह्मवित् नहीं है एवं मुक्त भी नहीं है अर्थात् वह वाणी के द्वारा ही मुक्त है किन्तु अविद्या-बन्ध से मुक्त नहीं है, जिस प्रकार विवेकी पुरुष सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा तरंग, बुद्बुद् आदि को जलमय अर्थात् उन्हें पानी के रूप में देखते हैं अथवा जिस प्रकार स्वर्णकार मुकुट, एवं दूसरे गहनों में स्वर्ण को ही देखता है अथवा जिस व्यक्ति ने रज्जु को जान लिया है वह जिस प्रकार रज्जु में प्रतिभासित सर्प को रज्जुमात्र ही देखता है उस प्रकार जो प्रत्यग् दृष्टि के द्वारा अपने को एवं समस्त जगत् को ब्रह्म-मात्र मानते हैं वह ब्रह्मवित् ही अद्वैतदर्शी एवं अविद्याबन्ध से विमुक्त हो जाते हैं, जो व्यक्ति निद्रा से उठे हुए व्यक्ति की तरह अपने से (आत्मा से) भिन्न दूसरे किसी को नहीं देखता है, इस प्रकार के अद्वैतदर्शी की, पूर्णस्वरूप में अवस्थित, ब्रह्मविद्वरिष्ठ, सिद्ध महात्मा की दृष्टि में लौकिक विधि-विधान और विधेय आदि का अभाव होने के कारण विधि, विधान अथवा विधेय के उद्देश्य से किसी कर्म में भी प्रवृत्ति नहीं होती है। और यदि कहो कि गीता में 'कुर्वन्नपि' न लिप्यते' (कर्म करते हुए भी वह लिप्त नहीं होता है) ऐसा प्रवृत्तिद्योतक वचन विद्यमान रहने के कारण ब्रह्मवित् महात्मा की कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती है, ऐसी बात कैसे कहो जाय ? इस प्रश्न का उत्तर गीता के ५।७ श्लोक की व्याख्या में कहा जायेगा।

'विद्वान् यजते' (विद्वान् यजन करते हैं) इस वाक्य में विद्वान् शब्द का अर्थ ब्रह्मवित् नहीं है परन्तु जो ब्राह्मण वेद को जानते हैं उनको लक्ष्य कर यहाँ विद्वान् शब्द को प्रयुक्त किया गया है। क्योंकि ब्रह्मवित्

संन्यासी का सब कर्म संन्यास (त्याग) होने के कारण समस्त लौकिक विषयों की तरह का भी मिथ्या कोटो के भीतर प्रवेश होने के कारण अर्थात् जगत् का मिथ्यात्व निश्चित होने के पश्चात् विधि प्रभृति भी मिथ्या निश्चित होने के कारण उस प्रकार के विद्वान् के लिए किसी प्रकार का कर्मविधि-प्रयुक्त नहीं हो सकता है। द्वितीय पक्ष अर्थात् 'साधक' अपरोक्षज्ञानी लोक संग्रह करेंगे ऐसा कहना भी युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि मुमुक्षु साधक संन्यासी के लिए शास्त्र में कोई विधि नहीं है अर्थात् मुमुक्षु संन्यासी, जो निदिध्यासन का अभ्यास करने में ही तत्पर है उसके लिए समाधि के विना लोकसंग्रह के लिए अन्य किसी भी कर्म को करना कोई विधि शास्त्र में नहीं है। तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत (आत्मा को ही जानकर धीर अर्थात् विवेकी पुरुष प्रज्ञा करते अर्थात् आत्मा ब्रह्म ही है ऐसी बुद्धि) 'परं ब्रह्मानुसन्दध्यात्' (परब्रह्म का अनुसाधान करते हैं) 'यच्छेद्वांङ्मनसी प्राज्ञः' (विद्वान् व्यक्ति वाणी को मन में लय कर देते हैं), 'ब्राह्मणः पांडित्यं निर्विद्य वाल्येन तिष्ठासेत्' (ब्राह्मण पांडित्य को त्याग कर वाक्य रूप में अवस्थान करेंगे) इस प्रकार की ज्ञाननिष्ठा ही मुमुक्षु साधक के लिये कर्त्तव्य है, श्रुति ऐसा ही निर्देश करती है। स्मृति में भी (गीता में) कहा गया है 'मनः संयम्य मच्चित्तः' (मन को संयत कर मुझमें अर्थात् आत्मा में चित्त को सन्निशिष्ट करो।), 'ध्यानयोगपरो नित्यम्' (नित्य ध्यानयोगपरायण होओ गीता १८।५२), 'वाचं यच्छ मनः यच्छ' (मन को संवरण अर्थात् संगत करो, वाणी का संवरण करो)। इन वाक्यों से यही सिद्ध होता है कि जो संन्यासो 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार के आत्मतत्त्व को जानते हैं (एवं निरन्तर ब्राह्मीस्थिति प्राप्त करने के लिये समाधि का अभ्यास कर रहे हैं, अतः जो अभी भी साधक की अवस्था में है अर्थात् जो साधक अपरोक्ष ज्ञानी है) उनके लिए समाधि ही कर्त्तव्य है। दूसरे किसी प्रकार का श्रौत या स्मृति कर्म स्वार्थ या परार्थ के लिए (अपने लिए अथवा दूसरे के लिए) करने का विधान विधिशास्त्र में नहीं है।

'शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनया चरेत्' (शौच, आचमन अथवा स्नान विधि के वशीभूत होकर नहीं करते हैं) ऐसे स्मृतिवाक्य ज्ञान-निष्ठापुरुष के लिए विधि के अभाव को ही सूचित कर रहा है। श्रुति में भी कहा गया है—'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (संन्यासी इस आत्मलोक को प्राप्त करने की इच्छा कर गृहत्याग कर परिव्राजक वन

जायेंगे) अर्थात् जिज्ञासा उत्पन्न होने के कारण जो सभी कर्मों का त्याग किये हैं ऐसे जिज्ञासु यति के लिए कहा गया है 'जिज्ञासायां संप्रवृत्तो नाद्रियेत् कर्मचोदनाम्' (जिज्ञासा में प्रवृत्त होकर कर्मविधि का आदर नहीं करे)। अतः जिज्ञासु संन्यासी का भी जब श्रवण आदि ज्ञान के साधनों के बिना कोई कर्त्तव्य नहीं रहता है एवं उनको भी कर्मविधि की उपेक्षा करने का उपदेश दिया गया है तब सिद्ध ब्रह्मविद्वरिष्ठ अपरोक्षज्ञानी का अथवा जो आत्मतत्त्व को जाने हैं परन्तु जो समाधि के लिए साधनरत हैं, ऐसे पुरुषों के लिए कर्म का तन्त्र या विधान नहीं हो सकता है, इस विषय में कहने को और क्या है ? अतः जो अनेक बार वेदान्त आदि को श्रवण कर आभासतः आत्मज्ञानी बने हैं अर्थात् आत्मतत्त्व का आभासमात्र प्राप्त किये हैं किन्तु 'मैं' और 'मेरा' इत्यादि (बुद्धि को वशीभूत होकर) वाह्य वासनाओं के द्वारा बद्ध हैं ऐसे परोक्षज्ञानी ही लोक-संग्रह वचन का विषय हैं अर्थात् वैसे परोक्ष-ज्ञानी के लिए ही लोक-संग्रह के लिए कर्म करना सम्भव है। अथवा लोक में सभी के प्रति अनुग्रह करने के लिए ब्रह्मा के द्वारा सृष्ट महानुभाव व्यास, अगस्त्य, पराशर, वशिष्ठ आदि एवं उनके बराबर के अन्य अधिकारी पुरुष जो निग्रह या अनुग्रह करने में समर्थ हैं, वे ही लोकसंग्रह के वचन का विषय बनते हैं। (अर्थात् तत्त्वज्ञानी होने पर भी उनके लिए कर्म करना सम्भव है क्योंकि वे अधिकारी पुरुष हैं)। सिद्ध या साधक मुमुक्षु यति उक्त लोक-संग्रह वचन का विषय नहीं है। इस कारण से सर्वज्ञ भगवान् ने कहा है— 'तस्य कार्यं न विद्यते' (उनका कोई कर्तव्य नहीं रहता है)।

(४) नारायणी टीका—प्रथम अध्याय के परिशिष्ट में 'तृतीय अध्याय के तात्पर्य' में ३।१७–१८ श्लोक का तात्पर्य द्रष्टव्य है।

[आत्मतत्त्वज्ञ व्यक्ति को क्यों किसी प्रकार का कर्त्तव्य कर्म नहीं रहता है, उसे विशेष रूप से कह रहे हैं—]

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

अन्वय—तस्य इह कृतेन कश्चित् अर्थः न एव (अस्ति) अकृतेन च कश्चन न। अस्य सर्वभूतेषु कश्चित् अर्थव्यपाश्रयः न।

अनुवाद—इस आत्मवित् व्यक्ति का किसी प्रकार के कार्य के द्वारा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, किसी विहित कर्म को नहीं करने से भी

कोई अनर्थ नहीं होता है, चूँकि इस जगत् में सभी प्राणियों में किसी के भी पास से उसको किसी प्रयोजन की अपेक्षा नहीं रहती है।

भाष्यदीपिका—इह—इस लोक में कृतेन—अनुष्ठित कर्म के द्वारा तस्य—परमात्मा में, जिनकी रति हुई है ऐसे ज्ञानी पुरुष का अर्थः—कोई प्रयोजन न एव—रह ही नहीं जाता है। [एवं शब्द का निश्चय के अर्थ में व्यवहार किया गया है। अर्थात् तत्त्वज्ञ पुरुष को किसो कर्म के द्वारा किसी प्रयोजन-सिद्धि की आवश्यकता नहीं रहती है क्योंकि वे स्वर्ग आदि रूप अभ्युदय (समृद्धि) की प्रार्थना नहीं करते हैं और निःश्रेयस (मोक्ष) कर्म साध्य नहीं है केवल कर्म के द्वारा असम्भव है (अर्थात् ज्ञान न होने तक), मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। अतः उनको किसी भी प्रकार की कर्म की अपेक्षा नहीं रहती है। श्रुति में भी कहा गया है 'नास्त्यकृतः कृतेन' (मु० उ० १।२।१२) अर्थात् अकृत (नित्य मोक्ष) कृतकर्म के द्वारा नहीं प्राप्त किया जा सकता है। "नैव" शब्द के द्वारा प्रकाश किया जा रहा है कि मोक्ष ज्ञान-साध्य भी नहीं है अर्थात् उसे ज्ञान के द्वारा भी उत्पन्न नहीं किया जा सकता है। क्योंकि निःश्रेयस (मोक्ष) आत्मा का ही स्वरूप है, अतः वह नित्यप्राप्त है। अज्ञान ही उसे (आत्मस्वरूप को) आवृत किया हुआ है। तत्त्वज्ञान के प्रभाव से वह अज्ञान दूर हो जाने से आत्मा का स्वरूप स्वतः ही प्रकाशित होता है, अतः उस आत्मवित् का कर्मसाध्य या ज्ञानसाध्य कोई प्रयोजन नहीं रहता है अर्थात् उसको किसी भी प्रकार का प्रयोजन नहीं रहता है जो कि किसी कर्म के द्वारा या ज्ञान के द्वारा सिद्ध हो सके। (मधुसूदन)]

अब शंका हो सकती है कि अभ्युदय और निःश्रेयस् के लिए तत्त्वज्ञानी को किसी प्रकार के कर्म का प्रयोजन न रहने पर भी विहित कर्मों को न करने से प्रत्यवाय (पाप) अवश्य होगा। अतः प्रत्यवाय (पाप) का परिहार करने के लिए ज्ञानी को भी कर्मों को करना उचित है। इसके उत्तर में कह रहे हैं—

इह अकृतेन कश्चन न—विहित कर्मों को (नित्य नैमित्तिक कर्मों को) न करने से इस संसार में उन्हें किसी प्रकार का प्रत्यवाय या आत्महानि लक्षण-रूप अनर्थ नहीं होता है, [विहित कर्मों को नहीं करने से प्रत्यवाय (पाप) होने पर उनके लिए स्वर्ग आदि प्राप्त करना असम्भव होता अथवा विहित कर्मों को नहीं करने से यदि पूर्वलब्ध चित्तशुद्धि का अभाव होता तब ज्ञान के

आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करना सम्भव नहीं होता। ऐसा होने पर ज्ञानी को आत्महानि लक्षणरूप अनर्थ की प्राप्ति होती। किन्तु ज्ञानी को कर्म परित्याग करने से वैसा किसी प्रकार का अनर्थ नहीं होता है। (क्योंकि ज्ञानी व्यक्ति पहले ही चित्तशुद्धि प्राप्त कर ज्ञानप्राप्त किये हैं। तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के बाद ज्ञानी का चित्त फिर अशुद्ध नहीं हो सकता है। तत्त्वज्ञान प्राप्त कर ज्ञानी जीवन्मुक्ति की अवस्था प्राप्त करते हैं। मोक्ष स्वर्ग से नित्य, निरतिशय एवं अनन्तसुखदायक है। अतः ज्ञानी व्यक्ति को कर्मत्याग करने में किसी प्रकार की हानि की सम्भावना नहीं रहती है। यही इस श्लोक में कहने का तात्पर्य है।] न च—इस स्थान में 'च' शब्द का हेतु के अर्थ में व्यवहार किया गया है अर्थात् चूँकि नहीं इस अर्थ में प्रयोग किया गया है (मधुसूदन) अस्य—इस आत्मनिष्ठ व्यक्ति का सर्वभूतेषु—ब्रह्मादि स्थावर तक प्राणियों में किसी के पास कश्चित्—किसी प्रकार का अर्थव्यपाश्रयः—व्यपाश्रय है। व्यपाश्रय शब्द का अर्थ है अवलम्बन (आनन्दगिरि) और 'अर्थ' शब्द का अर्थ है प्रयोजन। अतः अर्थव्यपाश्रय—अर्थ के (प्रयोजन के) लिए व्यपाश्रय अवलम्बन या आश्रय) अर्थात् स्वार्थसिद्धि के लिए व्यक्ति को ब्रह्मा से स्थावर तक किसी प्राणी-विशेष की आवश्यकता नहीं होती है इसे ही 'अर्थव्यपाश्रयः न' पद का तात्पर्य है। कहने का अभिप्राय यह है कि ज्ञानी व्यक्ति के प्रयोजन की सिद्धि के लिए कोई क्रियासाध्य वस्तु नहीं है अर्थात् किसी प्राणी या देवताविशेष को अवलम्बन (आश्रय) कर कर्म के द्वारा किसी वस्तु को प्राप्त करने की आवश्यकता ज्ञानी व्यक्ति को नहीं रहती है अतः उन्हें कोई कर्म करने की भी आवश्यकता नहीं रहती है। ज्ञानी के लिए कर्म करना या न करना दोनों ही निष्प्रयोजन है। इस कारण से श्रुति कह रही है—'नैनं कृताकृते तपतः' अर्थात् ज्ञानी को कृत अथवा अकृत (कोई कर्म तापित नहीं कर सकता है। यज्ञ आदि कर्मों को न करने से देवताओं के द्वारा विघ्न की सम्भावना रह सकती है—यह बात ज्ञानोदय के पहले ही होती है। किन्तु आत्मज्ञान में निष्ठा होने से देवताएँ भी उसके लिए किसी प्रकार के विघ्न या प्रतिबन्ध को सृष्ट नहीं कर सकते हैं। इसलिए श्रुति में कहा गया है—"तस्य ह न देवश्चनाभूत्यै ईशत आत्मा ह्येषां स भवति" (बृह० उ०) अर्थात् देवताएँ भी उसको विघ्न नहीं पहुँचा सकते हैं क्योंकि वह (ज्ञानी) सभी का आत्मस्वरूप हो जाता है। अतः मोक्ष के पथ में विघ्न का निवारण करने के लिए भी ज्ञानी व्यक्ति को देवताओं की आराधना करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। (मधुसूदन)]

हे अर्जुन, तुम अब तक इस 'सर्वतः संप्लुतोदकस्थानीय सम्यक् दर्शन में स्थित नहीं हो सके हो अतः तुम्हारे लिए विहित कर्म करना कर्त्तव्य है। यही भगवान् के कहने का अभिप्राय है।

टिप्पण। (१) **मधुसूदन—(क) न चास्य सर्वभूतेषु कश्चित् अर्थ-व्यपाश्रयः**—वशिष्ठदेव ने ज्ञान को सात भूमिकाएँ निरूपित की हैं—(१) **शुभेच्छा**—नित्य-अनित्य वस्तुओं के विवेक के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा (जिस कारण प्रव्रज्या (संन्यास) ग्रहण करना पड़ता है), (२) **विचारणा**—संन्यास के वाद गुरूपसदनपूर्वक श्रवणमननरूप वेदान्त वाक्यों का विचार; (३) **तनुमनसा**—विचार के वाद निदिध्यासन के अभ्यास के द्वारा एकाग्रता प्राप्त करने से मन की सूक्ष्म वस्तुओं को ग्रहण करने की योग्यता। यह तीन का साधन एवं जब तक यह साधन अवस्था रहती है तब तक इसे योगियों की जाग्रदावस्था कही जाती है क्योंकि मुमुक्षु के पास इस अवस्था में जगत् से सम्बन्धित भेदज्ञान विद्यमान रहता है; (४) **सत्त्वापत्ति**—वेदान्त वाक्यों को श्रवण करने से निर्विकल्प ब्रह्म तथा आत्मा के ऐक्य का साक्षात्कार यह योगियों की स्वप्नावस्था है अर्थात् जिस प्रकार स्वप्न में दृष्टविषय मिथ्या प्रतिपन्न होते हैं उसी प्रकार सत्त्वापत्ति की अवस्था में भी समस्त जगत् स्वप्न के रूप में मिथ्या प्रतीत हुआ करता है, इस अवस्था को प्राप्त करने से योगियों को ब्रह्मवित् कहा जाता है, (५) **असंसक्ति**—सविकल्प समाधि के अभ्यास के कारण मन निरुद्ध होने से जिस निर्विकल्प समाधि अवस्था की प्राप्ति होती है उसे असंसक्ति कहा जाता है। यह योगियों की सुषुप्ति अवस्था है अर्थात् जागतिक विषयों में कोई भेद बुद्धि नहीं रहती है। फिर सुषुप्त व्यक्ति की तरह इस अवस्था में योगी दूसरों के प्रयत्न के विना स्वयं ही उत्थित हो जाते हैं। इस प्रकार के योगी ब्रह्मविदों में उत्कृष्ट हैं, (६) **पदार्थभाविनी**—असंसक्ति का अभ्यास परिपक्व होने से ज्ञानी की जिस अवस्था में अनेक दिनों तक निर्विकल्प समाधि रहती है उसे पदार्थभाविनी अवस्था कहा जाता है। इसे योगियों की 'गहरी सुषुप्ति' अवस्था कही जाती है क्योंकि इस अवस्था में योगी स्वयं समाधि से उत्थित नहीं होता है किन्तु दूसरों के प्रयत्न से उनका उत्थान होता है। ऐसे पुरुषों को ब्रह्मविदों में उत्कृष्ट कहा जाता है, (७) **तुरीय**—इस अवस्था में योगी स्वतः या परतः उत्थान प्राप्त नहीं करते हैं क्योंकि वे सभी प्रकार के भेद दर्शनों से रहित हो जाते हैं। वे तब व्यापक रूप से परि-पूर्ण परमानन्दस्वरूप ब्रह्म में ही तन्मय हो जाते हैं—उनके किसी प्रकार के प्रलय के विना ही उनकी प्राण-वायु परमेश्वर के द्वारा ही प्रेरित हुआ करती है

एवं उनकी जीवन-यात्रा भी दूसरों के द्वारा ही निर्वाहित होती है। उस प्रकार के योगियों को ब्रह्मविदों में ब्रह्मविद्वरिष्ठ (उत्कृष्टतम) कहा जाता है। इस भूमिका को योग की विदेहमुक्ति की अवस्था कहा जाता है। यह अवस्था वाक्य से अगम्य है—यह शान्त स्वरूप है एवं योगभूमियों में यही शेष सीमा या चरम स्थान है। इस अवस्था को लक्ष्य करके ही भागवत में कहा जाता है—"देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्। दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं वासो यथा परिकृतं मदिरामदन्धः। देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत् स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः। तं सप्रपंच-मधिरूढसमाधियोगः स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः। (भागवत ११।१३।३६,३७) अर्थात् मदिरा पान कर मत्ततावशतः बाह्य ज्ञानशून्य व्यक्ति को जिस प्रकार यह बोध नहीं रहता है कि कटिदेश में कपड़ा है या नहीं उस प्रकार सिद्ध (तत्त्वज्ञानी) महापुरुष को भी दैववश से प्राप्त अथवा दैवक्रम से परित्यक्त यह नश्वर देह रहा या नष्ट हो गया उसका कोई ध्यान नहीं रहता है क्योंकि वे सर्वदा ही स्वरूप में अवस्थित रहते हैं। पुनः दैव के अधीन उसका यह देह भी तबतक प्राणयुक्त रहता है जब तक प्रारब्ध कर्म बलवान् रहता है। स्वप्नभंग होने के बाद जागा हुआ व्यक्ति जिस प्रकार स्वप्नदृश्य का अनुसरण नहीं करता है उस प्रकार समाधियोग में अधिरूढ़ व्यक्ति भी द्वैतप्रपंच के साथ देह को पुनः प्राप्त नहीं करते हैं। श्रुति में भी कहा गया है—"तद्यथाहिर्निल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेतेऽयायमशरीरो मृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव इति" अर्थात् साँप का ऊपर का आवरण जिस प्रकार चींटी आदि की चालो हुई मिट्टी के ढेर के ऊपर परित्यक्त होकर पड़ा रहता है! ठीक उस प्रकार ज्ञानी व्यक्ति का भी यह शरीर पड़ा रहता है और यह जो अशरीर अमृतप्राण (आत्मा) है वह तेजःस्वरूप ब्रह्म में परिणत हो जाता है।

चतुर्थी भूमिका ज्ञानं तिस्रः स्युः साधनं पुरा।
जीवन्मुक्तेरवस्थास्तु परा तिस्रः प्रकीर्त्तिताः॥

अर्थात् उक्त सात भूमिकाओं में चतुर्थ भूमिका सत्तापत्ति है। (ज्ञान की अवस्था) उसके पहले की तीन (शुभेच्छा, विचारणा, तनुमनसा) सत्तापत्ति के साधन हैं और सत्तापत्ति की परवर्तिनी तीन भूमिका (असंसक्ति, पदार्थभाविनी तथा तूरीय) को जीवन्मुक्ति की अवस्था कहा जाता है। इन सातों में प्रथम तीन भूमिका में यदि अज्ञानी व्यक्ति भी आरूढ़ रहता है तब वह कर्म का अधिकारी नहीं रहता है। अतः जो सत्तापत्ति की अवस्था प्राप्त

कर ज्ञान भूमि में आरूढ़ है अथवा परवर्ती जीवन्मुक्त की तीन अवस्थाओं में किसी एक को प्राप्त करता है तो वह किस प्रकार कर्म का अधिकारी बन सकता है ? अतः ज्ञानी व्यक्ति को किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए आश्रय या कर्म की आवश्यकता नहीं रह सकती है।

श्रीधर—[आत्माराम पुरुष को क्यों कार्य नहीं रहता है उसका हेतु निर्देश कर रहे हैं] इह कृतेन—इस जगत् में कर्म के द्वारा तस्य अर्थः न एव अस्ति—उसका पुण्य नहीं होता है न अकृतेन कश्चन—कर्म को नहीं करने से भी कोई प्रत्यवाय (दोष या पाप) नहीं होता है क्योंकि उसमें अहंकार न रहने के कारण वह विधिनिषेध से अतीत हो जाता है। तब भी श्रुति कहती है—'तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विदुरिति' (मनुष्य ब्रह्मको जाने—यह बात देवताओं को प्रिय नहीं है) अतः मोक्षप्राप्त करने में देवताओं के द्वारा विघ्न की सम्भावना रहने के कारण उन विघ्नों को दूर करने के लिए कर्म के द्वारा देवताओं की सेवा करनी चाहिए ऐसी यदि आशंका हो तब इसके उत्तर में कर रहे हैं अस्य सर्वभूतेषु—इस आत्माराम पुरुष का सर्वभूत में अर्थात् ब्रह्मा से स्थावर तक सभी प्राणियों में कश्चित् अर्थ-व्यपाश्रयः च न—अर्थ के (मोक्ष के) लिए कोई व्यपाश्रय (आश्रय अर्थात् आश्रय करने के योग्य कोई) भी नहीं है। इस पुरुष को देवताओं से भी किसी प्रकार के विघ्न की सम्भावना नहीं है इसे श्रुति ने भी कहा है—तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशते आत्मा ह्येषां स भवति (आत्मतत्त्वज्ञ पुरुष को अभूति अर्थात् ब्रह्मभाव के प्रतिवन्धक उपस्थित करने में देवता लोग भी समर्थ नहीं होते हैं क्योंकि ये आत्मतत्त्वज्ञ पुरुष उनकी भी (देवता लोगों की भी) आत्मा ही हुआ करते हैं (अपनी आत्मा का कोई भी अनिष्ट करना नहीं चाहता है) अतः सम्यक् ज्ञानोत्पत्ति के पहले ही देवता विघ्न की सृष्टि कर सकते हैं। [श्रुति के वचन में 'च न' अव्यय शब्द का अर्थ है अपि अर्थात् देवता भी। अतः 'यदेतद्ब्रह्म मनुष्या विद्युस्तदेषां देवानां न प्रियमिति' (देवताओं के निकट मनुष्यों का ब्रह्मज्ञान अप्रिय होता है) ऐसा कहकर श्रुति सूचित कर रही है कि देवता अज्ञानी व्यक्ति के कर्म में ही विघ्न डाल सकते हैं तत्वज्ञानी के नहीं)।

(२) शंकरानन्द—ब्रह्मा इत्यादि अपने अपने पद को प्राप्त कर जिस सुख को प्राप्त किये हैं वह सब ही कर्मजन्य है अर्थात् वे लोग पूर्वजन्म में जिन अच्छे कर्म का अनुष्ठान करके प्रकृति-पुण्य प्राप्त किये थे उसी का फल

है। यह पद अर्थात् ब्रह्मा, इन्द्र आदि का पद। कर्म के द्वारा ही सर्वत्र सुख प्राप्त होता है। अतः ब्रह्मज्ञानी भी जब सुख की ही सर्वदा कामना करते हैं तब निरन्तर उस सुख को प्राप्त करने के लिए उन्हें किसी न किसी प्रकार का कर्म करना ही चाहिए ऐसा यदि कहूँ। **समाधान**—नहीं ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं है क्यों कि 'आनन्दं ब्रह्म' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (आनन्द ब्रह्म है विज्ञान तथा आनन्द ब्रह्म है) इस प्रकार ब्रह्म के आनन्दैकरूपत्व श्रुति वाक्य से जाना जाता है। अतः निरन्तर ब्रह्मनिष्ठा के द्वारा जो ब्रह्मभाव प्राप्त होकर अखंडानन्द स्वरूप में स्थित हैं इस प्रकार के यति को निरन्तर अनवच्छिन्न ब्रह्मानन्द के रस का अनुभव स्वतः होते रहने के कारण उनको अनित्य क्रियाजन्य (कर्म से उत्पन्न) सुख की अपेक्षा नहीं रहती है। अतः कर्म के द्वारा जिसकी प्राप्ति हो सकती है ऐसे किसी विषय के द्वारा ब्रह्म-विद् का कोई प्रयोजन सिद्ध नही हो सकता है अथवा वह विषय प्राप्त नहीं होने से (उस विषय के अभाव में) कोई अनर्थ या हानि नहीं होती है। इसे ही अब कह रहे हैं।

तस्य कृतेन अर्थो न एव—'मैं ही यह सब हूँ' इस प्रकार सभी वस्तु में अद्वितीय आत्मा को जो देखते हैं उस आत्माराम एव आत्मानन्द में सिद्ध निरन्तर स्थित संन्यासियों के लिए कर्म के द्वारा प्राप्त होने के योग्य कोई अर्थ (प्रयोजन सिद्धि) रह ही नहीं जाता है क्योंकि वे आत्मा में ही तृप्त रहते हैं एवं आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब कुछ ही मिथ्या मानते हैं। यौगिक क्रिया के द्वारा प्राप्तव्य आकाशगमनादि एवं अणिमादि सिद्धि की भी वे अपेक्षा नही करते हैं एवं सर्वतोभाव प्राप्त होने के कारण तपस्या रूप क्रिया के द्वारा प्राप्तव्य ब्रह्मा या इन्द्र आदि के पदों की अपेक्षा करना उनके लिए सम्भव नहीं है। पुनः जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त होने के कारण वैदिक क्रिया के द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त कर जो मोक्ष की प्राप्ति सम्भव ह उस मोक्ष की भी उनको अपेक्षा (प्रयोजन) नहीं रहती है। इस कारण ब्रह्मविद् पुरुष को कर्मरूप साधन योग्य अर्थात् कर्म से प्राप्ति करने के योग्य कोई अर्थ विषय नहीं रहता है।

प्रश्न है—अच्छे कर्म के द्वारा प्राप्तव्य अर्थ की (विषयों की) अपेक्षा नहीं रहने से भी ब्रह्मज्ञानी के लिये विधियों को न मानने के कारण दोष और विहित कर्मों को न करने के कारण प्रत्यवाय (पाप) तो होगा ही। अतः इस प्रकार के दोषों से ज्ञानहानि या स्वरूपहानि का प्रसंग तो रहेगा ही। इस शंका के उत्तर में कह रहे हैं—

न इह अकृतेन कश्चन (अनर्थः सम्भवति)—उक्त लक्षणविशिष्ट ब्रह्मवित् पुरुष के अकृतेन अर्थात् विहित कर्मों का आचरण नहीं करने से भी इस लोक में पूर्वोक्त ज्ञानहानि या स्वरूपहानि (स्वरूप से च्युति) रूप कोई अनर्थ नहीं हो सकता है। 'मायामात्रमिदं द्वैतम्' (ये सब द्वैत माया मात्र है) इस न्याय के अनुसार विधि भी अविद्यारूप होने के कारण मिथ्या ही है। अतः विद्वान् के लिये विधियों को न मानने से किसी दोष की उत्पत्ति नहीं होती है। श्रुति में कहा गया है 'उभे ह्येवैष एते आत्मानं स्पृणुते (पाप तथा पुण्य दोनों को ही ये अपनी आत्मा के रूप में जानते हैं) इस वाक्य के अनुसार सर्वत्र एकमात्र ब्रह्म दर्शन होने से अकर्म का भी ब्रह्म के विना और कोई पृथक् नहीं रहने के कारण अकर्म से कोई दोष नहीं हो सकता। अतः जो निरन्तर ब्रह्मनिष्ठा में स्थित हैं उस प्रकार के विद्वान् के कर्म नहीं करने से उसके द्वारा ज्ञान हानि होने की कोई सम्भावना नहीं रहती है। 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य' (ब्राह्मण की यह नित्य महिमा) इस श्रुति वाक्य के द्वारा यही सिद्ध होता है कि कर्म तथा अकर्म के द्वारा ब्रह्मवित् पुरुष के स्वरूप की किसी प्रकार वृद्धि या क्षय नहीं होता है। अतः अकर्म से ब्रह्मज्ञानी के स्वरूप की हानि भी नहीं होती है। अतः 'अकृतेन' अर्थात् कर्म नहीं करने के कारण उनका कोई अनर्थ नहीं होता।

परन्तु ब्रह्मवित् पुरुष की भी मुक्ति के प्रतिबन्ध की निवृत्ति के लिए अथवा आध्यात्मिक आदि उपद्रवों के लिए उपासना के द्वारा शिव, विष्णु अथवा दूसरों का (विशेष रूप से) आश्रयण करना (आश्रय लेना) उचित है; अथवा शरीर यात्रा के लिए ब्राह्मण या क्षत्रिय का आश्रयण करने का प्रयोजन है। अतः विद्वान् के लिए सर्वदा कर्म-त्याग करना युक्तियुक्त नहीं है ऐसी आशंका यदि कोई करते हैं तब उनके उत्तर में कह रहे हैं—अस्य—उक्तलक्षणविशिष्ट ब्रह्मवित्तम के सर्वभूतेषु—शिव, विष्णुप्रभृति देवता विशेष में अथवा ब्राह्मण या अन्य समस्त प्राणियों में कश्चित् अपि—पूर्वोक्त किसी प्रकार के कार्य को उद्देश्य कर (अर्थात् मुक्ति के प्रतिबन्ध की निवृत्ति के लिए अथवा आध्यात्मिक उपद्रवों को निवृत्ति के लिए) कुछ का भी अर्थव्यपाश्रयः न च—(प्रयोजन सिद्धि के लिए) आश्रणीय नहीं होता है 'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः' गीता ५।१९ अर्थात् वे ही संसार को जय करते हैं जिनका मन समता में स्थित रहता है इस वचन के अनुसार 'इहैव' अर्थात् इस शरीर में ही नित्य निरन्तर ब्रह्मनिष्ठा के द्वारा भावी शरीर प्राप्ति का हेतु अज्ञान एवं अज्ञान के कार्य-संचित कर्मों को

निर्मूल कर अपने शरीर के साथ सम्बन्ध रहित होकर सदा (सम ब्रह्मस्वरूप आश्रय में) स्थिर रहने के कारण ब्रह्मवित् पुरुष इस शरीर को धारण करके ही मुक्त हो जाते हैं अतः उनकी मुक्ति के लिए कोई प्रतिबन्धक नहीं रहने के कारण एवं शिव, विष्णु आदि देव मिथ्याकोटी में प्रविष्ट होने के कारण (अर्थात् वे भी माया के कार्य होने से मिथ्या ही हैं ऐसा निश्चय होने के कारण) वे विद्वान् पुरुषों की आराधना का विषय नहीं बन सकते हैं। और आध्यात्मिक आदि उपद्रव एवं शरीर की रक्षा प्रारब्ध के अधीन होने के कारण एवं इस विषय में पुरुष के प्रयत्न की व्यवस्था सर्वत्र प्रत्यक्ष होने के कारण ब्राह्मण आदि कोई व्यक्ति भी विद्वान् के आश्रयणीय नहीं होते हैं अर्थात् आश्रय करने के योग्य नहीं होते हैं। इसलिए ब्रह्मविद्वर्य मुक्त पुरुष का कभी कुछ भी कर्त्तव्य नहीं रहता है यदि कोई कर्त्तव्य रहे तो वे ब्रह्मवित् नहीं हैं स्मृति भी यही कहती है—'ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः। नैवास्ति किंचित् कर्त्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥' (ज्ञानरूपी अमृत के द्वारा तृप्त कृतकृत्य योगी का कोई कर्त्तव्य नहीं रहता है। यदि कर्त्तव्य रहे तो समझना पड़ेगा कि वे तत्त्ववित् नहीं हैं।)

(४) नारायणी टीका—इस जगत् में कृत कर्म के द्वारा ज्ञानी व्यक्ति को पुण्य नहीं होता है पुनः कर्मों को नहीं करने से भी उसको किसी प्रकार का प्रत्यवाय या पाप नहीं होता है क्योंकि वह निरहंकार है तथा सदा ही आत्मा में स्थित रहता है उसको किसी कर्म में कर्तृत्वाभिमान नहीं है एवं कर्म के फल की आकांक्षा भी नहीं है अतः विहित या अविहित किसी भी प्रकार के कर्मों के द्वारा उसको किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती है। अतः किसी प्रकार के कर्मों को करने से या नहीं करने से उसको किसी प्रकार हानि या लाभ नहीं होता है। ज्ञानी की दृष्टि से आत्मा के अतिरिक्त किसी द्वैतवस्तु की सत्ता नहीं है। अतः उसे किसी प्रकार की वस्तु की आवश्यकता नहीं रहती है अथवा प्रयोजन की सिद्धि के लिए किसी का भी आश्रय लेने की आवश्यकता अथवा कर्मों की भी आवश्यकता नहीं रहती है। इस कारण से ही आत्मरति, आत्मतृप्त एवं आत्मा में ही संतुष्ट ब्रह्मविद् पुरुष के लिए कोई कार्य (कर्त्तव्य) नहीं रहता है।

[जो आत्मरति हैं, आत्मतृप्त हैं तथा आत्मा में ही संतुष्ट रहकर योगारूढ़ हुए हैं उनको कर्म की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु हे अर्जुन ! तुम मुमुक्षु हो—तुम्हें अब भी कर्म में ही अधिकार है। अतः ईश्वर की प्रीति के

लिए जब तक तुम में ज्ञानोदय न हो, तब तक कर्म करते रहो। इसे ही अब श्रीभगवान् कह रहे हैं—]

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

अन्वय—तस्मात् असक्तः (सन्) सततं कार्यं कर्म समाचर हि पुरुषः असक्तः-(सन्) कर्म आचरन् परम् आप्नोति।

अनुवाद—इसलिए तुम अनासक्त होकर अर्थात् फलासक्ति विहीन होकर सर्वदा कर्त्तव्य कर्म करते रहो, चूँकि पुरुष को अनासक्त होकर कर्त्तव्य कार्य का अनुष्ठान करने से (यथासमय में) परम पुरुषार्थ (मोक्ष) की प्राप्ति हो सकती है।

भाष्यदीपिका—तस्मात्—चूँकि तुम पूर्ववर्ती श्लोक में कहे गये ज्ञानियों की तरह ज्ञानी नहीं हो किन्तु अब भी कर्माधिकृत (कर्म का अधिकारी) मुमुक्षु हो इसलिये असक्तः सन्–संग वर्जित होकर अर्थात कर्मों के फल की आकाङ्क्षा न रखकर सततं—सर्वदा कार्यं कर्म—कर्त्तव्य नित्यकर्म [यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि श्रुतिविहित एवं 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' अर्थात् ब्राह्मण लोग इस आत्मा को वेदानुवचन के द्वारा, यज्ञ के द्वारा, दान के द्वारा एवं अनशनपूर्वक तपस्या के द्वारा जानना चाहते हैं इस प्रकार के श्रुति वाक्य के द्वारा आत्मज्ञान के उपाय के रूप में जो अग्निहोत्रादि यज्ञ, वेदपाठ, दान, तपस्या इत्यादि कर्म अवश्य कर्त्तव्य माना गया है उन नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों को (मधुसूदन)] समाचर—सम्यक् रूप से करो अर्थात् शास्त्र में जिस प्रकार विहित किया गया है उसी प्रकार से आचरण करो अर्थात् कर्म का अनुष्ठान करो।

हि—चूँकि पुरुषः—मुमुक्षु व्यक्ति असक्तः–फलाभिसन्धिरहित अर्थात् निष्काम होकर कर्म कुर्वन्—श्रद्धा तथा भक्ति के साथ ईश्वर के उद्देश्य से कर्म कर (तथा उसके फलस्वरूप चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञान प्राप्त कर) परम्—मोक्ष आप्नोति–प्राप्त करते हैं। अतः तुम भी निष्काम होकर (अर्थात् कर्म फल के लिए आकांक्षा न रखकर) ईश्वरार्पण—बुद्धि के द्वारा कर्म करने से चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त करोगे। ज्ञान ही मोक्ष का साक्षात् कारण है। तथापि तब तक श्रुति तथा स्मृति शास्त्रों में विहित धर्मों के अनुष्ठान के द्वारा पापक्षय होकर चित्तशुद्धि उत्पन्न न हो तब तक ज्ञान की

उत्पत्ति नहीं हो सकती है एवं ज्ञान (आत्मसाक्षात्कारजनित ज्ञान) की प्राप्ति न होने से मोक्ष की प्राप्ति असम्भव है। मोक्ष ही चरम फल है, इसलिए मोक्ष को 'परं' कहा गया है। [श्लोक में 'पुरुष' शब्द के द्वारा यही सूचित हो रहा है कि जो इस जोवन में ही मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होते हैं वे ही यथार्थ सत् पुरुष हैं। अन्य दूसरों का जीवन सफल नहीं है। (मधुसूदन)।] हे अर्जुन ! तुम्हें अब भी कर्म में अधिकार प्राप्त है। अतः चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञानोदय जब तक न हो तब तक वर्णाश्रमोचित नित्य, नैमित्तिक कर्मों को करते रहो, यही कहने का अभिप्राय है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[चूँकि पूर्वोक्त प्रकार के सम्यक् ज्ञानियों को कर्म का प्रयोजन नहीं रहता है किन्तु दूसरों (अज्ञानी) को कर्म की आवश्यकता (चित्त शुद्धि के लिए) है। अतः तुम कर्म करो (क्योंकि तुम में अभी भी तत्त्वज्ञान का उदय नहीं हुआ है)। इसे ही अब स्पष्ट कर रहे हैं—] तस्मात्—चूँकि तुम में तत्त्वज्ञान का उदय नहीं हुआ है इस लिए असक्तः—फलसंग (फलकामना) रहित होकर सततं—सर्वदा, कार्यं कर्म—अवश्य कर्त्तव्य के रूप में विहित नित्य, नैमित्तिक कर्मों को समाचर—सम्यक् रूप से (अनुष्ठान) करो। हि—चूँकि असक्तः (सन्)—आसक्ति-शून्य होकर कर्म आचरन्—कर्म करने से पुरुषः परम् आप्नोति—पुरुष चित्तशुद्धि प्राप्त कर ज्ञान के द्वारा परम अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति करते हैं।

(२) शंकरानन्द—पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है कि योगारूढ़ मुक्त आत्माराम यति का कोई कर्त्तव्य नहीं रहता है, किन्तु तुम आरुरुक्षु मोक्षार्थी हो। अतः तुम्हारा कर्त्तव्य है कर्म करना, इसे अर्जुन को स्पष्ट कर श्रीभगवान् कह रहे हैं।

हि—चूँकि असक्त पूरुषः—मुमुक्षु पुरुष स्वयं असक्त (फल की अभिलाषा से रहित) होकर कर्म आचरन् हि—(वर्णाश्रम के अनुकूल) वेद-विहित कर्मों का आचरण अर्थात् सम्यक् प्रकार से (ठीक ठीक) अनुष्ठान करके ही परम्—परमपुरुषार्थरूप मोक्ष आप्नोति—प्राप्त करते हैं, जैसे यह आत्मरति पुरुष ने इस जन्म में अथवा पूर्वजन्म में वेदविहित कर्मों को कर के ही चित्तशुद्धि प्राप्त कर आत्मज्ञान के द्वारा मुक्ति को प्राप्त किया है, उसी प्रकार कर्मभूमि में स्थित दूसरे व्यक्ति भी कर्म के द्वारा ही ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाते हैं—मोक्ष प्राप्त करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है। इस कारण से तुम भी असक्तः—निष्काम होकर, कार्यं कर्म—कार्यकर्म अर्थात् वेद-

विधि के द्वारा विहित नित्य एवं नैमित्तिक कर्त्तव्य कर्मों को सदा समाचर— सम्यक् प्रकार से अर्थात् श्रद्धाभक्ति के साथ, ईश्वरार्पणबुद्धि के द्वारा ठीक ठीक करो। कर्म के द्वारा ही चित्तशुद्धि प्राप्त कर ज्ञान एवं मोक्ष की प्राप्ति होगी। यही कहने का अभिप्राय है। 'धर्मेण पापमपनुदति' (धर्म के द्वारा पाप नष्ट होते हैं), 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः' (पापकर्मों का क्षय होने से पुरुष को ज्ञान प्राप्त होता है), 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' (ज्ञान से ही कैवल्य की प्राप्ति होती है) इत्यादि श्रुति स्मृति के वचनों के द्वारा यही प्रतिपन्न होता है कि धर्म के अनुष्ठान से पाप का क्षय, पाप के क्षय से ज्ञानोत्पत्ति एवं ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

(३) **नारायणी टीका**—तुम मुमुक्षु होने पर भी कर्म के ही अधिकारी हो। अतः जब तक आत्मसाक्षात्कार न हो तब तक तुम्हें वर्णाश्रम के अनुकूल अवश्यकर्त्तव्य नित्यनैमित्तिक कर्म का शास्त्रविधि के अनुसार सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान करना उचित है। क्योंकि फलाकांक्षारहित होकर ईश्वर की प्रीति के लिए जो सत् पुरुष कर्मों का अनुष्ठान किया करते हैं वे चित्तशुद्धि तथा ज्ञान प्राप्त कर परं अर्थात् परम पुरुष को (परमात्मा को अर्थात् देहादि से भिन्न नित्य, सत्य, परमानन्दस्वरूप आत्मा को) प्राप्त करते हैं अर्थात् आत्मा के यथार्थस्वरूप का साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) करते हैं। आत्मसाक्षात्कार तथा मोक्ष एक ही बात है।

[अच्छा, केवलमात्र ज्ञानी का ही कर्म में अनधिकार है, ऐसी बात नहीं। विविदिषु व्यक्ति का भी अर्थात् जो व्यक्ति विरक्त होकर ज्ञान का अभिलाषी है उसके लिए भी सभी कर्मों को त्याग कर श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा ज्ञाननिष्ठा की प्राप्ति के लिए संन्यास लेने की विधि है। अतः उसका भी कर्म में अधिकार नहीं है। अतः मैं भी जब विरक्त होकर ज्ञान का अभिलाषी हुआ हूँ तब मुझे भी तो अवश्य-कर्म त्याग करना चाहिए? क्षत्रिय का संन्यास में अधिकार नहीं है, इसे दृष्टान्त के द्वारा प्रमाणित कर भगवान् अर्जुन की इस आशंका को दूर कर रहे हैं। (मधुसूदन) एवं जनक आदि के दृष्टान्त के अनुसार भी, अर्जुन को कर्म करना चाहिए, इसे कह रहे हैं।]

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्त्तुमर्हसि ॥ २० ॥

अन्वय—हि जनकादयः कर्मणा एव संसिद्धिम् आस्थिताः। लोकसंग्रहम् एव अपि संपश्यन् कर्त्तुम् अर्हसि।

अनुवाद—जनक आदि महापुरुष लोग (निष्कामरूप से) शास्त्रविहित कर्मों के अनुष्ठान के द्वारा ही सम्यक् सिद्धि प्राप्त किये हैं। फिर (कर्मानुष्ठान के द्वारा) लोकसंग्रह हो सकता है, इसे देखकर भी तुम्हें कर्म करना चाहिए।

भाष्यदीपिका—हि—चूँकि, जनकादयः—प्राचीनकाल में जनक, अश्वपति, अजातशत्रु प्रभृति विद्वान् क्षत्रिय लोग, कर्मणैव—(कर्मसंन्यास के विना) श्रौत, स्मार्त्त कर्मानुष्ठान के द्वारा ही चित्तशुद्धि तथा ज्ञान प्राप्त कर संसिद्धिम् आस्थिताः—संसिद्धि (मोक्ष) प्राप्ति के लिए आस्थित अर्थात् प्रवृत्त हुए थे। [अथवा संसिद्धि में अर्थात् श्रवणादि के द्वारा साध्य ज्ञाननिष्ठा में आस्थित अर्थात् संपूर्णरूप से स्थित होकर कृतार्थ हुए थे (मधुसूदन)]। यदि स्वीकार किया जाय कि जनकादि सम्यक् दर्शन प्राप्त कर तत्त्वज्ञानी हुए थे, तो वे तो प्रारब्धकर्मा होने के कारण अर्थात् प्रारब्ध के अनुसार लोकसंग्रह के लिए कर्म करते रहने पर भी (संन्यासग्रहण के बिना ही) परम सिद्धि को प्राप्त हुए थे। (जीवन्मुक्ति को अवस्था प्राप्त किये थे) और यदि ऐसा कहा जाय कि प्राचीन जनक प्रभृति राजर्षि लोग सम्यग्दर्शन (आत्मतत्त्व) प्राप्त नहीं किये थे, तो इसका अर्थ यह होगा कि जनक, अश्वपति प्रभृति क्षत्रिय लोग वर्णाश्रम के द्वारा विहित कर्मानुष्ठान कर, सत्त्वशुद्धि प्राप्त कर क्रमशः संसिद्धि में (ज्ञाननिष्ठा में) आस्थित हुए थे अर्थात् मोक्षप्राप्ति किये थे। [अथवा—श्लोक के अन्वय का परिवर्तन कर ऐसा अर्थ भी किया जा सकता है—हि जनकादयः—चूँकि प्राचीनकाल में जनक, अश्वपति प्रभृति विद्वान् क्षत्रिय लोग संसिद्धिम् प्राप्य अपि—संसिद्धि प्राप्त कर भी अर्थात् ज्ञानयोगनिष्ठा में आरूढ़ होकर भी (जीवन्मुक्त की अवस्था प्राप्त करके भी) कर्मणा एव—कर्मत्याग न कर कर्म के साथ ही आस्थिताः—स्थित अर्थात् वर्त्तमान थे अर्थात् स्वयं कृतार्थी होकर भी संन्यासमार्ग का अवलम्बन न कर मूढ़ लोगों का त्राण करने के लिए (अर्थात् उनकी शिक्षा के लिए) जीवन के अन्त दिन तक अपने-अपने प्रारब्ध कर्म के अनुसार शास्त्रविहित कर्म का ही अनुष्ठान किये थे। यदि योगारूढ़ जनक आदि इस प्रकार से कर्म का अनुष्ठान करें, तो तुम्हारी तरह अनात्मज्ञ आरुरुक्षु व्यक्ति को, जो मोक्ष के लिए कर्म करना कर्त्तव्य है, इसमें और कहने का

ही क्या है ? इस प्रकार से मुमुक्षु अनात्मज्ञ एवं आरुरुक्षु को मोक्ष के लिए कर्म अवश्य करना चाहिए इसे निर्धारित कर जिन लोगों का सन्यास में अधिकार नहीं है, ऐसे ब्राह्मण के बिना, जीवन्मुक्त पुरुष को भी अपना कोई प्रयोजन न रहने पर भी लोकहित के लिए अपने-अपने आश्रमों के अनुसार कर्म करना कर्त्तव्य है, इसे समझाने के लिये अर्जुन को भगवान् कह रहे हैं]—

लोकसंग्रहम् एव अपि संपश्यन् कर्तुम् अर्हसि—[यदि तुम अपने को तत्त्वज्ञ मानो एवं यदि ऐसा सोचो कि प्राचीन जनक प्रभृति राजर्षि लोग आत्मतत्त्वज्ञ न होने के कारण तत्त्वज्ञान न होने तक ही कर्त्तव्य कर्म को किया करते थे, किन्तु जो आत्मतत्त्वज्ञ होकर कृतार्थ हो गये हैं वे किस प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए विहित-कर्मों का अनुष्ठान करेंगे ? इसके उत्तर में कहा जा रहा है कि तत्त्वज्ञ व्यक्ति लोकसंग्रहरूप प्रयोजन के प्रति दृष्टि रखकर भी प्रारब्ध संस्कार के अनुसार कर्म कर सकते हैं ।] तुम क्षत्रिय कुल में जन्म ग्रहण किये हो । तुम्हारा संन्यास में अधिकार नहीं है एवं तुम्हारे में रजोगुण का संस्कार प्रबल रहना ही स्वाभाविक है। अतः क्षत्रियों के स्वभाव के अनुसार लोकसंग्रह के लिए तुम्हें कर्म करना चाहिए । असन्मार्ग से लोगों की प्रवृत्ति का निवारण कर, अर्थात् सत्कर्ममार्ग दीखाकर लोगों को अपने-अपने धर्म में प्रवृत्त करना एवं उन्मार्ग से [शास्त्र के द्वारा विगर्हित (निषिद्ध) मार्ग से)] निवृत्त करने को लोकसंग्रह कहा जाता है । [लोक-संग्रहम् एव संपश्यन्' पद का अर्थ यह है कि लोक संग्रहरूप प्रयोजन के प्रति दृष्टि रखकर भी और 'अपि' शब्द का अर्थ यह है कि महापुरुषों का शिष्टाचार अवलोकन करके भी अर्थात् जनक आदि क्षत्रिय राजा लोग जिस प्रकार लोक-संग्रह के लिए कर्म किया करते थे उन दृष्टान्तों का अनुसरण करके भी तुम विविदिषु (तत्त्वज्ञान को जानने के इच्छुक) हो अथवा विद्वान् ज्ञानी हो, तुम्हें कर्म करना चाहिए यही कहने का अभिप्राय है । (मधुसूदन)]

टिप्पणी (१) मधुसूदन—श्रुति में कहा गया है "ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च उत्थानार्थं भिक्षाचर्यां चरन्ति" (बृह० उ० ४।४।१२) अर्थात् ब्राह्मणलोग पुत्रैषणा (पुत्र की इच्छा) से वित्तैषणा से एवं लोकैषणा से ऊपर उठकर अर्थात् पुत्र, वित्त (धनादि) एवं लौकिक मानप्रतिष्ठा की इच्छा त्याग कर (उन विषयों में वैराग्य का अवलम्बन कर) भिक्षाचर्या करते हैं। इस श्रुति वाक्य में कहा गया है कि ब्राह्मणों को ही विधिपूर्वक संन्यास-धर्म ग्रहण

करने का अधिकार है, दूसरों को नहीं। स्मृतिशास्त्र में भी कहा गया है "चत्वारो आश्रमा ब्राह्मणस्य, त्रयो राजन्यस्य द्वौ वैश्यस्य" अर्थात् ब्राह्मण के लिए ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास—यह चार आश्रम विहित हैं, क्षत्रिय के लिए ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य एवं वानप्रस्थ, ये तीन आश्रम एवं वैश्य के लिए ब्रह्मचर्य तथा गार्हस्थ्य—ये दो आश्रम विहित हैं। अतः इससे यह भी प्रमाणित होता है कि क्षत्रिय का संन्यास में अधिकार नहीं है। पुराण में कहा गया है– 'मुखजानामयं धर्मो यद्विष्णोर्लिंगधारणम्। बाहुजातोरुजातानां नायं धर्मः प्रशस्यते' अर्थात् मुखजात व्यक्तियों का (ब्राह्मणों का) यही धर्म है कि वे विष्णु का चिह्न धारण करें अर्थात् संन्यास ग्रहण कर दण्डधारण करें किन्तु बाहुजात क्षत्रियों का एवं ऊरुजात वैश्यों के लिए यह धर्म प्रशस्त नहीं है अर्थात् क्षत्रिय एवं वैश्य का संन्यास में अधिकार नहीं है। यह बात ही (इस श्लोक में भी) कही जा रही है। भगवान् शंकराचार्य ने भी गीताभाष्य में इसलिए ही कहा है–संन्यास में अर्थात् विधिपूर्वक संन्यास ग्रहण करने में केवल ब्राह्मण का ही अधिकार है, दूसरों का नहीं, किन्तु तत्त्वज्ञान में सभी का अधिकार है, इसे उन्होंने दूसरी जगह पर कहा है। [वार्त्तिककार सुरेश्वराचार्य ने स्वीकार किया है कि यदि कोई क्षत्रिय या वैश्य तत्त्वज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो सके तो वे कर्मत्याग कर सकते हैं किन्तु इस कारण उन्हें भिक्षा करने का अधिकार है, ऐसी बात सुरेश्वराचार्य ने नहीं कही है। यदि क्षत्रिय या वैश्य अत्याश्रम भी होकर सभी कर्मों को त्यागकर अयाचित (आजगरी) वृत्ति का अवलम्बन करें (अर्थात् किसी से कुछ नहीं मांगकर जैसा स्वतः प्राप्त हो उससे जीविका निर्वाह करें) तो शास्त्र के साथ इसका कोई विरोध नहीं होगा, यही सुरेश्वराचार्य का कहने का अभिप्राय है। संन्यास ग्रहण कर भिक्षावृत्ति के द्वारा जीविका निर्वाह करने में केवलमात्र ब्राह्मण का ही अधिकार है, इसे सभी ने स्वीकार किया है।] इसलिए ही अर्जुन को श्रीभगवान् ने कहा है। यदि तुमने तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं किया है तो चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने के लिए तो तुम्हें अवश्य कर्म करना चाहिए। और यदि तत्त्वज्ञ हो गये हो तब भी कर्मत्याग कर संन्यास ग्रहण करने का तुम्हें अधिकार नहीं है। उस अवस्था में जनक आदि राजर्षियों की तरह लोक-संग्रह के प्रति दृष्टि रखकर तुम्हें क्षत्रिय धर्म के अनुसार कर्म करना चाहिए।

(२) श्रीधर—[इस विषय में साधुओं का सदाचार प्रमाण है, इसे दिखा रहे हैं—] कर्मणैव हि संसिद्धिम् आस्थिताः जनकादयः—जनक आदि ज्ञानी लोग कर्म के द्वारा सत्त्वशुद्ध होकर (चित्तशुद्धि लाभकर)

संसिद्धि अर्थात् सम्यक् ज्ञान प्राप्त किये थे। लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्त्तुम् अर्हसि—यदि तुम अपने को सम्यक् ज्ञानी भी मानो तो भी कर्मों का आचरण (अनुष्ठान) करना तुम्हारे लिए मंगलजनक ही होगा क्योंकि लोक-संग्रह के लिए भी अर्थात् लोगों को स्वधर्म में प्रवृत्त (नियुक्त) करने के लिए भी तुम्हें कर्म करना चाहिए। तुम्हें यह बात सोचकर भी कर्म करना चाहिए कि मैं अगर कर्म करूँगा तो सभी लोग कर्म करेंगे। नहीं तो ज्ञानी व्यक्तियों के दृष्टान्तों का अनुसरण कर अज्ञ व्यक्ति भी अपने धर्म (वर्णा-श्रमानुकूल शास्त्रविहित नित्य कर्मादि को त्याग कर पतित हो जायेंगे। इस प्रकार लोक रक्षा की प्रयोजनीयता का विवेचन करके भी तुम्हें कर्म करना चाहिए, कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए।

(३) **शंकरानन्द**—अतः जो आत्मतत्त्व को नहीं जानते हैं तथा जो मुमुक्षु हैं, ऐसे व्यक्तियों को अवश्य ही कर्म करना चाहिए, ऐसा उपदेश पूर्ववर्ती श्लोक में देकर इस विषय में वृद्धाचार को प्रमाण के रूप में श्रीभगवान् उल्लेख कर रहे हैं—**जनकादयः** जनक (वैदेह) जिन लोगों का आदि है उन लोगों को जनकादि कहा जाता है अर्थात् अश्वपति, भगीरथ प्रभृति क्षत्रिय राजा लोग **कर्मणा एव**—कर्म के द्वारा ही अर्थात् श्रौत-स्मार्तरूप कर्म के अनुष्ठान के द्वारा ही **संसिद्धिम् आस्थिताः**—चित्तशुद्धि प्राप्त होकर ज्ञान के द्वारा संसिद्धि अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर कृतार्थ हो गये हैं, अतः तुम भी कर्म करके ही, उसके द्वारा उत्पन्न चित्तशुद्धि के द्वारा, ज्ञान प्राप्त कर, मुक्ति प्राप्त कर, सुख के साथ (परमानन्द में) रहो, यही कहने का अभिप्राय है। अथवा **जनकादयः संसिद्धिं प्राप्य अपि कर्मणा एव आस्थिताः**—जनकादि ज्ञानयोग की निष्ठा में विरूढ़ (परिपक्व) होकर संसिद्धि अर्थात् मुक्ति प्राप्त करके भी लोकहित के लिए कर्म के साथ ही स्थित थे अर्थात् कर्म से विरक्त नहीं हुए थे (ये कर्मत्याग नहीं किये थे)। कृतार्थ होकर भी मूढ़ लोगों का उद्धार करने के लिए कर्म करके ही स्थित थे अर्थात् जीवन को अतिवाहित किये थे, यही कहने का अभिप्राय है। योगारूढ़ होकर भी जब जनकादि राजा लोग कर्म किये तब तुम जैसे अनात्मज्ञ, आरुरुक्षु व्यक्ति को मोक्ष के लिए जो अवश्य ही कर्म करना चाहिए, इस विषय में और कहना ही क्या है ? इस प्रकार मुमुक्षु, अनात्मज्ञ, आरुरुक्षु को मोक्ष के लिए अवश्य कर्म करना चाहिए, मुक्त होने पर भी जो आधिकारिक पुरुष के रूप में जन्मग्रहण किये हैं उनको भी लोकहित के लिये कर्म करना चाहिए, इसे कहने के लिए ज्ञानवृद्ध जनकादि की प्रवृत्ति का दृष्टान्त के रूप में

उदाहरण देकर श्रीभगवान् अर्जुन को उपदेश दे रहे हैं कि तुम भी अगर सोचो कि तुम्हें भी वे आधिकारिक पुरुषों के जैसे अधिकार प्राप्त है तो उसी प्रकार रहो किन्तु तब भी जनक आदि की तरह लोगों के हित के लिए तुम्हें अवश्य कर्म करना चाहिए। महापुरुषों की प्रवृत्ति के द्वारा शास्त्र का प्रामाण्य, कर्म का प्राशस्त्य (उत्कृष्टता) एवं अज्ञानियों का तारण इस परम्पराक्रम से सदाचार की वृद्धि अवश्य ही होती है। इसलिए महान् मुक्त पुरुष को भी (आधिकारिक पुरुष को) अवश्य ही कर्म करना चाहिए, इस आशय से अब कह रहे हैं—**लोकसंग्रहम् एव अपि संपश्यन्**—लोक शब्द का अर्थ है निकृष्ट लोक, लोग संग्रह शब्द का अर्थ ही सत्कर्म का मार्ग दिखाकर उनको संसार से मुक्त करना अथवा कुमार्ग से उनको निवृत्त करना। केवल लोकसंग्रह की आवश्यकता का विचार करके भी अर्थात् मेरे द्वारा क्रियमाण कर्म (लोगों के उपकार के लिए होगा, ऐसा जानकर), **कर्म कर्तुम् अर्हसि**—तुम कर्म करने के योग्य बनो अर्थात् तुम्हें कर्म करना चाहिए। [तुम यदि अनात्मज्ञ, आरुरुक्षु योगी हो, तो तुम्हें मोक्ष के लिए कर्म करना चाहिए। और यदि अपने को आत्मज्ञ एवं मुक्त मानो एवं यदि तुम आधिकारिक पुरुष हो तब भी जनकादि की तरह लोकसंग्रह के लिए तुम्हें कर्म करना चाहिए, यही कहने का अभिप्राय है।]

(४) **नारायणी टीका**—युधिष्ठिर, भीष्मपितामह, जनक, अश्वपति, भगीरथ प्रभृति ज्ञानी व्यक्ति थे तथापि उन्होंने जीवन के अन्तिम क्षण तक कामनाशून्य होकर स्वधर्मोचित कर्मों को किया क्योंकि वे (क) क्षत्रिय थे एवं (ख) राजा तथा श्रेष्ठ व्यक्ति थे (ग) प्रत्येक देह पूर्वजन्मार्जित संस्कार के कारण उत्पन्न होता है एवं उन संस्कारों के अनुसार प्रत्येक देह में प्रवृत्ति भी होती है। क्षत्रिय का देह अपने स्वभाव के कारण (अर्थात् रजोगुण के संस्कार की प्रबलता के कारण) क्षत्रियोचित कर्म में ही प्रवृत्तिपरायण होता है—ज्ञान की प्राप्ति होने पर भी देह की वैसी प्रवृत्ति स्वाभाविक है। इसलिए क्षत्रिय का संन्यास में अधिकार नहीं है। जीवन के अन्तिम दिन तक उनके लिए कर्म की व्यवस्था है। अतः भगवान् ने अर्जुन को कहा कि तुम ज्ञानी बनो या जिज्ञासु बनो—दोनों अवस्था में ही तुम्हें लोकसंग्रह के लिए कर्म करना चाहिए। [क्षत्रिय होकर भी जो निर्विकल्प समाधि में स्थित हैं उसके लिए किसी कर्मानुष्ठान का विधान नहीं हो सकता है। उसका सर्व-कर्म संन्यास स्वतः ही हो जाता है। एवं वह गुणातीत होने के कारण गुण के द्वारा सृष्ट वर्ण, आश्रम, कर्म, लोक एवं लोकसंग्रह इत्यादि सब कुछ ही उसकी

दृष्टि में विलीन हो जाता है। किन्तु ज्ञानी होकर भी तत्त्वज्ञान में निष्ठा के लिए जब तक अभ्यास चलता रहता है तब तक ही लोकसंग्रह के लिए कर्म करना सम्भव है। निरन्तर ब्राह्मीस्थिति में कोई कर्म ही सम्भव नहीं है।]
(ख) राजा एवं श्रेष्ठ व्यक्ति होने के कारण भी लोक संग्रह के लिए तुम्हें कर्म करना चाहिए क्योंकि शास्त्र में कहा गया है—'सर्वे राजाश्रिता धर्मा राजा धर्मस्य धारकः' (समस्त धर्म राजा का आश्रय किया हुआ है एवं राजा ही धर्म को धारण किये हुए हैं।) राजा एवं श्रेष्ठ व्यक्तियों के आचरण का ही प्रजा अनुकरण करती है। लोग ताकि शास्त्रविरुद्ध कर्म कर उन्मार्गगामी न बनें उसके लिए राजा तथा श्रेष्ठ व्यक्ति का अपने-अपने आचरणों के द्वारा लोगों को स्वधर्म में प्रवृत्त रखना कर्त्तव्य है। तुम भी (अर्जुन भी) क्षत्रिय तथा श्रेष्ठ पुरुष हो। तुम्हें तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी एवं तुम्हें अपना कोई प्रयोजन न रहने पर भी लोक-संग्रह के लिए (लोगों को अपने दृष्टान्त के द्वारा सत् पथ में चालित करने के लिए) तुम्हें वर्णाश्रमों के अनुसार कर्म करना चाहिए। यही यहाँ कहने का अभिप्राय है। [आध्यात्मिक दृष्टि से कौन क्षत्रिय है एवं किस कारण उनका कर्म-त्याग करना उचित नहीं है इसका प्रथम अध्याय के परिशिष्ट में द्वितीय अध्याय के तात्पर्य निर्णय करते हुए २। ३१-३८ श्लोकों की व्याख्या में विस्तृत रूप से विचार किया गया है।]

[अच्छा, मेरे कर्म करने पर भी लोग क्यों मेरा अनुकरण करेंगे ? ऐसी शंका अर्जुन के मन में हो सकती है इसके उत्तर में श्रेष्ठ व्यक्ति क्यों कर्म करते रहते हैं इस को भगवान् बता रहे हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥ २१ ॥

अन्वय—श्रेष्ठः यत् यत् आचरति इतरः जनः तत् तत् एव आचरति। सः यत् प्रमाणं कुरुते लोकः तत् अनुवर्त्तते।

अनुवाद—श्रेष्ठ व्यक्ति जो, जो आचरण करते हैं साधारण लोग भी उन कर्मों को करते हैं श्रेष्ठ व्यक्ति जिसे प्रमाण मानते हैं साधारण लोग भी उसे ही प्रमाण मान कर उसी का अनुसरण करते हैं।

भाष्यदीपिका-श्रेष्ठः यत् यत् आचरति-जिन सम्प्रदायों में जो श्रेष्ठ हैं अर्थात् प्रधान माने जाते हैं वे जिन जिन विहित या निषिद्ध अर्थात् शुभ या

अशुभ कर्मों का आचरण करते हैं (अनुष्ठान करते हैं) इतरः जनः तत् एव (आचरति)—उन सम्प्रदायों के प्राकृत लोग अर्थात् साधारण व्यक्ति भी इन श्रेष्ठ व्यक्तियों के अनुगत होकर ठीक उन्हीं कर्मों को उसी प्रकार से किया करते हैं। [अर्थात् उनमें स्वाधीन रूप से किसो दूसरे प्रकार के कर्म करने का सामर्थ्य नहीं है। अब प्रश्न है साधारण लोग भी शास्त्र के वैध तथा अवैध कर्मों का परित्याग कर शास्त्रीय कर्मों को क्यों नहीं किया करते हैं ? इसके उत्तर में कहा जा रहा है—शास्त्र की प्रतिपत्ति (तात्पर्य) के सम्बन्ध में भी साधारण लोग श्रेष्ठ व्यक्तियों की बुद्धि का अनुसरण करते हैं (मधुसूदन)। सः यत् प्रमाणं कुरुते — वे श्रेष्ठ व्यक्ति जिस अर्थात् लौकिक हो या वैदिक, जिस विषय को भी प्रमाण मानते हैं लोकः तत् अनुवर्त्तते—साधारण लोग उसी का अनुसरण करते हैं अर्थात् उसे ही प्रमाण मानते हैं किन्तु स्वाधीन रूप से शास्त्र के अनुसार कौन वैध एवं कौन अवैध है इस विषय में निर्णय करने का सामर्थ्य उनमें नहीं है। [अतः तुम जब राजा होने के कारण प्रधान माने जाते हो तब तुम तत्त्वज्ञानी होने पर भी लोकसंरक्षण के निमित्त] [अर्थात् लोगों में धर्म की मर्यादा स्थापित करने के लिए (आनन्दगिरि)] कर्मों का अनुष्ठान करना अवश्य कर्त्तव्य है क्योंकि तुम जैसा करोगे, तुम्हारे अनुगत लोग भी उसी के अनुसार कर्म करेंगे।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[कर्म करने से लोक-संग्रह किस प्रकार से होता है उसे कहा जा रहा है—] यत् यत् श्रेष्ठः आचरति—श्रेष्ठ व्यक्ति जो जो आचरण करते हैं इतरः जनः तत् तत् एव (करोति)—इतर (प्राकृत या साधारण) लोग भी वैसा ही करते हैं। सः—वह श्रेष्ठ व्यक्ति यत् प्रमाणम् कुरुते—कर्मशास्त्र अथवा निवृत्तिशास्त्रों में जिसे प्रमाण माना करते हैं लोकः तत् अनुवर्त्तते—साधारण लोग भी उसी का अनुसरण करते हैं अर्थात् उसी के अनुसार कर्म किया करते हैं।

(२) शंकरानन्द—मेरे द्वारा किये गये कर्मों के द्वारा लोगों का उपकार किस प्रकार होगा, ऐसी शंका यदि अर्जुन करे तो उसके उत्तर में श्रीभगवान् कह रहे हैं—यः श्रेष्ठः—वेदशास्त्रों को पढ़ने में एवं पढ़ाने में, उसका अर्थ समझने में समझाने में, एवं उसमें विहित कर्मों का अनुष्ठान करने में एवं कराने में जो दक्ष हैं एवं जो कुल, शील आदि महत्त्वसम्पन्न द्विजश्रेष्ठ हैं, वे, यत् यत् आचरति—जो जो आचरण करते हैं अर्थात् जो जो श्रौत अथवा स्मार्त अथवा दूसरे प्रकार का कर्म करते हैं (नियमपूर्वक

उसका अनुष्ठान करते हैं) इतरः जनः—दूसरे व्यक्ति अर्थात् अतिसाधारण मुमुक्षु भी तत् तत् आचरति—उन कर्मों का आचरण (अनुष्ठान) करते हैं—परन्तु स्वयं (अपनी बुद्धि से कुछ नहीं करते हैं क्योंकि शास्त्र, शास्त्र से उत्पन्न ज्ञान एवं शास्त्र में विहित कर्मों का परिज्ञान (विशेष ज्ञान) उनमें नहीं है। पुनः सः—पूर्वोक्तलक्षणविशिष्ट श्रेष्ठ व्यक्ति यत्—जिन शास्त्रों को प्रमाणं कुरुते—'यही प्रमाण है' ऐसा निश्चय कर उस शास्त्र के अनुसार व्यवहार करते हैं। लोकः—मूढ़व्यक्ति तत्—उसे ही अर्थात् उन श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा प्रमाणीकृत, शास्त्रविहित आचरण का अनुसरण करते हैं अर्थात् उस शास्त्र को ही स्वयं प्रमाण मानते हैं। निकृष्ट व्यक्ति श्रेष्ठ व्यक्ति का अनुकरण करते हैं, यही कहने का अभिप्राय है। इस कारण श्रेष्ठ कृतार्थ पुरुष को लोगों के हित के लिए कर्म करना चाहिए, यही सिद्ध हुआ।

(३) नारायणी टीका—अर्जुन ! तुम राजा हो एवं शौर्य, तेज, विद्या एवं पौरुष के लिए तुम श्रेष्ठ होने के कारण सभी के श्रद्धा-पात्र हो। श्रेष्ठ व्यक्ति जैसा आचरण करते हैं साधारण लोग भी उसी कर्म का, चाहे वह कर्म शुभ हो या अशुभ, अनुकरण कर कर्म करते हैं। केवल वे नहीं, वह श्रेष्ठ व्यक्ति लौकिक या वैदिक कर्म के सम्बन्ध में जिसे प्रमाण मानते हैं, साधारण लोग भी स्वतंत्ररूप से कोई विचार न कर, उन्हीं के द्वारा स्वीकृत प्रमाण का अवलम्बन कर उसी के अनुसार आचरण करते हैं। अतः विद्वान् व्यक्ति को अपना कोई प्रयोजन नहीं रहने पर भी लोगो में धर्म की मर्यादा की रक्षा करने के लिए विहित कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए।

इस जगत् में लोकसंग्रह की कर्त्तव्यता के सम्बन्ध में यदि तुम्हारा कोई संशय रहे तो मुझे ही क्यों नहीं देखते हो ? इस विषय में तो मैं ही दृष्टान्त हूँ—इसे ही अब कह रहे हैं :—

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

अन्वय—हे पार्थ ! त्रिषु लोकेषु मे किञ्चन कर्त्तव्यं न अस्ति ! अनवाप्तम् अवाप्तव्यं किञ्चन न (अस्ति) (तथापि) अहं कर्मणि वर्त्ते एव च।

अनुवाद—हे पार्थ ! त्रिभुवन में मेरे लिए कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है। मेरे लिए अप्राप्त वस्तु या भविष्य में प्राप्त करने योग्य (अर्थात् किसी प्रकार की काम्य) वस्तु भी नहीं है। मुझे किसी भी वस्तु की कामना नहीं है। तो भी मैं कर्म में वर्त्तमान (अर्थात् कर्म में प्रवृत्त) हूँ।

भाष्यदीपिका—हे पार्थ ! तुम विशुद्ध क्षत्रिय वंश में जन्म ग्रहण किये हो पुनः इधर तुम मेरे पिता की बहन पृथा के (कुन्ती के) पुत्र हो। इस कारण तुम में जो रक्त बह रहा है वह मुझ में भी है। अतः मैं जिस प्रकार से कर्म किया करता हूँ उस प्रकार निष्काम रूप से कर्म करने की योग्यता तुम में भी है। इसे स्मरण करवाने के लिए ही भगवान् अर्जुन का यहाँ 'पार्थ' कहकर सम्बोधन कर रहे हैं। त्रिषु लोकेषु—तीन लोकों में—मेरे अर्थात् सत्यकाम, सत्यसंकल्प, षड़ैश्वर्य गुणों से सम्पन्न सर्वेश्वर परमात्मा का किञ्चन—किसी प्रकार का कर्त्तव्यं—करणीय-कर्म न अस्ति—नहीं है। अनवाप्तम्—क्योंकि ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो मुझे अप्राप्त है (अर्थात् मुझे प्राप्त नहीं हुई है) और अवाप्तव्यम् न अस्ति—मेरे प्राप्तव्य अर्थात् अभिलाषा करने के योग्य कोई वस्तु नहीं है। [चूँकि भगवान् सत्यकाम, सत्यसंकल्प हैं इस कारण समस्त वस्तु ही उनको संकल्प-मात्र से ही प्राप्त होती है अतः अप्राप्त नाम की कोई चीज ही उनके पास नहीं है, । चूँकि वे स्वयं प्राप्तकाम या पूर्णकाम हैं इसलिए उनके लिए कामना करने के योग्य अर्थात् प्राप्तव्य कुछ भी नहीं है। अतः भगवान् को किसी वस्तु को उद्देश्य करके कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं रहने के कारण उनके लिए कोई कर्त्तव्य नहीं है यही कहने का अभिप्राय है। [प्रश्न होगा, यदि तुम्हारा कुछ भी प्रयोजन नहीं है तो तुम कर्म क्यों करोगे ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—] (तथापि) अहं कर्मणि वर्त्ते एव च—तब भी अर्थात् मेरा कोई प्रयोजन न रहने पर भी मैं (भगवान्) लोगों की उन्मार्ग से रक्षा कर उन्हें सन्मार्ग में चालित करने के लिए लोकसंग्रहरूप कर्म में वर्त्तमान रहता हूँ अर्थात् मैं कर्म करता हूँ। [वैदिक तथा लौकिक में मेरी जो प्रवृत्ति है वह सभी को प्रत्यक्षसिद्ध है। इस प्रसिद्धि का प्रकाश करने के लिए 'च' शब्द 'हि' शब्द के अर्थ में व्यवहृत किया गया है। 'वर्त्ते एव च' इत्यादि का तात्पर्य यह है कि—मेरा कोई प्रयोजन न रहने पर भी मैंने क्षत्रिय वंश में अवतार (जन्म) ग्रहण किया है, इसलिए संन्यास में मेरा अधिकार नहीं है। अतः मैं जागतिक किसी विषय की प्रयोजनीयता न रहने पर भी, केवल शास्त्र-मर्यादा की रक्षा करने के लिए, लोकसंग्रह के लिए कर्म में प्रवृत्त रहता हूँ ताकि मेरा अनुसरण कर साधारण लोग अपने-अपने वर्णाश्रम धर्म में ही नियुक्त रह सकें। तुम क्षत्रिय हो एवं श्रेष्ठ व्यक्ति हो अतः तुम भी मेरी तरह परधर्म (संन्यास) ग्रहण न कर (प्रयोजन न रहने पर भी केवल लोक-संग्रह के लिए) स्वधर्मरूप युद्धादि कर्म का अनुष्ठान करते रहो।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[इस विषय में मैं ही (भगवान् ही) दृष्टान्त हूँ, इसे अब तीन श्लोकों में कह रहे हैं—] हे पार्थ ! हे अर्जुन ! मे कर्त्तव्यं नास्ति—मेरा कर्त्तव्य कुछ भी नहीं है, चूँकि त्रिषु लोकेषु—तीनों लोकों में नानवाप्तम् अवाप्तव्यम् (अस्ति)—मेरा अप्राप्त तथा अप्राप्य कुछ भी नहीं है, [अर्थात् मैं आप्तकाम होने के कारण सभी वस्तु मुझे बिना प्रयत्न से ही प्राप्त है अतः प्राप्य (प्राप्त करने योग्य वस्तु) वस्तु मेरे लिए कोई नहीं है।] तब भी कर्मणि वर्त्ते एव च—मैं कर्म में वर्त्तमान हूँ अर्थात् मैं कर्म कर रहा हूँ।

(२) शंकरानन्द—कृतार्थ महात्मा के लिए कर्मों के द्वारा साध्य (प्राप्तव्य) कुछ भी नहीं रहता है। अतः वे कहीं भी कर्म करते हुए नहीं दीखते हैं। इस प्रकार की आशंका अर्जुन के मन में उदित हो सकती है, ऐसी शंका को दूर करने के लिए श्रीभगवान् कह रहे हैं कि इस विषय में मैं ही प्रमाण हूँ—हे पार्थ—हे अर्जुन ! मे—मेरा अर्थात् षड़ैश्वर्यगुणों से सम्पन्न, प्राप्तसर्वकाम, सर्वेश्वर का, किञ्चन कर्त्तव्यं नास्ति—किसी विषय को प्राप्त करने के उद्देश्य से कोई भी कर्म नहीं है। क्यों नहीं है ? अनवाप्तम्—(मेरा) अप्राप्त अथवा अवाप्तव्यम्—मेरे क्रिया द्वारा प्राप्तव्य वस्तु त्रिषु लोकेषु (नास्ति)—तीन लोकों में कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार घर में रहनेवाली सारी चीजें गृहस्वामी के अधिकार में ही रहती हैं उसी प्रकार ब्रह्मांड में स्थित समस्त वस्तुएँ ब्रह्मांड के स्वामी मुझे ही प्राप्त है अतः मेरा प्राप्तव्य कुछ भी नहीं है, तब भी कर्मणि वर्त्ते एव च—इस प्रकार महाभाग्य, वैराग्य तथा ज्ञान से समृद्ध होकर भी मैं लोकसंग्रहरूप कर्म में वर्त्तमान रहता हूँ अर्थात् अपना कोई प्रयोजन न रहने पर भी लोकसंग्रह के लिए कर्म किया करता हूँ। च—हि अर्थात् वैदिक तथा लौकिक कर्म में मेरी प्रवृत्ति तुम सभी को प्रत्यक्ष-सिद्ध ही है। इस प्रकार 'च' शब्द की 'हि' अर्थ में प्रसिद्धि बोध कराने के लिए व्यवहार किया गया है।

(३) नारायणी टीका—पुनः देखो कि मुझे कोई भी वस्तु नहीं है क्योंकि मैं सत्यसंकल्प तथा सत्यकाम हूँ। अतः मुझे किसी भी वस्तु का अभाव नहीं है। पुनः मेरे लिए कोई प्राप्तव्य वस्तु नहीं है क्योंकि मैं आप्त-काम होने के कारण मुझे किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं है। जब अप्राप्त या प्राप्तव्य कुछ भी नहीं है तब मुझे किसी वस्तु का प्रयोजन भी नहीं है अतः मेरा कर्त्तव्य भी कुछ नहीं है। तब भी मेरा अनुकरण कर लोग

शास्त्रोक्त कर्मों का परित्याग कर उन्मार्गगामी न बनें तथा अपने अपने स्वधर्म-पालन में प्रवृत्त रह सकें इसलिए इस अवतारी देह के द्वारा (क्षत्रिय शरीर में) वैदिक तथा लौकिक कर्मों को स्वयं मैं उनकी शिक्षा के लिए अनुष्ठित कर रहा हूँ।

[भगवान् को कर्म करने की आवश्यकता नहीं रहने पर भी वे क्यों लोकसंग्रह के लिए कर्म करते हैं, इसका कारण और स्पष्ट रूप से कह रहे हैं।]

यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

अन्वय—हे पार्थ ! यदि अहं जातु अतन्द्रितः सन् कर्मणि न वर्त्तेयम्, मनुष्याः सर्वशः मम वर्त्म अनुवर्त्तन्ते हि ।

अनुवाद—यदि मैं कभी भी आलस्यहीन होकर कर्म में प्रवृत्त न होऊँ (अर्थात् कर्म न करूँ) तो लोग भी सभी प्रकार से मेरे ही पथ का अनुसरण करेंगे अर्थात् मुझे कर्म-हीन देखकर वे भी कर्म नहीं करेंगे।

भाष्यदीपिका—हे पार्थ !—हे अर्जुन ! [इस प्रकार के सम्बोधन का तात्पर्य पूर्व श्लोक की व्याख्या में द्रष्टव्य है।] यदि अहं—यदि मैं अर्थात् सर्वेश्वर वासुदेव जातु—कभी भी अतन्द्रितः सन्—अनलस होकर अर्थात् 'मैं पूर्ण हूँ, मैं कृतार्थ हूँ, मुझे कर्म करने की क्या आवश्यकता है ? इत्यादि सोचकर, कर्म करने में स्वभावतः जो आलस्य होता है, उस अलसता का परित्याग कर कर्मणि—कर्म में न वर्त्तेयम्—वर्त्तमान न रहूँ अर्थात् कभी भी अगर मैं कर्म से निवृत्त होऊँ तब मनुष्याः—कर्माधिकारी मनुष्य लोग सर्वशः—सभी प्रकार से मम वर्त्म अनुवर्त्तन्ते—मेरे पथ का अनुसरण करेंगे अर्थात् मैं सर्वज्ञ, सर्वेश्वर समस्त जीवों से श्रेष्ठ होने के कारण 'अश्रेष्ठः श्रेष्ठानुसारी' (साधारण व्यक्ति श्रेष्ठ व्यक्तियों का अनुसरण करते हैं) इस नियम के अनुसार मैं जिस पथ का अवलम्बन करूँगा दूसरे लोग भी उसी पथ का अनुसरण करेंगे। मुझे कर्मत्याग करते हुए देखकर वे भी कर्मत्याग करेंगे एवं विहित कर्मों का अनुष्ठान नहीं करने के कारण चित्तशुद्धि तथा ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ होंगे एवं मनुष्य जीवन के परम श्रेयः (मोक्ष) से चिर-वंचित रह जायेंगे।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[कर्म नहीं करने से लोगों का नाश होता है इसे दिखा रहे हैं—] हि—चूँकि, जातु—कभी भी यदि अहं कर्मणि अतन्द्रितः न वर्त्तेयम्—यदि मैं अतन्द्रित (आलस्यरहित) होकर कर्म में वर्तमान न रहूँ अर्थात् कर्मों का अनुष्ठान न करूँ तब मम वर्त्म—मेरे ही मार्ग को मनुष्याः सर्वशः अनुवर्तन्ते—सभी मनुष्य सभी प्रकार से अनुवर्त्तन (अनुसरण) करेंगे।

(२) शंकरानन्द—यदि कहो कि 'तुम सर्वेश्वर हो अतः लोकसंग्रह के लिए भी तुम्हारा कोई कर्तव्य नहीं रह जाता है क्योंकि तुम्हारा कोई अनर्थ नहीं हो सकता है।' इसके उत्तर में कहूँगा—नहीं, ऐसा कहना युक्त नहीं है। 'अश्रेष्ठ (साधारण व्यक्ति) श्रेष्ठ का अनुसरण करते हैं' इस न्याय के अनुसार ये कृष्ण सर्वज्ञ हैं' ऐसा जानकर सभी मेरा अनुसरण करेंगे। मेरे कर्म नहीं करने से सभी लोग अकर्म (कर्महीन) हो जायेंगे एवं उससे लोगों की हानि होगी। अतः मुझे कर्म करना चाहिए, इस अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए कह रहे हैं—अहं—'मैं कृतार्थ हूँ' ऐसा मानकर यदि मैं अतन्द्रितः सन्—आलस्यरहित होकर अर्थात् मन्त्रतन्त्र आदि के प्रयोगों में अप्रमत्त (सावधान) होकर यदि कर्मणि जातु न वर्तेयम्—किसी स्थान में एवं किसी समय में विहित कर्मों को न करूँ अर्थात् मैं विहित कर्मों का कर्ता न बनूँ तब मुझे कर्म-हीन देखकर सभी मनुष्य अकर्म (कर्मरहित) हो जायेंगे हि—चूँकि सर्वशः—सभी मनुष्याः—मनुष्य मम वर्त्म अनुवर्त्तन्ते—मेरे ही मार्गों का अनुसरण करते हैं। 'यह भगवान् सर्वज्ञ हैं' इस प्रकार मुझे सर्वज्ञ मानकर 'अश्रेष्ठ श्रेष्ठ व्यक्ति का अनुसरण करते हैं' इस नियम के अनुसार मेरे ही प्रदर्शित पथ में वे चलने लगते हैं। अतः मेरे कर्मों को त्याग करने पर वे भी कर्म त्याग कर देंगे।

(३) नारायणी टीका—भगवान् श्रीकृष्ण को किसी कर्म-फल की आकांक्षा या प्रयोजन नहीं है अथवा कर्म नहीं करने पर भी उनको किसी प्रकार का पाप होने की सम्भावना नहीं है। तब भी वे जगत् में सर्वश्रेष्ठ पुरुष हैं, अतः वे कर्म से विरत होने पर मनुष्य उनका ही मार्ग अनुसरण कर कर्त्तव्य कर्म से विरत होने पर चित्तशुद्धि प्राप्त करने में समर्थ नहीं होंगे अतः चित्त-शुद्धि के अभाव में ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ होकर मनुष्य जीवन का परम पुरुषार्थ जो मोक्ष है उससे चिरकाल के लिए वंचित रह जायेंगे। दूसरी बात विहित कर्मों का अनुष्ठान न करने पर साधारण लोगों को पाप होता है इस कारण मनुष्यों को पाप से बचाकर मोक्ष का अधिकारी

बनने के लिए अवतारी शरीर में भगवान् अपने ही अनलस रूप से वैदिक तथा लौकिक, सभी कर्मों का शास्त्र के अनुसार सम्पादन कर लोगों को शिक्षा प्रदान करते हैं। भगवान् का यहाँ पर कहने का अभिप्राय यह है कि मेरे दृष्टान्तों का अनुसरण कर जिन सम्प्रदायों में अथवा वर्ण या आश्रम में जो श्रेष्ठ हैं उन्हें भी मनुष्यों के कल्याण के लिए स्वधर्मविहित कर्मों को करना चाहिए ताकि साधारण व्यक्ति उन श्रेष्ठ व्यक्तियों के दृष्टान्तों का अनुसरण कर उत्पथगामी न बनें एवं अपने धर्मों के पालन में तत्पर रहकर अन्त में जीवन का परमश्रेयः (मोक्ष) प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त कर सकें।

[अच्छा, तुम यदि कर्म त्याग करो और मनुष्य यदि तुम्हारे अनुवर्ती होकर कर्म त्याग करें तब उससे क्या दोष होगा ? इसके उत्तर में कह रहे हैं]

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

अन्वय—अहं चेत् कर्म न कुर्याम् इमे लोकाः उत्सीदेयुः अहं सङ्करस्य च कर्ता स्याम् इमाः प्रजाः उपहन्याम्।

अनुवाद—मैं यदि कर्म न करूँ तब ये लोग भी (कर्मों को न करने के कारण) विनष्ट हो जायेंगे। तो मैं ही वर्णसंकर का कारण बन जाऊँगा एवं (उसके द्वारा) इन प्रजाओं के विनाश का भी हेतु बन जाऊँगा।

भाष्यदीपिका—अहं चेत् कर्म न कुर्याम्—मैं (सर्वज्ञ ईश्वर) यदि कर्म न कुर्याम्—कर्म न करूँ तब इमे लोकाः उत्सीदेयुः—[मनु प्रभृति जो मेरे अनुवर्ती हैं उनका भी कोई कर्म नहीं रहेगा एवं ऐसा होने पर 'अन्नाद् भवन्ति भूतानि' (गीता ३।१४–१६) इस जगत् चक्र के नियम के अनुसार यज्ञ आदि कर्म न किये जाने पर हविर्भाग के अभाव के कारण देवता भी क्षीण हो जायेंगे एवं इससे वृष्टि एवं अन्न प्रभृति के अभाव के कारण मनुष्य आदि प्राणियों की उत्पत्ति नहीं होगी एवं जिनकी उत्पत्ति हुई है, उनकी भी रक्षा ठीक ढंग से नहीं हो सकेगी। (शंकरानन्द)] अतः लोगों की स्थिति (रक्षा के हेतु) स्वरूप विहित कर्मों के अभाव में सभी विनष्ट हो जायेंगे केवल इतना ही नहीं बल्कि अहं संकरस्य च कर्ता स्याम्—वेदादि शास्त्र में जाति तथा वर्ण भेद के अनुसार जिन पृथक्-पृथक् कर्मों का विधान है उन व्यवस्थापक कर्मों को न किये जाने पर समस्त जाति

तथा वर्ण एक हो जायेंगे अतः वर्णों में संकीर्णता आ जायेगी। अतः मैं कर्म न करूँ तो मनु प्रभृति प्रजापति, इन्द्र आदि देवता एवं दूसरे सभी मनुष्य मेरा-अनुकरण कर कर्मत्याग करेंगे और इससे वर्णसंकरता आ जायेगी अतः मूलतः मैं ही वर्णसंकर का कर्ता बन जाऊँगा। उसी कारण से (अहम् इमाः प्रजाः उपहन्याम्—जागतिक विषयों में प्रजाओं पर अनुग्रह करने के लिए ही मैं कर्म में प्रवृत्त रहता हूँ ताकि ये लोग वेदविहित कर्मों के द्वारा ज्ञान तथा वैराग्य प्राप्त कर मेरे स्वरूप में (परमानन्द में) लौट आ सकें। किन्तु यदि मैं कर्म न करूँ तब सभी प्रजा मेरा अनुकरण कर स्वधर्म पालन करना छोड़ देगी एवं इस प्रकार धर्मलोप का कारण बनकर मैं इनका उपहनन (विनाश) करूँगा। अर्थात् मैं इनके विनाश का (दुर्गति प्राप्त कराने का) कारण बनूँगा [अभिप्राय यह है कि सद्गति का हेतु सत् कर्मानुष्ठान के अभाव में समस्त प्रजा ही नरक की गति प्राप्त करेगी। (शंकरानन्द)] किन्तु ऐसा होने पर ईश्वर के अनुरूप कार्य (जो होना अनुचित है ऐसा कार्य) मुझ में प्रसक्त—हो जायेंगे अर्थात् मेरे द्वारा सम्पादित होंगे। [उपहनन उपहति दुर्गति प्राप्ति। अतः उपहन्याम् शब्द का अर्थ है दुर्गति (नरक गति) प्राप्त करवाऊँगा। दुर्गति प्राप्त करवाना और नाश करना एक ही बात है।] इस प्रकार परम्परा क्रम से अनर्थ की उत्पत्ति हो सकती है। इसलिए जिस प्रकार मुझे उन अनर्थों की निवृत्ति के लिए, अर्थात् प्रजा की अधोगति निवारण करने के लिए कर्म करना पड़ रहा है इस प्रकार अविद्वान् को [एवं विद्वान् को भी जब तक षष्ठ तथा सप्तम साधन भूमिका की प्राप्ति न हो अर्थात् जब तक समाधि के अन्तराल में स्वेच्छा से व्युत्थान होते रहे तब तक] लोगों के हित के लिए कर्म करना चाहिए। अतः तुम्हारा जब कर्म में ही अधिकार है तब किसी प्रकार से कर्म त्याग करना तुम्हारे लिए उचित नहीं है। दूसरी बात यह है कि श्रेष्ठ व्यक्ति जैसा आचरण करते हैं दूसरों को भी वैसा ही आचरण करना चाहिए इसे मैंने पहले ही कहा था (गीता ३।२१)। तुम मुझे गुरु तथा श्रेष्ठ मानते हो (गीता २।७) अतः मेरे अनुवर्ती होकर मैं जैसा आचरण करता हूँ तुम्हें वैसा आचरण करना चाहिए [अर्थात् स्वतंत्र बुद्धि अवलम्बन कर कर्मत्याग करना उचित नहीं है। (मधुसूदन)]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[उसके बाद क्या होगा उसे कह रहे हैं-] चेत् अहम् कर्म न कुर्याम्—मैं यदि कर्म न करूँ तब उत्सीदेयुः इमे लोकाः- ये लोग धर्म-लोप के कारण नष्ट हो जायेंगे। संकरस्य च कर्ता स्याम्—

उससे (धर्मलोप होने से) जिस वर्ण संकर की उत्पत्ति होगी, उसका कर्ता मैं ही बनूँगा । उपहन्याम् इमाः प्रजाः—इस प्रकार मैं ही इन प्रजाओं को उपहत करूँगा अर्थात् मलिन कर दूँगा (अधोगति प्राप्त कराऊँगा) ।

(२) शंकरानन्द—वे भी अगर कर्म त्याग करें—तो उससे हानि क्या होगी ? ऐसा प्रश्न अर्जुन के मन में हो सकता है इसलिए भगवान् कह रहे हैं—

अहं चेत् कर्म न कुर्याम्—मैं यदि कर्म न करूँ तो ये लोग भी वैदिक कर्मों का त्याग कर देंगे । तो इमे लोकाः उत्सीदेयुः—'अन्नाद् भवन्ति भूतानि' (अन्न से प्राणियों की सृष्टि होती है) इत्यादि १४-१५ वें श्लोक में जो कहा गया है उस रीति के अनुसार हविर्भाग के अभाव के कारण देवताएँ क्षीण हो जायेंगी (क्योंकि हवि-ही देवताओं का आहार है) और हवि के अभाव के कारण वृष्टि आदि का अभाव होने पर मनुष्यों को उत्पत्ति नहीं होगी एवं जिन मनुष्यों की उत्पत्ति हुई है उनका भी विनाश हो जायेगा । (इस प्रकार ये लोग विनाश को प्राप्त हो जायेंगे) । केवल इतना ही नहीं, वर्ण-सांकर्य की उत्पत्ति भी होगी—इसे हो अब कह रहे हैं संकरस्य च कर्ता स्याम्—['मैं' कृतकृत्यता प्राप्त किया हूँ ऐसा अभिमान कर लोक-स्थिति के कारणरूप वैदिक कर्मों का त्याग कर] संकर का कर्ता बन जाऊँगा अर्थात् उस वाणी तथा जाति के भेद के व्यवस्थापक कर्मों का अनुष्ठान न होने के कारण सभी एक हो जायेंगे एवं वर्णसंकर उत्पन्न हो जायगा अर्थात् मैं उस संकीर्णता का कर्ता हो जाऊँगा । एवं इस प्रकार से सांकर्य सम्पादन कर इमाः प्रजाः उपहन्याम्—मैं ही सभी प्रजाओं के उपहति का कर्ता अर्थात् दुर्गति प्राप्त कराने वाला कर्ता (हेतु) बन जाऊँगा । सद्गति के हेतु जो सत्कर्म हैं उनका अभाव होने पर सभी मनुष्य नरकगामी हो जायेंगे यही कहने का अभिप्राय है । चूँकि इस प्रकार परम्पराक्रम से अनर्थ की प्राप्ति होती है अतः मैं अथवा तुम अथवा दूसरा कोई आत्मज्ञानी कृतकृत्य होने पर भी लोगों के हितसाधन के लिए (सभी व्यक्ति को) कर्म करना ही चाहिए, यही सिद्ध होता है । [भाष्यदीपिका तथा शंकरानन्द की व्याख्या एक ही प्रकार की है ।]

(३) नारायणी टीका—मैं (सर्वज्ञ भगवान्) कर्म नहीं करने पर मेरा अनुकरण कर लोग यज्ञ, व्रत, दान एवं अपने-अपने वर्णाश्रमों के अनुसार समस्त कर्मों को ही त्याग कर देंगे । इस प्रकार कर्म लुप्त होने पर वर्ण तथा

जातिभेद के व्यवस्थापक किसी कर्म के न रहने के कारण मनुष्य स्वेच्छाचारी हो जायेंगे एवं उसके कारण वर्णसंकर की उत्पत्ति होगी। इस प्रकार मैं ही धर्मलोप तथा वर्णसंकर का कारण बन कर प्रजाओं के विनाश अर्थात् अधोगति का कर्त्ता बन जाऊँगा।

तुम यदि मेरे समान आत्मवित् होकर कृतार्थबुद्धि हो अथवा मुझसे भिन्न दूसरा कोई कृतार्थ बुद्धि आत्मज्ञ पुरुष हो—तब भी तुम्हें (अपना कोई कर्त्तव्य नहीं रहने पर भी) दूसरों के प्रति अनुग्रह करने के लिए कर्म करना चाहिए, इसे ही इन श्लोकों में भगवान् के कहने का अभिप्राय है। [अब कहा जा रहा है कि विद्वान् व्यक्तियों को कर्तृत्वाभिमान रहित होकर कैसा कर्म करना चाहिए ? ।]

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

अन्वय—हे भारत ! कर्मणि सक्ताः अविद्वांसः यथा कुर्वन्ति, विद्वान् असक्तः (सन्) लोकसंग्रहं चिकीर्षुः तथा कुर्यात्।

अनुवाद—हे भारत (अर्जुन) ! अविद्वान् लोग (अज्ञलोग) कर्म में आसक्त हो कर अर्थात् कर्म के फल में आसक्ति रखकर जिस प्रकार से कर्म का अनुष्ठान किया करते हैं उस प्रकार से ही लोकसंग्रह करने में इच्छुक विद्वान् अनासक्त होकर कर्म का अनुष्ठान करेंगे।

भाष्यदीपिका—हे भारत, हे अर्जुन ! तुम श्रेष्ठ भरत राजा के वंश में उत्पन्न हुए हो इसलिए अपना मत अर्थात् ज्ञान प्राप्त कर उसमें रत रहने की इच्छा कर रहे हो इसलिए मैं जिस प्रकार शास्त्र का तात्पर्य कह रहा हूँ, उसे समझने में तुम अवश्य ही योग्य हुए हो इसे सूचित करने के लिए 'भारत' शब्द के द्वारा भगवान् ने सम्बोधन किया। कर्मणि सक्ताः—इस कर्म का फल मेरा ही होगा', इस प्रकार कर्म में आसक्त होकर अर्थात् इस प्रकार कर्तृत्वाभिमान के साथ स्वर्ग, पुत्र, धन आदि कर्मफलों की आशा से कर्म में आसक्त या अभिनिविष्ट होकर अविद्वांसः—अविद्वान् अर्थात् अनात्मज्ञ (अज्ञ) व्यक्तिलोग यथा कुर्वन्ति—जिस प्रकार उत्साह एवं नियमपूर्वक कर्म करते हैं विद्वान्—ब्रह्मवित् (आत्मज्ञ) पुरुष असक्तः सन्—अनासक्त होकर अर्थात् कर्तृत्वाभिमान तथा फलाभिसन्धि त्याग कर लोकसंग्रहं चिकीर्षुः—लोकसंग्रह करने की इच्छा रखकर अर्थात् लोगों को

सन्मार्ग में प्रवर्त्तित करने में इच्छुक होकर तथा—उस प्रकार से ही उत्साह तथा नियमपूर्वक कुर्यात्—विहित कर्मों का अनुष्ठान करें। [इस प्रकार से कर्म करने से अपने को संसार-सागर से पार तो करेंगे ही साथ ही दूसरों को भी पार करेंगे।

विद्वान् व्यक्ति कर्तृत्वाभिमान त्याग कर कर्म करते हैं; फल क्या होगा ? उस विषय में वे हर्ष, विषाद से शून्य हो जाते हैं। अतः कर्म करने पर भी उनको बन्धन नहीं रहता है। नियम तथा उत्साहपूर्वक कर्म करने के विषय में वे दोनों ही बराबर हैं, किन्तु कर्मफल में आसक्ति तथा अनासक्ति के विषय में दोनों में ही भेद है अर्थात् अज्ञव्यक्ति स्वयं कर्म के फल को भोग करने के लिए कर्म किया करते हैं और विद्वान (तत्त्ववित्) व्यक्ति आसक्तिशून्य होकर केवल लोकसंग्रह के लिए कर्म करते हैं यही है दोनों में भेद]।

जो कहते हैं कि समस्त विद्वान् को ही (तत्त्वज्ञानी को) जीवन के अन्तिम दिन तक कर्म करना चाहिए, उन्हें 'चिकीर्षुः' शब्द के प्रति ध्यान देना चाहिए। जिनमें लोकसंग्रह की इच्छा है, उन ज्ञानियों के लिये कर्मानुष्ठान सम्भव है। जो लोग सर्वदा आत्मा में ही स्थित हैं उनमें कोई इच्छा या मानसिक व्यापार नहीं रह सकता है अतः उनके लिए कोई कर्म भी सम्भव नहीं है (गीता ६।२५, ३।१७, ५।१३-१५, १८।४९, २।४५ इत्यादि)। इसलिए श्रीभगवान् के किन लोगों के लिए कर्म करना सम्भव है उसे स्पष्ट करने के लिए 'चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्' कहा है।

टिप्पणी। (१) श्रीधर—[अतः आत्मज्ञ व्यक्तियों को लोकसंग्रह के लिए लोगों के प्रति कृपा करनी चाहिए, इसे कहकर उपसंहार कर दे रहे हैं--]

हे भारत !—हे भरत कुल में उत्पन्न अर्जुन ! अविद्वांसः कर्मणि सक्ताः यथा कुर्वन्ति—अज्ञ व्यक्ति लोग कर्म में आसक्त होकर अर्थात् अभिनिविष्ट होकर जैसा कर्म करते हैं, विद्वान् तथा असक्तः (सन्) लोकसंग्रहं चिकीर्षुः कुर्यात्—विद्वान् को भी उसी प्रकार आसक्तिरहित होकर लोक-संग्रह (लोगों की रक्षा) करने की इच्छा कर कर्म करना उचित है।

(२) शंकरानन्द—तब लोगों के हित के लिए कर्म में प्रवृत्त विद्वान् को कैसा कर्म करना चाहिए ? इस प्रकार की जिज्ञासा के उत्तर में कह रहे हैं—

अविद्वांसः—अनात्मज्ञ व्यक्ति लोग, कर्मणि—कर्मजनित फल में अर्थात् स्वर्ग, पुत्र, धन आदि में सक्ताः—आसक्त होकर यथा कुर्वन्ति—नियमपूर्वक

श्रद्धा तथा भक्ति के साथ विहित कर्मों को जैसे करते हैं तथा—उस प्रकार ही वर्त्तमान रहकर लोकसंग्रहम् चिकीर्षुः—लोकसंग्रह (लोगों का हित) करने को इच्छुक विद्वान्—ब्रह्मवित् अधिकारी पुरुष असक्तः (सन्)—स्वयं आसक्तिहीन होकर अर्थात् कर्तृत्वाभिनिवेश रहित होकर एवं फलाकांक्षारहित होकर कुर्यात्—कर्म करेंगे। इस प्रकार से कर्म करने पर स्वयं संसार से उत्तीर्ण हो जाते हैं एवं दूसरों को उत्तीर्ण करने में समर्थ होते हैं। कर्तृत्वाभिनिवेश रहित होना, कर्म फल की अपेक्षा न करना, एवं कर्म की सिद्धि तथा असिद्धि में हर्ष तथा विषादशून्यता ही अज्ञ पुरुष से तत्त्वज्ञ पुरुष की विशिष्टता (विलक्षणता) है। नियमपूर्वक कर्म करना तो दोनों में ही अर्थात् ज्ञानी तथा अज्ञानी में समान रूप में ही दिखता है।

(३) नारायणी टीका—विद्वान् अधिकारी पुरुष लोग लोककल्याण के लिए ही जन्म ग्रहण करते हैं। अतः वे लोकसंग्रह की इच्छा करते हैं (चिकीर्षुः लोकसंग्रहम्)। और जो विद्वान् (तत्त्वज्ञ) पुरुष नित्य आत्मसंस्थ रहते हैं उनमें किसी प्रकार का संकल्प या इच्छा नहीं रह सकती है। अतः लोकसंग्रह के लिए कर्म करना भी उनके लिए असम्भव है। श्लोक में 'असक्तः' शब्द का अर्थ (क) कर्म करते हुए कर्तृत्व में आसक्तिहीन अर्थात् देह आदि ही प्रकृति के वश के कारण (ईश्वर के संकल्प के अनुसार) यंत्र की तरह कर्म कर रहा है। 'मैं नित्यशुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ—कर्ता, कर्म तथा करणों का द्रष्टा हूँ' इस प्रकार से कर्तृत्वाभिमानशून्य होकर रहना (ख) कर्म में आसक्तिशून्य होकर अर्थात् जब कर्म प्रकृति या ईश्वर के संकल्पों के द्वारा सम्पन्न हो रहा है (गीता ३।२७–२८, १८।५९–६०) तब कर्म मेरा नहीं है, ऐसा बोध, (ग) कर्मफल में आसक्तिहीन अर्थात् किस कर्म का फल क्या होगा उसे ईश्वर ने पहले ही निर्धारित कर दिया है, एवं जो होने वाला है वह होगा ही, जो नहीं होने वाला है वह नहीं होगा, इस प्रकार निश्चयात्मिका बुद्धि के द्वारा कर्मफल शुभ हो या अशुभ हो उस विषय में हर्ष तथा विषाद से शून्य रहना। विद्वान् (जिन्होंने यथार्थ रूप से आत्मतत्त्व को जान लिया है वे) इस प्रकार से कर्तृत्वाभिमानशून्य होकर एवं कर्म में तथा कर्मफल में आसक्तिहीन होकर लोक शिक्षा के लिए कर्म करते हैं। अतः वे कर्म के द्वारा संसारबन्धन को प्राप्त नहीं करते हैं। और अज्ञव्यक्ति को कर्तृत्व में, कर्म में तथा कर्मफल में आसक्ति रहने के कारण वे संसार बन्धन में पड़े रहते हैं। वाह्य दृष्टि से कर्म एक ही प्रकार का रहने पर भी अविद्वान् में यही विशेषत्व है।

[इस प्रकार लोकसंग्रह की इच्छा से यदि मैं प्रवृत्त होऊँ अथवा दूसरा कोई आत्मतत्त्ववित् व्यक्ति प्रवृत्त हो तब उनके लिए लोकसंग्रह के अलावा कोई कर्त्तव्य नहीं रहता है, यही कहा जा चुका है। अब कहा जा रहा है कि लोकसंग्रह में प्रवृत्त आत्मवित् किस प्रकार कर्म करेंगे ?]

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
❋ योजयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

अन्वय--अज्ञानां कर्मसंगिनां बुद्धिभेदं न जनयेत् । (अपितु) विद्वान् युक्तः (सन्) सर्वकर्माणि समाचरन् योजयेत् ।

अनुवाद—कर्म में आसक्त अज्ञ व्यक्तियों में बुद्धिभेद उत्पादन करना नहीं चाहिए बल्कि ज्ञानी व्यक्ति आत्मा से युक्त होकर अर्थात् आत्मनिष्ठ होकर स्वयं सभी कर्मों का अनुष्ठान कर उनको भी कर्ममार्ग में नियुक्त करें ।

भाष्यदीपिका—अज्ञानाम्—जो लोग अविवेकी हैं अर्थात् अनात्म दृश्य वस्तु से (देह, इन्द्रिय आदि से) आत्मा को पृथक् करने में असमर्थ हैं ऐसे अविवेकी देहात्माभिमानी व्यक्तियों को, एवं कर्मसंगिनाम्—जो लोग इस अज्ञानता के कारण कर्तृत्वाभिमानवश एवं फल की आकांक्षा कर कर्म में आसक्त होते हैं, उन कर्माभिनिविष्ट व्यक्तियों का बुद्धिभेदं न जनयेत्—'मेरा यह कर्त्तव्य है, मुझे इसका (कर्म का) फल भोग करना पड़ेगा, इस प्रकार अज्ञ व्यक्ति की जो निश्चयात्मिका बुद्धि है उस बुद्धि का भेद अर्थात् परिचालन न करें । [आत्मा अकर्ता है, स्वर्ग आदि फल अनित्य अर्थात् मिथ्या हैं इन तत्त्वोपदेशों के द्वारा उस बुद्धि को विचलित न करें । (मधुसूदन)] अपितु विद्वान्—किन्तु विद्वान् को यह उचित है कि युक्तः सन्—स्वयं देह, इन्द्रिय आदि से विलक्षण, अखंड, चैतन्यस्वरूप आत्मा के साथ अभियुक्त (सर्वतो रूप से युक्त) होकर अर्थात् आत्मनिष्ठ होकर सर्वकर्माणि—अविद्वान् व्यक्ति जिन कर्मों का अधिकारी है उन शास्त्रविहित कर्मों को समाचरन्—स्वयं विधि के अनुसार सम्यक् प्रकार से (शास्त्रानुकूल) आचरण के द्वारा शास्त्रवाक्य में उनका विश्वास तथा श्रद्धा उत्पादन कर योजयेत्—उनसे कर्म करवाये । ('जोषयेत्' ऐसा पाठ भी है । उसका अर्थ यह है कि उनको किस प्रकार कर्त्तव्य कर्म में प्रीति उत्पन्न हो, उसी प्रकार से समस्त कर्म में नियुक्त करें ।)

❋ जोषयेत् इति वा पाठः ।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[तब तो लोगों के प्रति कृपा कर उन्हें तत्त्वज्ञान का उपदेश देना ही युक्तियुक्त है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं नहीं वह उचित नहीं है]। अज्ञानां कर्मसंगिनाम्—अज्ञ अर्थात् कर्मसक्तों को, 'आत्मा अकर्ता है' ऐसे उपदेश के द्वारा उनमें बुद्धिभेदं न जनयेत्—बुद्धिभेद नहीं उत्पन्न करना चाहिए अर्थात् जिनका 'कर्म करना मेरा कर्तव्य है ऐसी बुद्धि है, उनको आत्मा अकर्ता है इत्यादि धर्मोपदेश के द्वारा दूसरे प्रकार की बुद्धि उत्पन्न कर कर्मानुष्ठान से उनकी बुद्धि को विचलित नहीं करना चाहिए। सर्वकर्माणि योजयेत्—बल्कि अज्ञ व्यक्तियों को समस्त प्रकार के विहित कर्मों में युक्त कर देना चाहिए अर्थात् उनसे कर्म करवा लेना चाहिए। [प्रश्न है किस प्रकार से उन्हें कर्म में युक्त करना चाहिए ? इसके उत्तर में कह रहे हैं] विद्वान् युक्तः समाचरन्—विद्वान् (तत्त्वदर्शी) पुरुष को युक्त (सावधान अर्थात् अवहित) होकर स्वयं सम्यक् प्रकार से आचरण कर (कर्मानुष्ठान कर) उनको कर्म में युक्त कर देना चाहिए। अज्ञ व्यक्तियों की बुद्धि का विचालन (विचलित) करने से उनकी कर्म में श्रद्धा निवृत्त (नष्ट) हो जायेगी अतः [चित्तशुद्धि का कोई उपाय उनके पास नहीं रहने के कारण] वे ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सकेंगे। अतः वे दोनों ही लोक से भ्रष्ट हो जायेंगे अर्थात् कर्मत्याग कर इह लोक में बुद्धि लाभ नहीं कर सकेंगे पुनः ज्ञान के अभाव के कारण परकाल में भी मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ नहीं हो सकेंगे।

(२) शंकरानन्द–पुनः विद्वान्–ब्रह्मवित् युक्तः (सन्)–देहेन्द्रियादि के साथ आत्मा के तादात्म्य का अभाव दर्शन कर (आत्मा को देहेन्द्रियादि से पृथक् जानकर) उस दर्शनरूप योग में निष्ठ रहकर (ब्रह्मस्वरूप आत्मा में स्थित रहकर) समाचरन्—जिस समय में जो करना चाहिए उस समय में उस कर्म को सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान कर कर्मसंगिनाम् अज्ञानाम्—कर्म में आसक्त अज्ञ व्यक्तियों को अर्थात् जो लोग कर्म के फल के साथ संग रखकर (फल की अपेक्षा कर) नियमपूर्वक कर्म करते हैं उन अज्ञ पुरुषों का अथवा देहेन्द्रियादि के द्वारा अनुष्ठित कर्म में 'मैं कर्ता भोक्ता हूँ' इस प्रकार के अज्ञ कर्मसंगियों का अर्थात् अनात्मवित् मूढ़पुरुषों की बुद्धिभेदम् न जनयेत्—अपने पांडित्य-अभिमान के द्वारा बुद्धिभेद उत्पन्न न करें। 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्' (स्वर्गकामी ज्योतिष्टोम याग करे) इस प्रकार के वचन से ज्योतिष्टोम को करने पर स्वर्गादि फल की प्राप्ति होगी, स्वर्गादि को प्राप्त करने की यह जो कामना अज्ञ व्यक्ति में है उसे यहाँ बुद्धि कहा गया है। इस प्रकार की बुद्धि का

भेद अर्थात् चालन को बुद्धिभेद कहा जाता है। फलासक्त होकर जो लोग कर्म किया करते हैं उनकी फल कामनायुक्त बुद्धि को विद्वान् व्यक्ति विचलित न करें, यही कहने का अभिप्राय है। कामना के साथ कर्म करना नहीं चाहिए, अथवा स्वर्ग प्रभृति फल असत् (अनित्य) हैं, अथवा कर्तृत्व आदि सब मिथ्या है, ऐसा कहकर उनकी बुद्धि को विकल नहीं करना चाहिए। किन्तु सर्वकर्माणि जोषयेत्—'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः' 'पश्यति पुत्रं पश्यति पौत्रम्' (चातुर्मास्य के याजनकारियों का फल अक्षय होता है, पुत्र को देखते हैं, पौत्र को देखते हैं) 'तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति' (इसलिए धर्म को श्रेष्ठ माना जाता है) इत्यादि वचन के द्वारा समस्त वैदिक कर्मों को करवाना चाहिए अर्थात् कर्मफल की स्मृति कर अज्ञ व्यक्तियों में कर्म करने की इच्छा की वृद्धि करवाना चाहिये (उनको शास्त्रविहित कर्मों में अश्रद्धा या अनुत्साह उत्पन्न कराने वाला कोई काम नहीं करना या कुछ नहीं बोलना चाहिये)।

(३) **नारायणी टीका**—अनधिकारी व्यक्तियों को तत्त्वोपदेश देकर उनकी बुद्धि को विचलित नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से जिन कर्मों में उनका अधिकार है उन कर्मों के प्रति उनको श्रद्धा नहीं रहेगी फिर चित्त मलिन रहते हुए विहित कर्म त्याग करने से उनमें ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। अतः वे कर्म तथा ज्ञान दोनों से ही भ्रष्ट हो जायेंगे। इसलिए शास्त्र में कहा गया है 'अज्ञस्यार्द्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत् महानिरयजालेषु स तेन विनियोजितः।' अर्थात् अज्ञ तथा अर्द्धप्रबुद्ध व्यक्ति का जो ऐसा उपदेश देते हैं कि सब कुछ ही ब्रह्म है वे उसको (उस अज्ञ व्यक्ति को) महानरक समूह में गिराते हैं। ज्ञानी व्यक्ति के कर्म नहीं करने से उनका अनुसरण कर अज्ञ व्यक्ति भी कर्म करना छोड़ देंगे किन्तु अज्ञानी व्यक्ति शास्त्रविहित नित्यनैमित्तिक कर्म का त्याग करने से चित्तशुद्धि तथा ज्ञान-प्राप्ति नहीं कर सकेगा। अतः कर्मों का त्याग करने से उसका महान् अनिष्ट होगा। इसीलिए ज्ञानी व्यक्ति अपना कोई प्रयोजन न रहने पर भी विधि-पूर्वक कर्म कर अज्ञानी को कर्म में नियुक्त करे किन्तु ज्ञानी ऐसा कर्म करते रहने पर भी स्वयं सर्वदा आत्मा में ही युक्त रहा करते हैं। इसलिए उस कर्म के द्वारा उनको कोई अनिष्ट (बन्धन) होने की सम्भावना नहीं रहती है यही यहाँ कहने का अभिप्राय है।

[अनात्मज्ञ मूर्ख व्यक्ति किस प्रकार कर्म में आसक्त होते हैं, यही कहा जा रहा है—]

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

अन्वय—प्रकृतेः गुणैः सर्वशः कर्माणि क्रियमाणानि; अहंकारविमूढात्मा "अहं कर्त्ता" इति मन्यते ।

अनुवाद–प्रकृति के सत्त्व, रजः तथा तमः इन तीन गुणों के परिणाम के द्वारा समस्त कर्म सम्पादित किये जाते हैं। किन्तु जिसके चित्त (आत्मा) में अहंकार है वह व्यक्ति 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानते हैं ।

भाष्यदीपिका–**प्रकृतेः गुणैः**—सत्त्व, रजः, तमः—इन तीनों की साम्यावस्था को प्रधान या प्रकृति कहा जाता है। [इसे ही सत्त्वरजस्तमोगुणमयी माया अथवा मिथ्या अज्ञानरूपा अनिर्वचनीया परमेश्वर की शक्ति कही जाती है। श्रुति में कहा गया है "मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनन्तु महेश्वरम्" (श्वेता० उ० ४।१०) अर्थात् माया को प्रकृति एवं मायी को (माया के अधीश्वर) महेश्वर जानो (मधुसूदन)]। उस प्रकृति का गुण या कार्यकारणरूप विकार के द्वारा अर्थात् मन, बुद्धि, इन्द्रिय इत्यादि कारणरूप विकार के द्वारा एवं देह इत्यादि कार्यरूप विकार के द्वारा **क्रियमाणानि**—समस्त प्रकार के लौकिक तथा शास्त्रीय समस्त कर्म क्रियमाण होते हैं अर्थात् सम्पादित होते हैं। **अहंकारविमूढात्मा**—कार्य तथा कारण के संघात के ऊपर आत्मबुद्धि करना अर्थात् बुद्धि, मन, इन्द्रिय, देह प्रभृति अनात्मवस्तु के धर्म को अपने ऊपर (आत्मा के ऊपर) आरोप करने का नाम है अहंकार। उस अहंकार के द्वारा विविध प्रकार से (अनेक प्रकार से) जिनकी आत्मा (अन्तःकरण), मूढ़ (मोहप्राप्त) हुई है उस व्यक्ति को 'अहंकारविमूढात्मा' कहा जाता है। ऐसे व्यक्ति **"अहं कर्ता" इति मन्यते**—कार्यकारण के (देह, इन्द्रिय आदि के) धर्म को अपना धर्म मानते हैं एवं कार्यकारण को (देह, इन्द्रिय को) ही आत्मा मानते हैं। अतः प्रकृति के द्वारा सम्पादित (कृत) कर्मों को अविद्या के कारण अपना धर्म मानकर 'मैं कर्ता हूँ' 'मैं कर रहा हूँ' ऐसा अभिमान किया करते हैं ।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[यदि ज्ञानी को भी कर्म करना कर्त्तव्य है तब ज्ञानी तथा अज्ञानी में भेद क्या है ?

इसके उत्तर में दो श्लोकों में (२७-२८ वें श्लोकों में) दोनों में विशेषता (पार्थक्य) क्या है उसे ही दिखा रहे हैं]। **प्रकृतेः गुणैः**—प्रकृति का गुण अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ही सर्वशः कर्माणि क्रियमाणानि—

सभी प्रकार से कर्म सम्पन्न हुआ है। अहंकारविमूढात्मा—अहंकार के द्वारा इन्द्रियों में आत्मा का अभ्यास कर [इन्द्रियों का धर्म आत्मा में एवं आत्मा का धर्म इन्द्रियों में आरोप कर] विमूढ-आत्मा (विमूढबुद्धि) होकर अहम् कर्ता इति मन्यते अज्ञ व्यक्ति उन कर्मों को (इन्द्रियादि के द्वारा किये गये कर्मों को) मैं ही कर रहा हूँ, ऐसा मानते हैं [अहंकार के द्वारा विमूढ होने के कारण ही, ऐसा सोचा करते हैं]।

(२) शंकरानन्द—पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है कि मूढ व्यक्तियों के लिए ही कर्म होता है, पंडितों के लिए नहीं (अर्थात् पंडितलोग बाह्य रूप से कर्म करने पर भी उन लोगों का कर्म अकर्म ही हो जाता है)। इसे सूचित करने के लिए पूर्ववर्ती श्लोक में 'अज्ञानां कर्मसंगिनाम्' ऐसा कहा गया है। उस श्लोक में 'कर्मसंगिनाम्' इस पद के द्वारा क्या समझाया जा रहा है उसे ही अब स्पष्ट रूप से कह रहे हैं—प्रकृतेः—प्रकृति का (माया का) अर्थात् जो माया सत्त्व, रजः तथा तमः इन तीनों गुणों के द्वारा आकाश, वायु, तेजः जल, पृथ्वी इस पंचमहाभूत के रूप में परिणत हुई है, उस माया के द्वारा गुणैः—गुणों के द्वारा अर्थात् गुणों के कार्य देह, इन्द्रिय प्रभृति के द्वारा सर्वशः कर्माणि—सारे कर्म क्रियमाणानि—अनुष्ठित हो रहे हैं। कभी भी कर्म आत्मा के द्वारा सम्पादित नहीं होता है। इस प्रकार प्रकृति के गुणों के द्वारा सम्पादित समस्त कर्म के प्रति ही अविद्वान् पुरुष अहंकारविमूढात्मा—अपना स्वरूप न जानने के कारण अनात्मदेह, इन्द्रिय आदि में 'मैं' इस बुद्धि को, अर्थात् देह, इन्द्रिय आदि में आत्माभिमान को अहंकार कहा जाता है। उस अहंकार के द्वारा विमूढ़ अर्थात् विपरीत रूप से (अनात्म वस्तु को आत्मा, अनित्य जगत को नित्य, अशुद्ध देह को शुचि एवं दुःखमय जीवन को सुखमय, इस प्रकार विपरीत रूप से) ग्रहण करने में जिनकी आत्मा (मन) तत्पर हुई है उन्हें अहंकारविमूढात्मा कहा जाता है। अथवा-'विमूढ' शब्द में अन्तर्गर्भित निच् प्रत्यय है। देह, इन्द्रिय आदि में अहंकरण द्वारा (आत्मबुद्धि कर), विमोहित हुआ है प्रत्यगूलक्षण आत्मा (प्रत्यगात्मा) जिसके द्वारा वह अहंकार 'विमूढात्मा'। अर्थात् मैं द्रष्टा, स्पृष्टा (स्पर्श कर्म का कर्ता), श्रोता, घ्राता, रसयिता (रसास्वादनकारी), मन्त्र (मननकारी), वोद्धा (बोधकारी), कर्त्ता, भोक्ता इत्यादि प्रकार की उपाधि के सम्बन्ध के द्वारा उत्पन्न विपरीत वृत्तियों की विषयता को प्राप्त हुआ है आत्मा (प्रत्यगात्मा) जिसके द्वारा वह अहंकारविमूढ़ात्मा [अहंकार के द्वारा आत्मा विमूढ होने से इस प्रकार होता है—आँख दर्शन करने से जीव सोचता है कि 'मैं देख रहा हूँ', अर्थात्

आँख के धर्म को आत्मा में आरोप करता है। इस प्रकार समस्त इन्द्रियों के धर्म को आत्मा में आरोपित कर असंग, निष्क्रिय, अविकारी, शुद्धचैतन्य-स्वरूप आत्मा को विपरीत वृत्तिभावापन्न रूप से देखता है अर्थात् आत्मा को विषयासक्त, क्रियावान् (कर्तृत्वाभिमानयुक्त) एवं विकारी (जन्ममृत्यु-शील) मानता है।] अथवा [अहंकार जब तक रहता है तब तक 'अहं' का अर्थात् शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा का कोई साक्षात्कार कर नहीं सकता। अतः] देह, इन्द्रिय आदि में अहंकार करने पर अहं प्रत्यय का अर्थ शुद्धचैतन्य-स्वरूप आत्मा जिसके द्वारा विमोहित हुआ है (अविदित रहा है), उसे अहंकारविमूढात्मा कहा जाता है। ऐसा व्यक्ति **अहम् कर्ता इति मन्यते**—मैं (कर्मों का) कर्ता हूँ, ऐसा सोचता है। दुष्ट तथा अदुष्ट व्यक्ति प्रारब्ध के कारण देह, इन्द्रिय आदि के द्वारा सम्पादित दुष्ट तथा अदुष्ट कर्मों में (आत्मा का कोई कर्तृत्व नहीं रहने पर भी) 'मैंने पाप किया है, मैंने पुण्य किया है' इस प्रकार अपने को उन क्रियाओं का कर्ता मानता है, यही कहने का अभिप्राय है।

(२) **नारायणी टीका**—अज्ञानी व्यक्ति यह नहीं जानते हैं कि आत्मा निष्क्रिय, शुद्ध, नित्यमुक्त है। अनात्म वस्तु अर्थात् देह, इन्द्रिय आदि को ही आत्मा मानते हैं। यही है अविद्या या अज्ञान। वास्तविक रूप से जो कुछ कारण या कार्य के रूप में जगत् में प्रतीत होता है वह सब ही अनित्य, विकारशील तथा दृश्यपदार्थ है। वे माया या प्रकृति के ही कार्य हैं। परमात्मा की अनिर्वचनीया कल्पना शक्ति को ही माया या प्रकृति कहा जाता है। कल्पना कोई वस्तु नहीं है इसलिए तत्त्व दृष्टि में माया या प्रकृति मिथ्या है, अज्ञानस्वरूपा है क्योंकि विद्यमान न रहने पर भी जो अज्ञान या भ्रान्तिवश रज्जुसर्प की तरह, स्वप्न दृश्य की तरह अथवा मरीचि के जल की तरह प्रतीत होता है (दिखता है) उसे ही माया कहा जाता है। यह प्रकृति या माया ही कर्ता, कर्म तथा करण के रूप में प्रतीत होकर संसार-चक्र को चला रही है। वस्तुतः कर्ता, कर्म तथा करण सब ही मिथ्या है। तब भी अज्ञानी व्यक्ति दृश्य वस्तु से (अनात्म प्रकृति का कार्य देह इन्द्रिय आदि से) द्रष्टा को (शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को) पृथक् करने में असमर्थ होकर अध्यास-वश आत्मा का धर्म (चेतनता) कार्य-कारण में अर्थात् देह, इन्द्रिय आदि में एवं कार्य-करण के (देह इन्द्रिय आदि के) धर्म को आत्मा में आरोप कर उस देह, इन्द्रिय आदि के द्वारा सम्पादित कर्म में कर्तृत्वभोक्तृत्वाभिमान कर (अहंकारविमूढात्मा होकर) संसार-चक्र में भ्रमण करता है अर्थात् शुभ

तथा अशुभ प्रारब्ध के कारण देह, इन्द्रिय आदि के द्वारा किये गये पुण्य या पाप कर्म में 'मैं ही कर्ता हूँ' अर्थात् "मैंने पुण्य किया है, मैंने पाप किया है" ऐसा सोचकर पुण्य तथा पापरूप फल भोग करने के लिए इस कार्यकारणाभिमानी (देह, इन्द्रिय आदि में आत्माभिमानी) जीव जन्म-मृत्यु के प्रवाह में पतित हो जाता है। अतः कर्तृत्वाभिमान या अहंकार रहने के कारण ही अज्ञानी पुरुष कर्म फल में आसक्त होता है एवं महान् अनर्थ प्राप्त करता है, यही इस श्लोक का तात्पर्य है।

[अनात्म व्यक्ति की आत्मा अहंकार के कारण विमूढ़ होकर अपने को कर्मों का कर्ता माना करती है एवं कर्मफल में आसक्त रहती है. इसे पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है। अत्र कहा जा रहा है कि विद्वान् (आत्मज्ञ) व्यक्ति किस प्रकार से कर्म किया करते हैं।]

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्त्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

अन्वय—तु हे महाबाहो ! गुणकर्मविभागयोः तत्त्ववित् गुणाः गुणेषु वर्त्तन्ते इति मत्वा (गुणेषु) न सज्जते।

अनुवाद—परन्तु हे महाबाहो ! जिनमें गुणविभाग तथा कर्मविभाग के सम्बन्धन में यथार्थ ज्ञान है, वे तत्त्ववित् (अर्थात् जो गुण से आत्मा का विभाग एवं गुणों के कर्मों से आत्मा का विभाग, इनको जान गये हैं, वे) जानते हैं कि इन्द्रिय के रूप में, प्रकृति के गुण विषय के रूप में, परिणत प्रकृति के गुणों में ही व्यापृत हुआ रहता है (अर्थात् इन्द्रियाँ ही विषय में प्रवर्त्तित हैं, मैं तो निःसंग हूँ) ऐसा सोचकर कर्म में आसक्त नहीं होते हैं।

भाष्यदीपिका – तु—किन्तु। अज्ञ व्यक्तियों से तत्त्वज्ञ व्यक्तियों की विशिष्टता को समझाने के लिये यहाँ 'तु' शब्द का प्रयोग किया गया है। हे महाबाहो !—हे शक्तिशाली अर्जुन !—तुमने केवल बाहु के द्वारा ही निवात कवच आदि असुरों को पराजित किया है, इतना ही नहीं, परंतु तुम आत्मशक्ति के द्वारा अज्ञान रूप असुर को भी नष्ट कर तत्त्ववित् हो सकते हो, यही कहने के अभिप्राय से भगवान् ने यहाँ पर अर्जुन को 'महाबाहो' कहकर सम्बोधित किया है, [मधुसूदन सरस्वती का कहना है कि 'हे महाबाहो ऐसा सम्बोधन कर भगवान् यही सूचित कर रहे हैं कि सामुद्रिक शास्त्र में कहा गया है कि सत् पुरुष का लक्षण है दीर्घ बाहु और तुम में जब वह है तब असत् (अज्ञ) व्यक्ति की तरह तुम्हें अविवेकी नहीं होना

चाहिए।] गुणकर्मविभागयोः तत्त्ववित्—गुण शब्द का अर्थ है त्रिगुण का कार्य अर्थात् आँख, कान, नाक, जिह्वा, त्वक् ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि। इन गुणों से आत्मा का विभाग अर्थात् आत्मा जो उनसे विलक्षण (पृथक्) है स्वयं उन गुणों के कर्म जिस प्रकार चक्षुश्रोत्रादि का दर्शन श्रवण आदि क्रिया, वाक्पाणि आदि का वाक्य तथा ग्रहण रूप क्रिया, बुद्धि का अहंकरण क्रिया एवं मन का संकल्प विकल्प क्रिया इत्यादि) से शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा का विभाग अर्थात् विलक्षणता, इन तीनों तत्त्व को (अर्थात् गुणों का तत्त्व, कर्म का तत्त्व एवं उनसे आत्मा के विभाग रूप तत्त्व को जो जानते हैं [आत्मा असंग, कूटस्थ चिद्रूपमात्र है—त्रिगुण तथा उनसे होने वाले कर्म इसे कभी भी स्पर्श नहीं कर सकता है, इस तत्त्व को यथार्थरूप में जो जानते हैं] वे ही तत्त्ववित् हैं। वे तत्त्वज्ञ पुरुष गुणागुणेषु वर्त्तन्ते इति मत्वा—करणात्मक समस्त गुण (इन्द्रिय अर्थात् चक्षु आदि पाँचज्ञानेन्द्रियाँ एवं मन, बुद्धि आदि) विषय रूप गुण में अर्थात् रूप, रस आदि विषयों में प्रवृत्त होते हैं चूँकि वे दोनों ही प्रकृति के गुण हैं। इसलिए स्वभावतः ही वे विकारी हैं, किन्तु निर्विकार आत्मा कभी भी विषय में प्रवृत्त नहीं होता है ऐसा समझकर अर्थात् मैं (आत्मा) न तो सुनता हूँ, न तो देखता हूँ और न तो कहता हूँ, न करता हूँ और न तो चलता हूँ किन्तु सदा ही कूटस्थ असंग चित् स्वरूप निश्चल रूप से एक ही रूप में अवस्थान करता हूँ, ऐसा समझकर (जानकर) न सज्जते—किसी कर्म में आसक्त नहीं होते हैं। अज्ञानी व्यक्ति की तरह वे ऐसा कहकर कि मैं इस कर्म का कर्ता हूँ, मुझे इस कर्म का फल भोग करना पड़ेगा ऐसा कर्तृत्वाभिमान या फलयोग की आकांक्षा कर कर्म में आसक्त नहीं होते हैं [कार्य-कारण का अर्थात् देह-इन्द्रियादि को ही विषय में प्रवृत्ति होती है। आत्मा कूटस्थ होने के कारण उसकी किसी विषय में प्रवृत्ति होना सम्भव नहीं है, ऐसा जानकर किसी कर्म में 'यह मेरा कर्त्तव्य है', ऐसा अभिमान नहीं रखते हैं। (आनन्दगिरि)]

टिप्पणी (१) मधुसूदन—गुणाः=जीव अज्ञान के कारण, 'मैं देह हूँ, मैं इन्द्रिय हूँ, मैं अन्तःकरण हूँ,' ऐसी बुद्धि कर देह, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण के धर्म को अपने में आरोपित करते हैं। इसलिए देह, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण प्रभृति अहंकार का आश्रय हुआ करता है एवं इसी कारण उनको ही गुण कहा जाता है। कर्म—उन गुणों के (अर्थात् देह, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण) क्रिया एवं जिसमें ममत्वबोध रहता है अर्थात् यह मेरा कर्म है, इस

कर्म के फल में मेरा अधिकार है—ऐसा ममत्वबोध जिनमें रहता है, वही है कर्म। गुण तथा कर्म यहाँ पर समाहार द्वन्द्व है। विभाग—जो विभक्त है अर्थात् समस्त विकारी जड़ पदार्थों का प्रकाशक होने के कारण जो उस जड़ वर्ग से पृथक् हो जाता है वही विभाग है। अतः विभाग शब्द का अर्थ स्वप्रकाशक ज्ञान स्वरूप असंग कूटस्थ निर्विकारी आत्मा—'गुण कर्म विभाग' शब्द में 'गुण, कर्म एवं विभाग' इस प्रकार का द्वन्द्व समास है। गुणकर्मविभागयोः तत्त्ववित्—उस गुण, (ज्ञान का प्रकाश्य) एवं विभागरूपभासक (प्रकाशक ज्ञान) अर्थात् विकारी जड़ पदार्थ एवं निर्विकार चैतन्य सत्ता के तत्त्व (यथार्थ स्वरूप) को जो जानते हैं वे तत्त्ववित् हैं।

(२) श्रीधर—[पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है कि अज्ञानी व्यक्ति जिस प्रकार अपने को कर्म का कर्ता मानता है विद्वान् व्यक्ति ऐसा नहीं सोचते हैं—] तत्त्ववित् तु गुणकर्मविभागयोः—मैं गुणात्मक नहीं हूँ [सत्त्व, रजः तथा तमः इन तीनों गुणों से मै उत्पन्न नहीं हुआ हूँ] इस प्रकार गुण से आत्मा का विभाग (पृथकत्व) एवं कर्म मेरा नहीं है [देह, इन्द्रिय आदि का ही कर्म है] इस प्रकार कर्म से भी आत्मा का विभाग इन दोनों के [गुण तथा कर्म से आत्मा का विभाग] तत्त्व को जो जानते हैं वे तत्त्वज्ञ व्यक्ति न सज्जते—कर्त्तृत्वाभिनिवेश नहीं करते हैं [यह किस कारण से होता है, वही कहा जा रहा है] गुणाः गुणेषु वर्त्तन्ते इति मत्वा—उसका कारण यह है कि तत्त्वज्ञ व्यक्ति जानते हैं कि गुण (इन्द्रियाँ), गुणों में (अपने-अपने विषय में) प्रवृत्त हो रहा है—मैं (आत्मा) विषय में प्रवृत्त होता हूँ, यह सोचकर उनका कर्म में कर्तृत्वाभिनिवेश नहीं होता है।

(३) शंकरानन्द—२६ वें श्लोक में विद्वान् युक्तः' ऐसा कहने में यही स्पष्टतः प्रतिपादित हो रहा है कि विद्वान् व्यक्ति आत्मा में देह, इन्द्रिय एवं उनके कर्म के सम्बन्ध का अभाव दर्शन करते हैं।

गुणकर्मविभागयोः—गुण तथा कर्म दोनों का विभाग गुण शब्द का अर्थ है। गुण का कार्य आँख इत्यादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक् प्रभृति पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि। इनमें आँख, कान प्रभृति का दर्शन, श्रवण आदि क्रिया, वाक् पाणि प्रभृति का वचन, आदान प्रदान आदि क्रिया, बुद्धि का अहंकार रूप क्रिया एवं मन का संकलन क्रिया हुआ करता है। (इनको गुण का कर्म कहा जाता है)। आत्मा का गुण तथा कर्म (क्रिया) नहीं; वह तो कूटस्थ, असंग तथा केवल चित्स्वरूप से अवस्थान करता है। इस प्रकार गुण तथा

कर्म इन दोनों के विभाग का **तत्त्ववित् तु**—एवं साथ-साथ आत्मा के तत्त्व को जो यथार्थ रूप में जानते हैं वह तत्त्ववित् विद्वान् यहाँ 'तु' शब्द को अविद्वान् से विद्वान् को व्यावृत्त करने के लिए अर्थात् उनके भेद को दिखाने के लिए व्यवहार किया गया है **गुणाः**—(समस्त कर्मों में) आँख आदि, वाक् आदि तथा मन, बुद्धि **गुणेषु वर्त्तन्ते**—अपने-अपने गुण में व्यवस्थित हैं अर्थात् आँख, कान, रूप, शब्द आदि विषय को ग्रहण करने में, वाक् , पाणि इत्यादि वचन, आदान आदि में व्यवस्थित हैं, बुद्धि उन कर्मों में 'मैं करता हूँ' ऐसा अहंकार करती है **इति मत्वा**—ऐसा जानकर **न सज्जते**—उन कर्मों में 'मैं सुनता नहीं हूँ' देखता नहीं हूँ, कहता नहीं हूँ, करता नहीं हूँ तथा जाता नहीं हूँ, किन्तु मैं कूटस्थ, असंग, चिदात्मा तथा सर्वदा चुपचाप एक ही स्थान में अवस्थान करता हूँ' ऐसे निश्चय से उनकी मन तथा इन्द्रियों के कर्म में आसक्ति नहीं रहती है अर्थात् उन कर्मों में 'मैं, मेरा' ऐसी बुद्धि नहीं रहती है।

(४) **नारायणी टीका**—सारे कर्म गुणों से उत्पन्न होते हैं अर्थात् गुणों का विकार देह, इन्द्रिय आदि के द्वारा सम्पादित होता है, यह गुण तथा कर्मों से विभक्तरूप में अवस्थित कूटस्थ आत्मा की सत्ता में गुण तथा कर्म सत्तावान् प्रतीत होता है एवं आत्मा के प्रकाश से ही गुण तथा कर्म प्रकाशित होते हैं, आत्मा नित्य, सर्वगत, अचल, सनातन है और गुण तथा कर्म अनित्य, परिच्छिन्न, चंचल तथा विकारी। वस्तुतः तत्त्ववित् पुरुष इन गुणों तथा गुणों के कर्मों को, शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा में प्रतीत होने पर भी पारमार्थिक सत्ताहीन अर्थात् मिथ्या ही मानते हैं। इसलिए उनकी दृष्टि में ये समस्त गुण [गुणों का परिणाम (देह, इन्द्रिय आदि) गुणों में (गुणों के विकाररूप विषयों में)] प्रवृत्त रहने पर भी किसी कर्म में उनकी आसक्ति (कर्तृत्वाभिमान एवं फलाकांक्षा) नहीं रहती है क्योंकि वे सदा ही निःसंग, अद्वितीय, द्रष्टा स्वरूप में अवस्थान करते हैं। अतः देह, इन्द्रियाँ आदि का कार्य होने पर भी वे किसी प्रकार का कर्म या कर्मफल के द्वारा लिप्त नहीं होते हैं, जिस प्रकार कमल का पत्ता उसके ऊपर रहने वाले पानी के द्वारा सिक्त (गिला) नहीं होता है।

[पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है कि तत्त्वज्ञानी कर्म कर के भी उसमें आसक्त नहीं हो जाते हैं, और २६ वें श्लोक में कहा गया है कि अज्ञानी व्यक्ति की अवस्था उससे विपरीत है अर्थात् उसको कर्तृत्वाभिमान तथा फल में आसक्ति रहती है। इसलिए ज्ञान का उपदेश देकर अज्ञानियों का

बुद्धिभेद कर कर्मयोग से विचलित करने पर वे ज्ञान तथा कर्म दोनों पथ से भ्रष्ट हो जायेंगे। इसे ही अब कहा जा रहा है—]

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥

अन्वय—प्रकृतेः गुणसंमूढ़ाः गुणकर्मसु सज्जन्तेः, कृत्स्नवित् तान् अकृत्स्नविदः मन्दान् न विचालयेत्।

अनुवाद—प्रकृति के गुणों से विमुग्ध होकर अज्ञ व्यक्तिलोग इन्द्रियादि-रूप गुणों के कार्य में आसक्त रहते हैं। सर्वज्ञ (सभी अर्थों को जानने वाला) आत्मतत्त्वज्ञ व्यक्ति को उन अल्पबुद्धि मूढ़ (दुर्मति) लोगों को विचलित नहीं करना चाहिए अर्थात् उन लोगों की कर्म के ऊपर जो श्रद्धा है, उसे नष्ट नहीं करना चाहिए।

भाष्यदीपिका—प्रकृतेः गुणसंमूढ़ाः—प्रकृति के गुणों के द्वारा अत्यन्त मोहित होकर [पूर्वोक्त मायारूप प्रकृति के कार्यभूत धर्म के द्वारा अर्थात् प्रकृति के कार्यभूत देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण प्रभृति विकार जिसे गुण कहा जाता है उसके द्वारा (मधुसूदन)] सम्यक् मूढ़ (मोहग्रस्त) व्यक्तिलोग चित्तशुद्धि के अभाव तथा अपने स्वरूप का (आत्मा का) स्फुरण न होने के कारण अज्ञानी व्यक्ति भ्रान्ति से देहेन्द्रिय तथा अन्तःकरण में जो आत्मबुद्धि करते हैं उसे ही उनकी 'संमूढ़' (संमोहित) अवस्था कही जाती है। इस प्रकार मोहप्राप्त व्यक्तिलोग (देहेन्द्रियादि में आत्माभिमानकारी व्यक्तिलोग) गुणकर्मसु—गुणों के कर्मों में अर्थात् देह, इन्द्रिय तथा अन्तःकरणरूप गुणों के व्यापारों में सज्जन्ते—आसक्त होते हैं अर्थात् मैं इस फल के लिए कर्म कर रहा हूँ एवं यह मेरा ही कर्म है इस प्रकार कर्म गुणों का व्यापार होने से भी उन कर्म में दृढ़ रूप से आत्मीय बुद्धि ('मेरा कर्म है' ऐसी बुद्धि) कर आसक्त रहते हैं (मधुसूदन)। कृत्स्नवित्—जो परिपूर्ण रूप से आत्मतत्त्व को जान गये हैं वे तान् अकृत्स्नविदः मन्दान्—वे कर्मसंगी (मैं कर्म का कर्ता हूँ, ऐसा कर्तृत्वाभिमान कर कर्म में आसक्त) एवं कर्म-फलमात्रदर्शी (अर्थात् अनित्य, मिथ्या विषयरूप फल की प्राप्ति ही जिनके कर्म का एक मात्र उद्देश्य है-जिनके कर्म का उद्देश्य चित्तशुद्धि प्राप्त कर ज्ञान की प्राप्ति नहीं है, ऐसे अनात्मज्ञ) मन्दबुद्धि (चित्तशुद्धि के अभाव के कारण उनकी बुद्धि मन्द अर्थात् मलिन रहने के कारण जो ज्ञानप्राप्ति के अयोग्य हैं

ऐसे अनात्माभिमानी) व्यक्तियों को न विचालयेत्—बुद्धि भेद करने को ही चालन कहा जाता है। अतः 'न विचालयेत्' शब्द का अर्थ है कि बुद्धिभेद कर उन लोगों को विपथ में चालित नहीं करना चाहिए अर्थात् उनको, उनके कर्म के प्रति जो श्रद्धा है उससे च्युत नहीं करना चाहिए बल्कि उनके कर्म की प्रशंसा कर उन्हें कर्म में ही प्रवृत्त करना चाहिए । और जो व्यक्ति अमन्द हैं अर्थात् जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है उनमें विवेक का उदय होने से वे स्वयं ही कर्ममार्ग से विचलित हो जाते हैं क्योंकि तब उन्हें ज्ञान का अधिकार प्राप्त होता है, यही यहाँ कहने का अभिप्राय है। (मधुसूदन)]

[वार्त्तिककार सुरेश्वराचार्य "कृत्स्न तथा अकृत्स्न" शब्द का श्रुति के अर्थ के अनुसार क्रमशः आत्मा तथा अनात्मा के अर्थ में व्याख्या किये हैं। अद्वय, अखंड आत्मा ही 'कृत्स्न' वस्तु है इस कारण उस अद्वितीय आत्म-तत्त्व के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त होने से जानने का और कुछ भी नहीं रहता है। श्रुति भी कहती है—"आत्मनि अरे विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" (बृ. उ.)। इसलिए इस आत्मा को जो जान गये हैं वे 'कृत्स्नवित्' हैं। आत्मा के सिवा और सब कुछ ही जड़, अनित्य, परिच्छिन्न (अल्प), विकारी तथा सावयव है एवं अनेक धर्मों से विशिष्ट है। इस कारण घटादि कोई एक वस्तु यदि किसी धर्म के द्वारा अथवा किसी अवयव के द्वारा विशिष्ट होकर मनुष्य के ज्ञान का विषय बने किन्तु पश्चात् यदि वह वस्तु दूसरे धर्म या दूसरे अवयव के द्वारा विशिष्ट हो जाये तब वह उस व्यक्ति के निकट अज्ञात ही रहेगी। पुनः घट ज्ञात रहने से पट अज्ञात रह सकता है। इसलिए समस्त अनात्मवस्तु का ज्ञान असम्पूर्ण रहने के कारण उसे 'अकृत्स्न' कहा जाता है, इसलिए जो इस अनात्मवस्तु को सत्य मानकर उसमें ही 'मैं' तथा 'मेरा' ऐसा मानता है, वह 'अकृत्स्नवित्' है। (मधुसूदन)]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[अज्ञ—व्यक्तियों की बुद्धि का भेद नहीं करना चाहिए इस वाक्य का उपसंहार दे रहे हैं—] प्रकृतेः गुणसंमूढाः—प्रकृति के सत्त्व आदि गुणों के द्वारा संमूढ़ (सम्यक् प्रकार से मोहित) होकर गुणकर्मसु—गुण में अर्थात् इन्द्रिय आदि में एवं कर्म में अर्थात् इन्द्रिय आदि के कर्मों में सज्जन्ते–आसक्त रहते हैं। तान् अकृत्स्नविदः मन्दान्–उन अनात्मज्ञ मन्द मतिवाले लोगों को कृत्स्नवित्—सर्वज्ञ व्यक्ति न विचालयेत्–विचलित न करें [क्योंकि तब मन्द बुद्धि वाले लोग कर्मों के प्रति अपनी श्रद्धा को खो बैठेंगे]।

(२) शंकरानन्द—इस प्रकार देह, इन्द्रिय आदि के द्वारा अनुष्ठित कर्मों में अपना अकर्तृत्व दर्शन कर विद्वान् व्यक्ति 'अपने से विलक्षण अज्ञानी कर्मियों को भूल से भी विचलित न करें' इस प्रकार पहले २६ वें श्लोक में जो कहा गया है उस अर्थ को दृढ़ करने के लिए पुनः यहाँ कहा जा रहा है।

साधारण कर्मियों का विद्वानों से वैलक्षण्य दिखाया जा रहा है **प्रकृतेर्गुणसंमूढाः**—प्रकृति का अर्थात् पूर्वोक्तलक्षणयुक्त माया के गुणों में अर्थात् गुणों के कार्य देह, इन्द्रिय आदि में 'मैं' ऐसी अहंबुद्धि कर संमूढ़ अर्थात् देह, इन्द्रिय आदि के साथ तादात्म्य (एकत्व) प्राप्त कर निकृष्ट पुरुष **गुणकर्मसु**—गुण के कर्मों में अर्थात् पंचज्ञानेन्द्रिय एवं बुद्धि तथा मन के द्वारा अनुष्ठित कर्मों में, मैं ही श्रोता, द्रष्टा, वक्ता, दाता, कर्ता, भोक्ता ऐसा निश्चय कर **सज्जन्ते**—आसक्त होते हैं अर्थात् अभिनिवेश करते हैं। **तान् अकृत्स्नविदः मन्दान्**—उन अपूर्णज्ञानी (ब्रह्म या आत्मतत्त्व को पूर्ण रूप से जो नहीं जानते हैं ऐसे) मन्दबुद्धियों को **कृत्स्नवित्**—पहले जिन ब्रह्मज्ञानियों का लक्षण कहा गया है वे पूर्णज्ञानी **न विचालयेत्**—विचलित नहीं करेंगे [तत्त्वज्ञान का उपदेश देकर जिन कर्म में वह मन्दबुद्धि अधिकारी है उन कर्मों से उसे निवृत्त करने की चेष्टा नहीं करना चाहिए]।

(३) नारायणी टीका—पहले ही कहा गया है कि यह श्लोक २६ वें श्लोक की ही व्याख्या है।

आत्मज्ञान न होने तक प्रकृति के गुणों के द्वारा सभी मोहित रहते हैं अर्थात् अनात्म देह, इन्द्रिय आदि में आत्मबुद्धि कर देह इन्द्रियादि के द्वारा कर्म में 'मैं' तथा 'मेरा' ऐसा बोध रहता है अर्थात् 'मैं कर्म का कर्ता हूँ' मुझे फल भोग करना पड़ेगा' इस प्रकार कर्तृत्वाभिमान तथा कर्म फल में आसक्ति रहती है। 'अहंकारविमूढात्मा' और 'प्रकृतेर्गुणसंमूढाः' शब्द का तात्पर्य एक ही है। अज्ञान के कारण ही ऐसा होता है। विहित कर्मानुष्ठान न करने से चित्तशुद्धि नहीं होती है। चित्तशुद्धि न होने से तत्त्वज्ञान का उदय नहीं होता है; एवं ज्ञान न होने से अज्ञान विनष्ट नहीं होता है। अतः जब तक चित्तशुद्धि न हो, मन्द बुद्धि पुरुष को यदि कोई तत्त्वज्ञ पुरुष निरन्तर वेदान्त वाक्य (ब्रह्म सत्य है, और सब मिथ्या है, तुम ब्रह्म स्वरूप ही हो इत्यादि वाक्य) सुनाते रहे हैं तो बुद्धि की मलिनता के कारण वह कभी भी वेदान्त वाक्य के तात्पर्य का अवधारण नहीं कर सकेंगे। बल्कि जगत् तथा जागतिक सभी कर्म मिथ्या हैं ऐसा वाक्य बराबर सुनने के कारण उनको शास्त्रविहित कर्म के

प्रति श्रद्धा शिथिल हो सकती है। इस प्रकार की अवस्था में वह उभयपथ से (कर्ममार्ग तथा ज्ञानमार्ग दोनों मार्ग से) भ्रष्ट हो जायेंगे। जो आत्मदर्शी हैं वे ऐसे अज्ञ व्यक्ति को कभी भी बुद्धि-भेद कर विचलित न करें परन्तु अपना कोई प्रयोजन न रहने पर भी अनात्मज्ञ व्यक्ति के कल्याण के लिए (अर्थात् वह ताकि श्रेष्ठ पुरुष का आचरण देखकर ज्ञान के पथ में अग्रसर हो सके उसके लिए) स्वयं नाट्यकार की तरह कर्म कर अज्ञ व्यक्ति को कर्म में प्रवृत्त करें यही भगवान् के कहने का अभिप्राय है।

[(अज्ञ पुरुष का कर्म में ही अधिकार है उसे स्वीकार करने पर भी यदि वह मुमुक्षु हो, तब तो उन्हें कर्म त्याग करना चाहिए क्योंकि मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान के द्वारा ही सम्भव है, केवल कर्म के द्वारा ही प्राप्त होना असम्भव है—ऐसी शंका के उत्तर में) कर्म का अधिकारी अज्ञ पुरुष यदि मुमुक्षु हो तब ज्ञान प्राप्ति के लिए किस प्रकार से कर्म करना चाहिए, वही कहा जा रहा है।]

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥

अन्वय—अध्यात्मचेतसा सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य निराशीः निर्ममः भूत्वा विगतज्वरः (सन्) युध्यस्व।

अनुवाद—विवेकबुद्धि की सहायता से समस्त कर्मों को ही मुझमें समर्पण कर निष्काम तथा ममताशून्य होकर एवं विगतसन्ताप (तापों से रहित) होकर युद्ध करो।

भाष्यदीपिका—अध्यात्मचेतसा—[अधिकृत्य आत्मानम् अध्यात्मम्, अध्यात्मं च तच्चेतश्च तेन—आत्मा को या परमेश्वर को अधिकृत कर जो चित्त तद्गत रहता है (अर्थात् आत्मा को ही सर्वदा स्मरण करता है) उसे अध्यात्म-चेतः कहा जाता है, उस प्रकार के चित्त के द्वारा अथवा विवेक बुद्धि के द्वारा अर्थात् भृत्य जैसे राजा के अधीन होकर उसके लिए कर्म करता है उस प्रकार अन्तर्यामी ईश्वर के अधीन होकर–'उस ईश्वर के लिए ही मैं कर्म कर रहा हूँ'—ऐसी बुद्धि के साथ सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य—लौकिक तथा वैदिक समस्त कर्मों को मेरे ऊपर अर्थात् जो सर्वात्मा, सर्वनियन्ता, सर्वज्ञ परमेश्वर है उसी भगवान् वासुदेव के ऊपर निक्षेप कर (समर्पण कर) निराशीः—कोई आशा न रखकर अर्थात् कर्मफल में निरपेक्ष होकर (निष्काम

होकर) निर्ममः भूत्वा—ममता विहीन होकर [अर्थात् देह, गृह, पुत्र, भाई प्रभृति के ऊपर निर्मम होकर (मधुसूदन)] विगतज्वरः—विगत सन्ताप होकर (विगत शोक होकर) [यहाँ 'ज्वर' शब्द के द्वारा शोक को समझाया जा रहा है क्योंकि शोक ही सन्ताप का कारण है अतः 'विगतज्वर' शब्द का अर्थ है कि इह लोक में बदनाम तथा परलोक में नरक में पतित होने के भय से रहित होकर (मधुसूदन)] युध्यस्व—तुम युद्ध करो अर्थात् विहित कर्मों का अनुष्ठान करो। [मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि इस श्लोक में जो ईश्वरार्पण एवं निष्कामत्व के बारे में उल्लेख किया गया है वह मुमुक्षु के लिए समस्त कर्म में ही साधारण नियम है अर्थात् समस्त मुमुक्षु को समस्त कर्मों में ही दोनों का अनुष्ठान करना अवश्य कर्त्तव्य है। और निर्ममत्व तथा विगतज्वरत्व को (अर्थात् जिस ममता तथा शोक को त्याग करने के बारे में कहा गया है, वह) केवल युद्धस्थल के लिए ही कहा गया है अर्थात् समस्त कर्मों को निष्काम होकर भगवदर्पणबुद्धि से ही तो करना चाहिए अधिकन्तु इस युद्ध स्थल में तुम्हें निर्मम एवं शोकविहीन भी होना पड़ेगा, यही भगवान् के कहने का अभिप्राय है।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[२५, २६, २८, २९ श्लोकों के द्वारा यही सिद्ध होता है कि तत्त्वविद् को भी (लोकसंग्रह के लिए) कर्म करना कर्त्तव्य है। किन्तु तुम अबतक तत्त्ववित् नहीं हुए हो, तुम्हें तो कर्म करना ही चाहिए। किस प्रकार से कर्म करना चाहिए, वह कहा जा रहा है—] (क) सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य—सभी कर्मों को मुझमें (सर्वेश्वर वासुदेव में) समर्पण कर (ख) अध्यात्मचेतसा—अध्यात्म चित्त के द्वारा अर्थात् मैं अन्तर्यामी के अधीन हूँ (उनकी इच्छा के अनुसार मुझे समस्त कर्मों को करना पड़ेगा) ऐसी बुद्धि के द्वारा (ग) निराशीः—निष्काम होकर एवं (घ) निर्ममः—इस कर्म को अपनी किसी फल प्राप्ति के लिए अथवा प्रयोजन सिद्धि के लिए नहीं कर रहा हूँ किन्तु भगवान् की तृप्ति के लिए ही कर रहा हूँ, इस प्रकार से ममताशून्य होकर (ङ) विगतज्वरः—शोकशून्य होकर युध्यस्व—तुम युद्ध करो अर्थात् स्वधर्म का पालन करो।

(२) शंकरानन्द—इस प्रकार अधिकाधिक ज्ञानियों को लोकसंग्रह के लिए अवश्य कर्म करना चाहिए। ऐसा उपदेश देकर अत्र श्रीभगवान् अर्जुन से कह रहे हैं कि लोकसंग्रह की दृष्टि का अवलम्बन कर तुम स्वधर्म का पालन करो—

(१) यदि तुम अपरोक्ष ज्ञानी होकर (आत्मतत्त्वज्ञ होकर) लोकसंग्रह के कर्त्ता बनो [अथवा दूसरा कोई भी ऐसा हो) तब तुम्हें इस प्रकार से कर्म करना चाहिए—अध्यात्मचेतसा—'इदं सर्वं यदयमात्मा' (जो कुछ भी दृश्य है, वह सब ही आत्मा है) इस श्रुति वाक्य के अनुसार आत्मा को उद्देश्य कर जो व्यक्ति कर्म में प्रवृत्त होता है (अर्थात् जो कुछ करता है) उसे अध्यात्म कहा जाता है। चेतस् शब्द का अर्थ है ज्ञान। अध्यात्मरूप चेतः (ज्ञान) के द्वारा अर्थात् 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' ऐसी वक्ष्यमाणलक्षणप्रत्यक् दृष्टि के द्वारा [४।२४ में जो कहा जायगा उसके अनुसार] अर्थात् सब कुछ ही ब्रह्म है, ऐसे दर्शन (ज्ञान) के द्वारा सर्वाणि कर्माणि—नित्य, नैमित्तिक समस्त कर्म मयि—त्याग कर अर्थात् सर्वात्म स्वरूप मुझ में संन्यस्य–त्यागकर अर्थात् 'सब ब्रह्म ही है' इस बुद्धि के द्वारा विषय कर निराशीः—(सन्) जयलाभ कर युद्धरूप क्रिया के फल के रूप में राज्यप्राप्ति होगी या नहीं उस विषय में निराशी अर्थात् निरपेक्ष (निरासक्त) रहकर निर्ममः भूत्वा—जिन भाई तथा बन्धुओं की मृत्यु होगी उनके प्रति निर्मम अर्थात् ममता रहित होकर विगतज्वरः (भूत्वा)–"ये लोग मेरे हैं, ये लोग मेरे द्वारा मारे जायेंगे" ऐसा जो ज्वर अर्थात् सन्ताप जिनका विगत हो गया है उनको विगतज्वर (शोकरहित) कहा जाता है। ऐसा युध्यस्व—युद्ध करो अर्थात् लोकसंग्रह के लिए कर्म करो (स्वधर्म का पालन करो)। यहाँ कहने का अभिप्राय यह है 'मैं एवं यह सब ब्रह्म ही है' इस प्रकार पर तथा अवर का (ब्रह्म तथा जीव का) एकत्व विषयक अप्रतिबद्ध (दृढ़) अपरोक्षज्ञान जिनमें है, ऐसा आधिकारिक ब्रह्मवित्–यहाँ जैसा कहा गया है उसी रीति के अनुसार लोकहित के लिए कर्म करें। वे जीवित अवस्था में ही मुक्त रहते हैं। अतः उन्हें अपनी किसी प्रयोजन सिद्धि के लिए कर्म की आवश्यकता नहीं है किन्तु इस प्रकार के कर्म के द्वारा दूसरों का उद्धार करना ही उनका एकमात्र कर्त्तव्य है।

(२) और यदि वे परोक्षज्ञानी हों तो (क) 'घट का द्रष्टा जिस प्रकार घट से पृथक् है, उसी प्रकार मैं देहादि का द्रष्टा होने के कारण देहादि से आत्मा (मैं) भिन्न (पृथक्) हूँ' इस प्रकार की युक्ति के द्वारा अपने देह आदि से भिन्नत्वज्ञान के द्वारा 'मैं कर्ता नहीं हूँ, मैं कारयिता अर्थात् कोई कर्म नहीं करता हूँ अथवा किसी से करवाता भी नहीं हूँ' ऐसी अकर्तृत्व बुद्धि के द्वारा एवं (ख) 'मायामात्रमिदं द्वैतम्' (ये सब द्वैतवस्तु मायामात्र है) इत्यादि श्रुतिवचन के सामर्थ्य के द्वारा एवं 'यह सब मिथ्या, माया का कार्य

होने के कारण इन्द्रजाल की तरह है' ऐसी युक्ति के द्वारा कर्ता, कार्य तथा कारण सब मिथ्या ही है, इस प्रकार कर्ता प्रभृति में मिथ्यात्व दर्शन कर (निश्चय कर) सर्वत्र (समस्त पदार्थों में) निराशी, निर्मम (ममताहीन) होकर वे लोकहित के लिए कर्म करेंगे। इस प्रकार कर्म के द्वारा परम्परारूप से उनको चित्तपरिपाक (चित्तशुद्धि), ज्ञान तथा मोक्ष की सिद्धि होती है। इसके द्वारा एक ओर अपना उद्धार तथा दूसरों का भी उद्धार—इन दोनों फलों की प्राप्ति होती है। (३) और यदि वे आत्मज्ञानी नहीं तब परिग्रह के विषय में (जागतिक वस्तुओं के संग्रह के विषय में) निर्मम (ममतारहित) होकर एवं कर्मफल के लिए निराश (वासना रहित होकर अर्थात् निष्काम-रूप से) श्रौत तथा स्मार्त समस्त कर्मों को ईश्वरार्पण बुद्धि के द्वारा अपने हित के लिए ही उन्हें कर्म करना चाहिए क्योंकि जैसे कर्मों के अनुष्ठान के द्वारा क्रमशः चित्तशुद्धि एवं चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञान एवं ज्ञान के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होगी।

(३) **नारायणी टीका**—आत्मा को आश्रय करके जिसकी स्थिति वर्त्तमान रहती है उसे अध्यात्म कहा जाता है। चित्त जब आत्मा में ही वर्त्तमान रहता है तब मुमुक्षु अध्यात्मचेतः बन जाता है। यही मुक्ति का पथ है। साधारणतः चित्त आत्मा में न रहकर अनात्मवस्तु में रहता है। अनात्म देह, इन्द्रिय आदि में 'मैं' ऐसी बुद्धि एवं अनात्म विषयों में 'मेरा' ऐसी बुद्धि जब रहती है, तभी जीव को संसार रूप बन्धन की प्राप्ति होती है। सर्वात्मा भगवान् ही माया शक्ति के द्वारा (कल्पना शक्ति के द्वारा) सभी रूप में विद्यमान रहकर समस्त कर्मों को करते हैं; जीव तो उनके अधीन यंत्र मात्र हैं। समस्त कर्म भगवान् की इच्छा से ही सम्पादित हो रहे हैं एवं कर्म का फल भी जैसा उन्होंने पहले ही कल्पना कर रखा है, उसी के अनुसार होगा, उसका अन्य प्रकार होने का कोई उपाय नहीं है, इस प्रकार की बुद्धि जब दृढ़ हो जाती है अर्थात् कर्तृत्व, कर्मत्व, तथा कर्मफल सब कुछ भगवान् के अधीन ही है ऐसी बुद्धि होती है अथवा भगवान् ही कर्ता, कर्म, करण तथा कर्मफल के रूप में नाटक कर रहे हैं, इस प्रकार से चित्त जब भावित हो जाता है तब वह चित्त आत्मा या भगवान् में ही स्थित रहता है। इसलिए उसे अध्यात्मचेतः कहा जाता है। जो मुमुक्षु है उसको चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञान प्राप्ति के लिए (क) ऐसे अध्यात्मचित्त के द्वारा परमात्मा या भगवान् में समस्त कर्मों को संन्यास (अर्पण) कर अपने कर्त्तव्य को करना पड़ेगा। कर्मों का समर्पण दो प्रकार से होता है

(१) ईश्वरार्पण (२) ब्रह्मार्पण। ईश्वरार्पण पुनः दो प्रकार का है, (१) (क) कि 'मैं कर्ता हूँ', इस प्रकार का अभिमान पूर्णरूप से त्याग कर कर्म करना। भगवान् की प्रकृति ही समस्त कार्यों के द्वारा भगवान् की ही सेवा कर रही है (गीता ३।२७); देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण जिसे 'मैं' करता हूँ वह तो प्रकृति ही है। मेरा अज्ञ 'मैं' भी तो तुम्हारी प्रकृति ही है। अतः मैं कर्ता हूँ, इसे कैसे मानूँ ? तुम ही अपनी प्रकृति के द्वारा तुम्हारे कर्मों को कर रहे हो और यदि तुम ही कर्ता हो तो उसका कर्मफल भी तो तुम्हारा ही है ऐसी बुद्धि जिनमें दृढ़ हो गई है वे पूर्णरूप से 'मैं कर्ता नहीं हूँ' इस प्रकार कर्तृत्व अभिमान से शून्य होकर यंत्र की तरह समस्त कर्मों को ईश्वर में अर्पण करने में समर्थ होते हैं। ईश्वर की प्रकृति से जब साधक की प्रकृति का पृथक् अस्तित्व नहीं है, तब साधक को किसी प्रकार की आशा (फलाकांक्षा) करने को भी कुछ नहीं रहता है। अतः वे निराशी होते हैं। पुनः 'मेरा' ऐसी भावना जब उनमें नहीं रहती है तब वे निर्मम (ममताशून्य) हो जाते हैं। अतः उनमें सन्ताप करने का कारण न रहने से विगतज्वर (शोकरहित) होकर जीवन युद्ध करते हुए भगवान् में ही सदा स्थित रहने में समर्थ होते हैं; (ख) आंशिकरूप से 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा अभिमान कर कर्म करने वाले निम्न श्रेणी के व्यक्ति यह नहीं सोच सकते हैं कि एक अखंड चित्शक्ति ही (माया या प्रकृति ही) विश्व का कार्य कर रही है। अतः वे अपने को खण्डशक्ति रूप से (ईश्वर के अंशरूप से) कल्पना कर भगवान् की आज्ञा के अनुसार उनके ही दास या दासी के रूप में कर्म करते हुए समस्त कर्मों को भगवान् में ही अर्पण कर देते हैं। [इस प्रकार से कर्म करते हुए इस श्रेणी के साधक निरन्तर अध्यात्मचित्त होने के कारण अन्त में भगवान् के साथ मिलने में (ऐक्यलाभ करने में) समर्थ होते हैं। क्योंकि इस प्रकार दास के रूप में भगवान् की आज्ञा से ही कर्म करते रहने पर उनका कर्तृत्वाभिमान स्वतः ही नष्ट हो जाता है। अतः वे निराशी (फलाकांक्षारहित) हो जाते हैं, वे निर्मम होते हैं (उनमें भगवान् के अलावा और किसी वस्तु के प्रति ममता नहीं रहती है), अतः उनमें किसी वस्तु के प्रति शोक न रहने के कारण वे विगतज्वर होकर सर्वकर्मसंन्यास के अधिकारी होकर ब्रह्म तथा आत्मा का ऐक्यलाभ कर जीवन्मुक्त हो जाते हैं।

(२) ब्रह्मार्पण—ज्ञानी व्यक्ति समस्त जगत् एवं अपने को ब्रह्म ही मानते हैं। कर्ता, कर्म, करण, कर्मफल इत्यादि सब प्रकृति के गुणों का ही कार्य है अर्थात् ब्रह्मरूप अधिष्ठान में माया के द्वारा वे रचित होते हैं। अतः

उनकी, ब्रह्म की सत्ता से कोई पृथक् सत्ता नहीं रहती है। इस कारण से ज्ञानी की दृष्टि से कर्ता, कर्म इत्यादि भी ब्रह्म ही है (अर्थात् वे सब उनकी अपनी आत्मा ही है)। अतः उनको किसी वस्तु के लिए आशा, ममता या शोक रहना सम्भव नहीं है। माया के द्वारा रचित इन्द्रियाँ माया के द्वारा रचित विषयों में व्याप्त रहती हैं, ऐसा जानकर (गीता ३।२८) 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' गीता (४।२४) इत्यादि बोध के द्वारा वे अपने को ब्रह्ममय कर निष्क्रिय, शान्त आत्मा में स्थित करते हैं।

[पूर्ववर्ती कुछ श्लोकों में फलाभिसन्धि (फल की कामना) से रहित होकर ईश्वरार्पण बुद्धि से विहित कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए, इस प्रकार भगवान् ने अपने मत (अभिप्राय) को प्रमाण के साथ प्रकाशित किया है। अब यथार्थ रूप से जो भगवान् का यह मत मानकर कर्म करते हैं उसका फल क्या होता है ? यह कहा जा रहा है—]

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥

अन्वय—ये मानवाः श्रद्धावन्तः अनसूयन्तः (सन्तः) मे इदं मतम् नित्यम् अनुतिष्ठन्ति, ते अपि कर्मभिः मुच्यन्ते।

अनुवाद—जो मानव श्रद्धावान् तथा असूयाहीन होकर (अर्थात् गुणों में कोई दोष दर्शन न कर) सर्वदा मेरे इस मत का अनुवर्त्तन करते हैं वे भी कर्म से अर्थात् कर्म बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

भाष्यदीपिका—ये मानवाः—जो मनुष्य अर्थात् मनुष्यों में कोई भी ['मानवाः' पद को उल्लेख कर यही सूचित कर रहे हैं कि केवल मात्र मनुष्य ही कर्मयोग का अधिकारी हैं। (मधुसूदन)] श्रद्धावन्तः—श्रद्धावान् होकर [शास्त्र एवं आचार्य के द्वारा जो जो उपदेश दिया गया है वे अनुभूत न होने पर भी 'यह इस प्रकार ही है' ऐसा जो विश्वास है उसका नाम है श्रद्धा। ऐसी श्रद्धा से युक्त होकर (मधुसूदन)] अनसूयन्तः—मैं सर्वेश्वर वासुदेव ही समस्त लोगों का सुहृत् तथा परम गुरु मैं (सर्वेश्वर वासुदेव) ही हूँ। अतः मेरे ऊपर असूया न कर अर्थात् गुणों में किसी प्रकार का दोष न देखकर [मैं जो कुछ तुम्हें उपदेश दे रहा हूँ वह समस्त तुम्हारे कल्याण के लिए ही हैं किन्तु मेरा सुहृद् श्रीकृष्ण जब मुझे दुःखमय कर्म में प्रवृत्त कर रहा है तब ये कारुणिक नहीं हैं' इस प्रकार मेरे परम हितकर कार्य में

दोष दर्शन करने से वह असूया हो जायेगी। इस प्रकार असूया (दोषदृष्टि) त्याग कर (मधुसूदन)] मे इदं मतम्—मेरे इस मत के अनुसार अर्थात् फलाभिसन्धि रहित होकर विहित कर्मों के अनुष्ठान करते हुए सभी कर्मों को मुझमें (ईश्वर में) अर्पण करना चाहिए इस प्रकार जो मत को (अभिप्रायको) तुम्हारे निकट अब तक मैंने प्रकाश किया है उसके अनुसार यदि कर्म नित्यम्-अनुतिष्ठन्ति सदा ही अनुष्ठान करें [मधुसूदन सरस्वती नित्य शब्द का तीन प्रकार का अर्थ लगाते हैं (क) नित्यम्—जो नित्य वेद के द्वारा बोधित (उपदिष्ट) होकर अनादि परम्परा से आ रहा है अर्थात् गुरु शिष्य के सम्प्रदाय के क्रम से अनादि काल से प्राप्त हो रहा है, वही मेरा मन है। ऐसा अर्थ लेने से नित्य शब्द मतम् शब्द का विशेषण हो जायेगा। अथवा (ख) नित्यम्—आवश्यक। इस प्रकार के अर्थ में भी 'मतम्' शब्द का विशेषण होगा अथवा (ग) नित्यम्—सर्वदा इस अर्थ में नित्यम् शब्द क्रिया विशेषण है।] मनुष्य एक क्षण भी बिना कार्य किये नहीं रह सकता है (गीता ३।५) अतः वह निरन्तर जो कुछ करता है वह अगर उसके कर्म-योग के रूप में परिणत हो जाय, तभी वह योग दृढ़ हो जायेगा। इसलिए पातंजल योगशास्त्र में भी कहा गया है "स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कार-सेवितो दृढभूमिः" इस श्लोक में भी उस पातंजल सूत्र की ही प्रतिध्वनि है— (क) दीर्घकाल नैरन्तर्य नित्यम् और सत्कारसेवित श्रद्धावन्तः अनुसूयन्तः। अतः नित्य शब्द का अर्थ है निरन्तर या सर्व यही अर्थ अधिक उचित प्रतीत होता है।

ते अपि कर्मभिः मुच्यन्ते—तब वे भी क्रमशः चित्तशुद्धि तथा ज्ञान-प्राप्ति धर्माधर्म नामक कर्मराशि से अर्थात् कर्मों के बन्धन से (यथार्थ ज्ञानी की तरह) मुक्ति प्राप्त करते हैं (मधुसूदन)।

टिप्पणी (१) श्रीधर—(पूर्ववर्ती श्लोक में जैसा कहा गया है उसी प्रकार कर्मानुष्ठान के गुण कह रहे हैं—) ये मानवाः श्रद्धावन्तः अनसूयन्तः मे इदम् मतम् नित्यम् अनुतिष्ठन्ति—मेरे वाक्य में श्रद्धावान् एवं असूयाशून्य होकर (अर्थात् भगवान् मुझे दुःखात्मक कर्म में प्रवृत्त कर रहे हैं ऐसी दोषदृष्टि न रखकर) मेरे इस मत को (अनुशासन को) सदा अनुष्ठान करते हैं (अर्थात् मेरे मतानुसार निष्काम कर्मयोग का अनुष्ठान करते हैं)। ते अपि कर्मभिः मुच्यन्ते—वे कर्मों का अनुष्ठान करके भी कर्म से [कर्म बन्धन से] सम्यग् ज्ञानी की तरह शनैः—(क्रमशः) मुक्ति-

लाभ करते हैं [अर्थात् कर्म के द्वारा चित्तशुद्धि प्राप्त कर बाद में ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होते हैं ।]

(२) शंकरानन्द—'न कर्मणामनारम्भात्' (गीता ३।४) से आरम्भ कर 'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य' (गीता ३।३०) श्लोक तक मुमुक्षु को मोक्ष प्राप्ति के लिए ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म को अवश्य करना चाहिए यह मेरा (भगवान् का) मत है, ऐसा निश्चय कर श्रीभगवान् अब जो मेरे इस मत का अनुसरण करेंगे वे मुक्त हो जायेंगे, और जो उससे विपरीत आचरण करेंगे वे विनाश को प्राप्त हो जायेंगे' ऐसा नियमन कर रहे हैं—ये—जो विवेकी मानव अर्थात् ब्राह्मण आदि मुमुक्षु में—मेरा अर्थात् ईश्वर का इदम्—यह अर्थात् जैसा पूर्वश्लोक में कहा गया है उस लक्षणयुक्त मतम्—मत या शासन अनसूयन्तः—गुणों में दोष के दर्शन करने को असूया कहा जाता है । जगद्गुरु मुझमें असूया (दोषदर्शन) न कर किन्तु श्रद्धावन्तः–मुझमें श्रद्धा तथा भक्ति करते हुए नित्यम् अनुतिष्ठन्ति—सर्वदा अनुष्ठान करते हैं (सम्यक् प्रकार से मेरे मत का अनुसरण करते हैं) अर्थात् मेरे शासन का उल्लंघन न कर जो नित्यकर्म करते हैं ते कर्मभिः अपि मुच्यन्ते—वे भी चित्तशुद्धि के द्वारा निर्विकार आत्मा का विज्ञान (विशेष ज्ञान अर्थात् साक्षात्कार) प्राप्त होकर अनेक दुःखों के हेतुभूत संचितादि पुण्य पापरूप कर्म से मुक्त हो जाते हैं । 'अपि' शब्द के द्वारा यह भी सूचित हो रहा है कि जन्म मरणादि से भी वे मुक्त हो जाते हैं ।

(३) नारायणी टीका—ज्ञानी लोग तो मुक्त होंगे ही किन्तु जिन्होंने अभी भी सम्यक् ज्ञान प्राप्त नहीं किया है वे भी, मैंने (परम गुरु परमेश्वर ने) तुम्हें (अर्जुन को) अब तक निष्काम कर्मयोग का जो उपदेश दिया है उसे, श्रद्धापूर्वक एवं असूया (दोषदृष्टि) से शून्य होकर नित्य अर्थात् निरन्तर या सर्वदा करने से क्रमशः ज्ञान प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं । अतः तुममें यह धारणा न हो कि कर्म से मुक्तिलाभ की सम्भावना नहीं है । ज्ञानी व्यक्ति लोग जिस प्रकार मुक्तिलाभ करते हैं उस प्रकार निष्काम कर्मानुष्ठान के द्वारा भी चित्तशुद्धि तथा बाद में ज्ञान प्राप्त कर कर्मयोगी मुक्त हो सकते हैं । इसे ही 'तेऽपि' पद के 'अपि' शब्द के द्वारा सूचित किया जा रहा है ।

[इस प्रकार पूर्ववर्त्ती श्लोक में अन्वय मुख से निष्काम कर्म का गुण दिखाकर अर्थात् ईश्वरार्पण बुद्धि के द्वारा निष्काम कर्म करने से क्या होता है, उसे कहकर व्यतिरेक मुख से दोष दिखाने के लिए अर्थात् भगवान् के

मतानुसार कर्म नहीं करने पर किस प्रकार का प्रत्यवाय (पाप) होता है, उसे कह रहे हैं ।]

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥

अन्वय—ये तु एतत् मे मतम् अभ्यसूयन्तः न अनुतिष्ठन्ति तान् अचेतसः सर्वज्ञानविमूढ़ान् नष्टान् विद्धि ।

अनुवाद—जो लोग मेरे इस मत के ऊपर असूयापरवश होकर (दोषदृष्टिपरायण होकर) इसका अनुवर्त्तन नहीं करते हैं (मेरे इस मत के अनुसार कर्मानुष्ठान नहीं करते हैं) उन विगतचेता (विवेकहीन) व्यक्तियों को सर्वविध ज्ञानों में विमूढ़ (अर्थात् समस्त प्रकार के ज्ञान के विषय में विशेषरूप से मूढ़ताप्राप्त) हैं अतः वे नष्ट (अर्थात् समस्त पुरुषार्थ से भ्रष्ट)हो गये हैं , ऐसा जानोगे ।

भाष्यदीपिका—ये तु—किन्तु जो लोग पूर्ववर्ती श्लोक में कहे गये मुमुक्षुओं से विपरीत स्वभाव के हैं [तु शब्द को व्यावृत्त अर्थ में (अर्थात् विहित कर्मों का अनुष्ठान जो करते हैं उनसे, जो लोग नहीं करते हैं उन्हें पृथक् कर दिखाने के लिए) व्यवहार किया गया है]। इसलिए एतत् मे मतम् अभ्यसूयन्तः—मेरे इस मत के प्रति असूयापरवश होकर अर्थात् मेरे द्वारा कहा गया यह कर्मयोग मोक्षप्राप्ति का उपाय होने पर भी इसमें दोष-दृष्टि परायण होकर नानुतिष्ठन्ति—इसका अनुवर्त्तन नहीं करते हैं अर्थात् मेरे मतानुसार विहित कर्मों का अनुष्ठान नहीं करते हैं तान् अचेतसः सर्व-ज्ञानविमूढान् नष्टान् विद्धि—वे सभी ज्ञानों में विविध प्रकार से मूढ़ एवं अविवेकी रहने के कारण उन्हें नष्ट (नाशप्राप्त) मानना चाहिए । [वे समस्त अचेता (अर्थात् शुभाशुभ विचार करने में असमर्थ विवेकहीन व्यक्तिलोग) सभी प्रकार के ज्ञानों में ही अनेक प्रकार की विमूढता को प्राप्त करते हैं अर्थात् सभी स्थानों में ही (कर्म के विषय में अथवा सगुण या निर्गुणब्रह्म के विषय में) वे विमूढ़ अर्थात् विधिरूप से (प्रमाण की ओर से, प्रमेय की ओर से तथा प्रयोजन की ओर से) मूढ़ हो जाते हैं । [कहने का अभिप्राय यह है कि दुष्टचित्त (अशुद्धचित्त) रहने के कारण सभी विषयों में विचारशक्ति के अभाव के कारण वे सभी प्रकार से अयोग्य रहते हैं (मधुसूदन)]। वे न तो अपने कल्याण के लिए कर्मानुष्ठान कर सकते हैं न तो सगुण ब्रह्म के तत्त्व को जान

सकते हैं, न तो ब्रह्म के स्वरूप को धारण कर सकते हैं, और न तो सगुण अथवा निर्गुण ब्रह्मतत्त्व का निर्णय करने में उपयोगी जो शास्त्रीय प्रमाण है उसे समझने का प्रयत्न करते हैं। अतः परम तत्त्व (प्रमेय) के विषय में इनकी संशय निवृत्ति नहीं हो सकती है। पुनः वे चित्तशुद्धि के अभाव में अविवेकी होने के कारण समस्त दुःखों की निवृत्ति के लिए परमार्थ दर्शन रूप मोक्ष की प्रयोजनीयता को अनुभव नहीं करते हैं। इस प्रकार समस्त ज्ञानों में ही वे विशेषरूप से मूढ़ताप्राप्त होते हैं। **नष्टान् विद्धि**—अतः उन्हें नष्ट (नाशप्राप्त) मानो [अर्थात् समस्त प्रकार के पुरुषार्थ से भ्रष्ट हैं, ऐसा जान लो (मधुसूदन)।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[अन्यथा अर्थात् ३१ श्लोक में कहे गये कर्म-योग अनुष्ठानकर्ता के विपरीत कार्य से उसे क्या होता है, वही कहा जा रहा है।] **ये तु मे एतत् मतम् अभ्यसूयन्तः न अनुतिष्ठन्ति**—जो लोग मेरे मत में दोषदृष्टि कर मेरे इस मत के अनुसार कर्म नहीं करते हैं वे **अचेतसः**—विवेकशून्य हैं अतः **सर्वज्ञानविमूढ़ान्**—सारे कर्म विषयक जो ज्ञान हैं एवं ब्रह्मविषयक जो ज्ञान हैं उसमें वे लोग विमूढ़ विविधप्रकार से मूढ़ता को प्राप्त होते हैं। अतः **तान् नष्टान् विद्धि**—उन व्यक्तियों को नष्ट मानो।

(२) शंकरानन्द—और जो लोग मेरे शासन को नहीं मानते हैं वे लोग किस दंड को प्राप्त करते हैं, वह कहा जा रहा है।

ये तु—किन्तु जो अविवेकी ब्राह्मण आदि दुष्ट अहंकार के वशीभूत होकर **मे एतत् मतम्**—मेरे (ईश्वर के) उक्तलक्षण युक्त मत का (शासन का) **अभ्यसूयन्तः**—अत्यन्त दोष प्रचार कर **न अनुतिष्ठन्ति**—उसे नहीं करते हैं अर्थात् दुराग्रह के वशीभूत होने के कारण मेरी आज्ञा का पालन नहीं करते हैं **तान् सर्वज्ञानविमूढान् अचेतसः विद्धि**—उनको सर्वज्ञान विमूढ, अविवेकी मानना चाहिए। सर्वात्मा होने के कारण ब्रह्म को सर्व कहा जाता है। उस 'सर्व' या 'ब्रह्म' विषयक ज्ञान को (अर्थात् ब्रह्मतत्त्व के ज्ञान को) सर्वज्ञान कहा जाता है। इस सर्वज्ञान के सम्बन्ध में विशेषरूप से मूढ़ होने के कारण वे (मेरी आज्ञा को न मानने वाले) अचेतसः अर्थात् अविवेकी हो जाते हैं इसलिए उन्हें **नष्टान् विद्धि**—नष्ट (विनाशप्राप्त) मानना पड़ेगा। कर्म अनेक साधनों के द्वारा किया जाता है एवं अनेक प्रकार के क्लेशों से युक्त है एवं कर्म करने पर अदृष्ट फल अवश्य ही उत्पन्न होते हैं। अतः कर्म-संन्यास में ही (कर्म त्याग में ही) परम सुख की प्राप्ति हो सकती है इस प्रकार विपरीत

बुद्धि-युक्त, संन्यास में अयोग्य, अकर्मनिष्ठ (अलस) व्यक्तियों को नष्ट अर्थात् पुण्यलोक से विनष्ट हो गये हैं ऐसा मानना पड़ेगा। स्वधर्म का परित्याग कर जो व्यक्ति दूसरे के धर्म को मानता है वह विपरीत बुद्धि के द्वारा स्वयं ही नष्ट हो जाता है। यही कहने का अभिप्राय है।

(३) नारायणी टीका—अज्ञानी व्यक्ति कर्म न कर एक क्षण भी नहीं रह सकता है। यदि कर्तृत्वाभिमान या फलाकांक्षा के साथ कर्म करे तब वह कर्म उसके बन्धन का (संसार रूप बन्धन का) कारण होता है। पुनः उस कर्म को ही भगवान् के हाथ में यंत्र स्वरूप होकर, निष्काम होकर भगवदर्पण वुद्धि से करने पर चित्तशुद्धि प्राप्त कर कर्मयोगी मोक्ष का (ज्ञान-निष्ठा का) अधिकारी बन जाता है। अतः भगवान् ने ३० श्लोक तक जो निष्काम कर्मयोग के बारे में कहा उस कर्मयोग को भगवान् के मतानुसार न कर जो यह सोचता है कि भगवान् मुझे इस घोर युद्धादि कर्म में प्रवृत्त कर उनकी करुणाहीनता का ही प्रकाश कर रहे हैं, इस प्रकार भगवान् के ऊपर दोषारोपण करता है वह चित्तशुद्धि के अभाव में 'अचेतसः' (अविवेकी) हो जाता है क्योंकि अनित्य, मिथ्या, जड़, दृश्य जगत् से नित्य, सत्य, चेतन आत्मा को पृथक् कर उनके यथार्थ स्वरूप को जानने में असमर्थ रहता है। उसके अलावा अनित्य जगत् में नित्यत्वबोध, दुःख में सुखबोध, अनात्मा में (देहेन्द्रियादि में) आत्मबोध इत्यादि विपरीत ज्ञान रहने के कारण सर्वज्ञान-विमूढ़ हो जाता है अर्थात् सर्वज्ञान की जहाँ समाप्ति होती है उस परमात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में (पारमार्थिक तत्त्वज्ञान के विषय में) विमूढ़ (विशेष रूप से मूढ़ अर्थात् अज्ञ) रहकर सर्वपुरुषार्थ से इस जन्म में धर्म, अर्थ, काम से अथवा परलोक में स्वर्ग आदिरूप फल से वंचित रहता है। अतः उसका जीवन नष्ट ही हो जाता है।

[किस कारण मनुष्य तुम्हारे मत का अनुवर्त्तन नहीं करते हैं, तथा स्वधर्म प्रतिपालन न कर परधर्म का अनुष्ठान किया करते हैं ? तुम्हारे प्रतिकूल होकर तुम्हारी आज्ञा के उल्लंघनरूप दोष में भय नहीं पाते हैं ? इस प्रकार के अर्जुन के प्रश्न की आशंका कर भगवान् कह रहे हैं—]

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ३३ ॥

अन्वय—ज्ञानवान् अपि स्वस्याः प्रकृतेः सदृशं चेष्टते, भूतानि प्रकृतिं यान्ति, निग्रहः किं करिष्यति।

अनुवाद—ज्ञानवान् होकर भी (मनुष्य) अपनी प्रकृति के अनुरूप चेष्टा करते हैं। समस्त प्राणी ही अपनी प्रकृति का अनुसरण करते हैं। अतः निग्रह (मेरा या दूसरों का दंड या शासन) क्या करेगा ?

भाष्यदीपिका—**ज्ञानवान् अपि**—समस्त जीव यहाँ तक कि ज्ञानवान् ब्रह्मवित् भी जिनकी सर्ववासनाग्रन्थि नित्यनिरन्तर ब्रह्मनिष्ठा के द्वारा निर्मूल होकर छिन्न हो गई है, [अथवा गुण तथा दोष के बारे में जो ज्ञानवान् है अर्थात् कौन गुण है और कौन दोष है ? उसके सम्बन्ध में जो पूर्ण रूप से जानते हैं (मधुसूदन)] वे भी, मूर्खों की तो बात ही नहीं। **स्वस्याः प्रकृतेः**—अपनी प्रकृति के; प्रकृति शब्द का अर्थ है पूर्वजन्मकृत धर्म, अधर्म, ज्ञान, इच्छा प्रभृति का संस्कार जो वर्त्तमान जन्म में अभिव्यक्त होता है; [श्रुतिमें भी कहा है—"तं विद्याकर्मणी समन्वारभते पूर्वप्रज्ञा च" (बृह. उ. ४।४।२) अर्थात् (मृत्यु के समय में) विद्या, कर्म तथा पूर्वप्रज्ञा उस उत्क्रमणकारी जीव को सम्यक् रूप से अनुवर्तन करते हैं। इसलिए प्रकृति सर्वापेक्षा बलवती है। अतः सभी अपनी-अपनी प्रकृति के] **सदृशं**—अनुरूप **चेष्टते**—(प्राण धारण आदि के लिए) आहार, पान आदि लौकिक व्यवहार करते हैं। अतः सभी श्रेयोमार्ग में विचरण करने में (चलने में) समर्थ नहीं होते हैं। भगवान् शंकराचार्य ने इसलिए ब्रह्मसूत्र के अध्यास भाष्य में कहा है—"पश्वादिभिश्चाविशेषात्" (ज्ञानी व्यक्ति व्यवहार के समय में पशु आदि की तरह ही अविशेष हो जाते हैं, अर्थात् पशुओं की तरह ज्ञानी व्यक्ति भी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुरूप ही व्यवहार करते हैं। लौकिक व्यवहार प्रभृति में वे भी अज्ञानी की तरह अपनी-अपनी प्रकृति के अधीन होकर कार्य करते हैं)। **भूतानि**—अतः समस्त प्राणी, **प्रकृतिं**—प्रकृति पुरुषार्थसिद्धि का प्रतिबन्धक (विघ्नकर) होने पर भी उस प्रारब्ध संस्कार रूप प्रकृति का ही **यान्ति**—अनुसरण करते हैं अर्थात् अनिच्छा रहने पर भी विवश होकर अपनी अपनी प्रकृति के अनुरूप रागद्वेष आदि के द्वारा नाना प्रकार की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार प्रकृति के अधीन रहने के कारण यदि कोई व्यक्ति अपनी इच्छा से कोई कर्म परित्याग कर, इन्द्रिय निग्रह के द्वारा निष्क्रिय होकर (चुपचाप) बैठे रहने का प्रयत्न करे तब वह चेष्टा भी व्यर्थ हो जाती है यदि वह उसकी प्रकृति के अनुकूल न हो, यही कहने का अभिप्राय है। अतः '**निग्रहः किं करिष्यति**'—मेरा निग्रह (शासन या दण्ड अथवा शास्त्र का विधिनिषेध) अथवा राजा प्रभृति का निग्रह (शासन या दण्ड) अथवा अपनी इन्द्रियों का निग्रह या दमन करने की

चेष्टा क्या कर सकती है ? प्रकृति का वेग इतना प्रबल है कि निग्रह भी (कठिन दंड भी) पापकर्म से निवृत्त नहीं कर सकता है। पापकर्म महानरक का हेतु है, ऐसा जानकर भी अपनी प्रकृति से उत्पन्न प्रबल दुष्ट वासना के द्वारा प्रेरित होकर जीव पाप कर्म राशि में प्रवृत्त होते हैं अर्थात् मेरा शासन अतिक्रम करने से भविष्य में महादुःख का भागी होना पड़ेगा, इसे जानकर भी भयभीत नहीं होते हैं, यही भावार्थ है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[तुम्हारे वाक्यों का पालन करने से यदि ऐसा ही फल हो तब इन्द्रिय आदि को निग्रह कर सभी निष्काम होकर स्वधर्म का अनुष्ठान क्यों नहीं करते हैं ? इसके उत्तर में कह रहे हैं–] स्वस्याः प्रकृतेः सदृशं ज्ञानवान् अपि चेष्टते–'प्रकृति' शब्द का अर्थ है प्राचीन संस्कार के अधीन (अर्थात् पूर्वजन्मकृत कर्मराशि के संस्कार से उत्पन्न) स्वभाव। अपनी अपनी प्रकृति के (स्वभाव के) सदृश अर्थात् गुण तथा दोष के अनुरूप कार्यों को ज्ञानवान् व्यक्ति भी करते हैं। अतः अज्ञ व्यक्तिलोग अपने अपने स्वभाव का अनुसरण करेंगे इसमें कहना ही क्या है ? [मधुसूदन सरस्वती की व्याख्या ऐसी ही है] प्रकृतिं भूतानि यान्ति—चूँकि समस्त प्राणी ही प्रकृति का अनुवर्त्तन करते हैं अतः निग्रहः किं करिष्यति—इन्द्रिय-निग्रह क्या करेगा ? प्रकृति ही बलवती है [अतः शास्त्रनिर्दिष्ट विधिनिषेध मानकर इन्द्रिय-निग्रह के द्वारा प्रकृति को वशीभूत करने की चेष्टा करने पर भी वह चेष्टा व्यर्थ होती है क्योंकि सभी को ही अवश होकर प्रकृति या स्वभाव के अनुसार ही (अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न राग, द्वेष आदि के अनुसार ही) काम करना पड़ता है।]

(२) शंकरानन्द–मेरे मत का अनादर कर जो लोग 'कर्तव्य कर्म को त्याग कर मैं स्थाणु की तरह चुपचाप (स्थिर) रहूँगा', ऐसा सोचते हैं, उस प्रकृति के अधीन व्यक्तियों के लिए निश्चल होकर चुपचाप बैठे रहना सम्भव नहीं है क्योंकि ज्ञानियों के लिए भी मेरी प्रकृतिरूप माया को निग्रह करना अत्यन्त दुष्कर है। इस कारण 'कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः' (गीता ३।५) अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न गुण के द्वारा वशीभूत होकर समस्त प्राणी को काम करना पड़ता है, इस वचन का अर्थ ही श्रीभगवान् मूढ़ व्यक्तियों को कर्म में नियमन करने के लिये (नियुक्त करने के लिए) पुनः दृढ़ (स्पष्ट) रूप से कह रहे हैं—

ज्ञानवान् अपि—नित्यनिरन्तर ब्रह्मनिष्ठा के द्वारा जिन्होंने समस्त वासनाओं की ग्रन्थि को निर्मूलित कर दिया है, ऐसे ब्रह्मवित् पुरुष भी स्वस्याः प्रकृतेः—प्राणरक्षा के हेतु के रूप में अविशिष्ट अपनी प्रकृति के

सदृशं—अनुरूपं चेष्टते—आहार आदि में चेष्टा करते हैं क्योंकि प्रकृति ही शरीर की स्थिति का हेतु है। अतः प्रकृति का निवारण करना दुःसाध्य है। इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठा के द्वारा प्रकृति का अतिक्रमण कर स्थिर, जितेन्द्रिय, ब्रह्मवित् पुरुष भी जब (लौकिक व्यवहार में) प्रकृति का अनुसरण करता है तब उससे भिन्न अशिष्ट (अजितेन्द्रिय) मूढ़ व्यक्ति तो प्रकृति का अनुसरण करेंगे ही इसमें और कहने को क्या है ? इस अभिप्राय से कह रहे हैं—भूतानि—सुख दुःख को भोग करने के लिए अपने-अपने कर्मों के अनुसार भूत (उत्पन्न) होते हैं, इसलिए 'भूतानि' शब्द का अर्थ है समस्त प्राणी। प्रकृतिं यान्ति—अपनी-अपनी जाति के अनुसार अनेक क्रिया की उत्पत्ति के हेतुभूता रागद्वेषादि गुणवती वासनात्मिका प्रकृति को प्राप्त करते हैं अर्थात् अपनी प्रकृति के अनुसार राग द्वेष के द्वारा अनेक प्रकार की चेष्टा किया करते हैं क्योंकि प्रकृति के अधीन होने के कारण एक क्षण के लिए भी वे चुप नहीं रह सकते हैं। अतः निग्रहः किं करिष्यति—'मैं' किसी प्रकार का कर्म नहीं करूँगा' इस प्रकार का तात्कालिक निग्रह (इन्द्रिय निरोध) क्या करेगा ? अर्थात् उस अल्पकाल के लिए इन्द्रियनिरोध किस प्रयोजन को सिद्ध करेगा ? रागद्वेषयुक्त अपनी प्रकृति के वेग के द्वारा चालित होकर सभी को ही जब चेष्टा करनी पड़ती है तब 'मैं कुछ नहीं करूँगा' ऐसा नियम (अर्थात् इन्द्रियों के निग्रह की चेष्टा) व्यर्थ होता है—यही कहने का अभिप्राय है।

(३) नारायणी टीका—समस्त लोग मेरे मत के अनुसार नहीं चल सकते हैं उसका कारण यह है कि समस्त व्यक्तियों को यहाँ तक कि ब्रह्मवित् पुरुषों को अथवा गुणदोषज्ञ ज्ञानी को भी अपनी-अपनी प्रकृति अर्थात् प्रारब्ध संस्कार के अधीन होकर उस संस्कार के अनुसार कार्य करना पड़ता है। यह संस्कार इतना प्रबल है कि कोई विधिनिषेध या निग्रह (दंड) उसे सत्पथ में चालित नहीं कर सकता है, यदि उसका प्रारब्ध-संस्कार सत्पथ में अग्रसर होने के अनुकूल न हो (अर्थात् जब तक वे प्रकृति से उत्पन्न देहेन्द्रियादि में आत्मबुद्धि रखेंगे एवं उस कारण प्रकृति के गुणों के (सत्त्व, रजः तथा तमः गुणों के) अधीन रहेंगे तब तक 'मेरे द्वारा उपदिष्ट निष्काम कर्मयोग महाफलदायक हैं' ऐसा पुनः पुनः कहने पर भी तथा वे इसे स्वयं अनुभव करने पर भी, मेरे द्वारा निर्दिष्ट पथ में वे चलने में समर्थ नहीं होते हैं। फिर कोई यदि सभी कर्मों का परित्याग कर अपनी प्रकृति का निग्रह कर चुपचाप बैठना चाहे तब वह चेष्टा भी व्यर्थ हो जाती है

क्योंकि सभी को ही अपनी-अपनी प्रकृति के वशीभूत रहकर कार्य करना पड़ता है (गीता ३।५, १८।५९-६०)]

[अच्छा, यदि समस्त प्राणी ही प्रकृति के वशीभूत होकर प्रकृति के अनुरूप ही कार्य करे एवं प्रकृतिशून्य जब कोई प्राणी ही नहीं है तब तो पुरुषकार के लिए भी लौकिक या वैदिक कोई विषय नहीं रह जाता है (पुरुष को प्रयत्न की आवश्यकता नहीं रहती है) इसलिए शास्त्रीय विधि तथा निषेध निरर्थक हो जायेंगे। प्रकृति ही यदि प्रबल हो एवं पुरुषकार यदि व्यर्थ हो अर्थात् पुरुष के प्रयत्न की आवश्यकता अगर न रहे तब तो कोई भी अपनी इच्छा के अनुसार वैदिक या लौकिक कर्मों में प्रवृत्त नहीं हो सकते हैं। अतः वेदादि शास्त्रों में जिन विधि निषेधों के बारे में कहा गया है, वे व्यर्थ हो जायेंगे।]

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

अन्वय—इन्द्रियस्य इन्द्रियस्य अर्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ, तयोः वशं न आगच्छेत्, हि तौ अस्य परिपन्थिनौ ।

अनुवाद—प्रत्येक इन्द्रिय का ही अर्थात् आँख, कान इत्यादि इन्द्रियों का अपने अपने विषयों में अर्थात् रूप शब्द इत्यादि विषय में (इष्ट या अनिष्ट बोध के अनुसार) राग या द्वेष व्यवस्थित है। उन रागद्वेषों के वशवर्ती मत होओ। क्योंकि वे राग तथा द्वेष मुमुक्षु के श्रेय प्राप्ति का परिपन्थी (प्रतिबन्धक) होता है।

भाष्यदीपिका—इन्द्रियस्य—समस्त इन्द्रियों का ही अर्थात् कान, त्वचा, आँख, जीभ एवं नाक ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं वाक्, पाणि, पाद, पायु (मलद्वार) एवं उपस्थ (जननेन्द्रिय) ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं—इनमें प्रत्येक का ही इन्द्रियस्यार्थे—इन्द्रियों के अर्थ में अर्थात् विषय में [यथा कान का विषय है शब्द, त्वक् का विषय है स्पर्श, आँख का विषय है रूप, जीभ का विषय है रस एवं नाक का विषय है घ्राण, और पञ्च कर्मेन्द्रियों का क्रमशः वचन, आदान, गमन, मलनिःसारण एवं मैथून तथा मूत्रत्याग—ये विषय हैं] इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय का अपने अपने विषय में रागद्वेषौ व्यवस्थितौ—राग तथा द्वेष व्यवस्थित (नियमित रूप से) है अर्थात् इष्ट (अभिलषित) होने पर (शास्त्र में निषिद्ध होने पर भी यदि आपात दृष्टि से सुख के अनुकूल हो

तब) उसमें ही राग या आसक्ति होती है एवं अनिष्ट (अनभिलषित) होने पर (अर्थात् शास्त्रविहित होने पर भी वह यदि आपातदृष्टि से सुख के प्रतिकूल हो तब) उसमें द्वेष हुआ करता है। इसलिए प्रत्येक इन्द्रिय का अपने अपने विषयों के प्रति राग तथा द्वेष नियमपूर्वक रहता है अर्थात् इष्ट बोध होने पर उस विषय के प्रति राग एवं अनिष्ट बोध होने पर उस विषय के प्रति द्वेष अवश्यम्भावी है। ऐसा होने पर भी पुरुषकार तथा शास्त्रार्थ (शास्त्र का विधि तथा निषेध) व्यर्थ नहीं है। क्योंकि इसको अभी स्पष्ट कर कहा जा रहा है। **तयोः वशं न आगच्छेत्**—शास्त्रीय अर्थ में (विषय में) प्रवृत्त पुरुष पहले से ही उनके अर्थात् राग तथा द्वेष के वशीभूत नहीं होंगे। पुरुष की जिस जन्मगत प्रकृति के बारे में पहले कहा गया है वह राग तथा द्वेष को पुरस्कृत कर (आगे रखकर) पुरुष को अपने कार्य में (प्रकृति या स्वभाव के अनुसार कार्य में) प्रवर्तित करता है। जब ऐसा होता है तभी स्वधर्म का परित्याग तथा परधर्म का अनुष्ठान हुआ करता है। [शास्त्रीय भाषा में राग का हेतु है "बलवदनिष्टसाधनता ज्ञान के अभाव के साथ बलवत् इष्ट साधनता का ज्ञान"। पुरुष को जो प्रकृति शास्त्र-निषिद्ध कलंज-भक्षणादि कर्मों में प्रवृत्त कराती है वह ऐसे ज्ञान को 'यह मेरे प्रबल अनिष्ट का कारण है' प्रकाशित होने में बाधा देकर इष्टसाधनता ज्ञान अर्थात् 'यह मेरे अभिलषित विषय की प्राप्ति का कारण है' ऐसे ज्ञान से जिन राग या आसक्तियों की उत्पत्ति होती है उसे पुरस्कृत कर (आगे रखकर) उन कलंज भक्षणादि कर्मों में प्रवृत्त कराता है। ['कलंज' शब्द का अर्थ तम्बाकू अथवा विषयुक्त अस्त्र से विद्ध-पशु का मांस] इसी प्रकार द्वेष का कारण है 'बल-वदिष्टसाधनताज्ञानाभाव के साथ अनिष्टसाधनताज्ञान' अर्थात् सन्ध्यावन्दन आदि क्रिया शास्त्रविहित होने पर भी लोग उससे निवृत्त होते हैं इसका कारण यह है कि उन कार्यों में 'यह मेरे बलवत् इष्ट (अभिलषित) विषय का साधन है' ऐसी भावना इसमें नहीं रहती है। (बलवत्इष्टसाधनता ज्ञान का अभाव रहता है), एवं उसके साथ यह ज्ञान 'यह मेरे अनिष्ट का कारण है' अर्थात् 'यह मेरा अभिलषित नहीं है' (अनिष्टसाधनता का ज्ञान) रहता है एवं उस कारण संध्यावन्दन आदि विषयों में उन लोगों का द्वेष उपस्थित होता है। अतः अपनी अपनी प्रकृति के वशीभूत होकर अज्ञानवश कभी पुरुष को अविहित वस्तु में अनुराग की उत्पत्ति होती है एवं कभी करणीय (कर्तव्य) वस्तुओं में द्वेष प्रकट होता है। यही प्रवृत्ति तथा निवृत्ति का कारण है। ऐसी अवस्था में शास्त्र तथा पुरुषकार क्या कर सकते हैं। यही श्लोक में कहा जा रहा है।

(मधुसूदन)। विषय के प्रति रागद्वेष उत्पन्न होने के पहले ही यदि कोई (शास्त्रीय उपदेश प्राप्त कर) प्रतिपक्ष भावना (प्रतिकूल भावना) के द्वारा राग तथा द्वेष को नियमित कर सके तब उसको दृष्टि शास्त्रविहित विषयों में ही रहती है एवं वह तब और प्रकृति के वशीभूत नहीं होता है। [जैसे कि शहद तथा विषमिश्रित अन्न में किसी की रुचि होने पर एवं शास्त्र के द्वारा ऐसा कहे जाने पर कि 'यह अत्यन्त अनिष्टकर है', उसके मन में भी 'यह मेरे अनिष्ट का कारण है' ऐसी बुद्धि का उदय होता है। अतः मात्र दृष्ट-इष्ट साधनता ज्ञान अर्थात् 'यह मेरे लिए रुचिकर है' ऐसा ज्ञान उस शहद तथा विषमिश्रित अन्न में उसके अनुराग की सृष्टि नहीं करता है। अर्थात् उसे उस अन्न को खाने की ओर प्रवृत्ति नहीं होती है उस प्रकार निषिद्ध कर्म आपात दृष्टि से रुचिकर प्रतीत होने पर भी शास्त्र वाक्य उसमें 'अनिष्ट बुद्धि' उत्पन्न कर उस निषिद्ध कर्म से उसे निवृत्त कर सकता है। इसलिए शास्त्र की सार्थकता है। पहले पहल कुछ कष्ट होने पर भी यदि अधिक सुख की प्राप्ति हो सके तब पुरुष उस विषय में प्रवृत्त हो जाता है। जैसे कि अन्न पकाने में, भोजन करने के लिए हाथ को भोजन के साथ मुँह में लेने में एवं आहार करते समय मुँह को क्रियाशील रखने में भोजन कष्टकर प्रतीत होने पर भी बाद में भोजन से पुष्टि, तुष्टि, तथा भूख की निवृत्ति होने पर अधिक सुख मिलता है इसीलिए लोग भोजन करने में प्रवृत्त होते हैं, उस प्रकार शास्त्रीय कर्मों को करने में कष्ट मालूम होने पर भो उससे अधिक सुख (स्वर्ग आदि) अथवा परम सुख (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। इसे यदि समझाया जा सके तब व्यक्ति वलवदिष्टसाधनता ज्ञान के द्वारा (अर्थात् इससे मेरा अधिक इष्ट साधन होगा, इस ज्ञान के द्वारा) प्रेरित होकर शास्त्रीय कर्म में प्रवृत्त हो जाता है। कुछ कष्ट होने पर भी अनिष्टसाधनता के बोध से उससे निवृत्ति नहीं होती है। पुनः, जो निषिद्ध है उससे अनिष्ट होता है—शास्त्रवाक्य या आप्तवाक्य से यह समझ जाने पर अत्यल्प (क्षुद्र) सुख के लिए पुरुष उसमें प्रवृत्त नहीं होता है। इस प्रकार शास्त्र वैध कर्म में पुरुष की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है एवं निषिद्ध कर्म से उसे निवृत्त करता है। शास्त्रीय विवेकज्ञान प्रबल होने पर सदसद् विवेक बुद्धि भी प्रबल होकर स्वाभाविक राग तथा द्वेष का कारण जो अज्ञान है उसे नष्ट कर देती है। इस कारण से (जन्मगत) प्रकृति शास्त्रदृष्टि से सम्पन्न (शास्त्रज्ञान सम्पन्न) पुरुष को अनायास विपरीत पथ में चालित नहीं कर सकती है। अतः शास्त्र को अथवा पुरुषकार की व्यर्थता का प्रसंग नहीं हो सकता है. अर्थात् उक्त कारणों से शास्त्र तथा पुरुष-

कार की सार्थकता है, यह स्वीकार करना ही पड़ेगा (मधुसूदन) ।] [अभि-प्राय यह है कि समस्त प्राणी ही यदि प्रकृति के ही अधीन हों तब तो राग-द्वेष के द्वारा स्वधर्म का त्याग भी अवश्यम्भावी हो जायेगा एवं शास्त्र तथा उपदेश की व्यर्थता सिद्ध होगी, ऐसी शंका हो सकती है। इसके उत्तर में कहा जा रहा है कि शास्त्रीय उपदेश के द्वारा विवेकज्ञान उत्पन्न होने से शास्त्रीय दृष्टि का अवलम्बन करे। प्रतिपक्ष भावना के द्वारा प्रकृति के अनुसार कार्य में प्रवृत्त होने के पहले ही राग द्वेष आदि का निवारण कर प्रकृति की वश्यता (अधीनता) को परिहार करने में मनुष्य समर्थ होता है। रागद्वेष मिथ्याज्ञान से ही उत्पन्न होते हैं। मिथ्याज्ञान का विरोधी अर्थात् नाशक है विवेकज्ञान, शास्त्रजनित विवेकज्ञान के द्वारा रागद्वेष की प्रतिपक्ष भावना सम्भव है अर्थात् मिथ्याज्ञान से यदि कोई वस्तु में इष्ट बुद्धि उत्पन्न होती है तब इस इष्ट वस्तु से, प्रतिपक्ष भावना से अनिष्टबोध तथा अनिष्ट विषयों में इष्ट बोध सम्भव है। इस प्रकार रागद्वेष का मूल मिथ्याज्ञान (अज्ञान) निवृत्त होने पर कार्यसिद्धि होती हैं अर्थात् प्रकृति या स्वभाव की अधीनता से मुक्त होना सम्भव है (आनन्दगिरि) ।] हि—चूँकि तौ अस्य परिपन्थिनौ—यह राग तथा द्वेष मुमुक्षु पुरुष का परिपन्थी है अर्थात् श्रेयोमार्ग में अग्रसर होने में दस्यु की तरह परिपन्थी (विघ्नकारक) है। [वेदादि शास्त्र में अनेक जगहों पर देवता तथा असुरों के संग्राम के बारे में कहा गया है। इन स्थानों में रागद्वेषयुक्तवृत्ति ही असुर है एवं शास्त्रोज्ज्वल वृत्ति ही देवता अर्थात् स्वाभाविक है अर्थात् स्वाभाविक रागद्वेष के कारण शास्त्रविपरीत वृत्तियों को असुर एवं शास्त्रानुकूल वृत्तियों को देवता कहा गया है। देव-ताओं के द्वारा असुरों का नाश करना पड़ेगा—यही इस श्लोक में कहने का अभिप्राय है।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[अच्छा, यदि पुरुष की प्रवृत्ति प्रकृति के ही अधीन हो तब तो शास्त्रीय विधिनिषेध व्यर्थ हो जायेंगे। इस आशंका के उत्तर में कह रहे हैं] इन्द्रियस्य इन्द्रियस्यार्थे—'इन्द्रियस्य' शब्द को दो बार प्रयोग करने का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक इन्द्रिय का ही स्व स्व अर्थ में अर्थात् अपने अपने विषय में रागद्वेषौ व्यवस्थितौ—अनुकूल होने से राग (अनुराग) एवं प्रतिकूल होने से द्वेष होता है। अतः राग तथा द्वेष अवश्यम्भावी है। इन राग तथा द्वेषों के अनुसार जो जो प्रवृत्ति होती है यही प्राणियों की प्रकृति (स्वभाव) है। तब भी तयोः न वशम् आगच्छेत्—उन राग तथा द्वेषों के वशवर्ती नहीं होना चाहिए यही शास्त्र का अनुशासन है।

तौ हि अस्य परिपन्थिनौ—चूँकि वे राग तथा द्वेष दोनों ही इनके (मुमुक्षु के) परिपन्थी अर्थात् प्रतिपक्षी हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि विषय का स्मरण करने पर प्रकृति राग तथा द्वेष उत्पन्न कर अनवहित (असावधान) पुरुष को बलपूर्वक अनर्थ अतिगम्भीर स्रोत में गिराने के लिए प्रवृत्त करती है किन्तु विषय-स्रोत में गिरने के पहले ही राग द्वेष के प्रतिबन्धक, नाशक परमेश्वर के भजन आदि में प्रवृत्त, डूबने से पहले ही नाव में आश्रयप्राप्त व्यक्ति की तरह शास्त्रानुशासन पालनकारी व्यक्ति किसी अनर्थ को प्राप्त नहीं करते हैं। अतः पशुओं की स्वाभाविकी विषय-प्रवृत्ति परित्याग कर धर्म में प्रवृत्त होना ही (बुद्धिमान् व्यक्ति का) कर्त्तव्य है।

(२) शंकरानन्द—यदि समस्त प्राणी ही रागद्वेषात्मिका प्रकृति के द्वारा ग्रस्त (वशीभूत) रहें तब तुम्हारे मत के अनुसार जो चलते हैं वे भी उक्तलक्षणयुक्त प्रकृति के द्वारा ग्रस्त रहेंगे। अतः तुम्हारे द्वारा कहे गये कर्मयोग में उनकी प्रवृत्ति होना किस प्रकार से सम्भव है ? ऐसी आशंका के उत्तर में कह रहे हैं कि राग तथा द्वेष का कारण है क्रमशः समीचीनत्व तथा असमीचीनत्व बुद्धि अर्थात् 'यह समीचीन (अनुकूल या युक्तिसंगत) है' ऐसी बुद्धि होने पर उस विषय में राग (अनुराग) उत्पन्न होता है एवं यह 'असमीचीन (प्रतिकूल या असंगत) है' ऐसी बुद्धि होने पर द्वेष की उत्पत्ति होती है। इसके उत्तर में भगवान् कहेंगे' न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नाऽनुषज्जते, (अकल्याणकर कर्म में द्वेष नहीं होता है एवं कल्याणकारी कर्म में राग नहीं होता है अर्थात् आसक्त नहीं रहते हैं गीता १८।१०) इस प्रकार कथित न्याय के अनुसार ईश्वराराधनारूप शास्त्रविहित कर्म में कुशलत्व तथा अकुशलत्व बुद्धि त्याग करने पर राग तथा द्वेष को अवकाश नहीं रहता है इसे सूचित करने के लिए राग तथा द्वेष की स्थिति, उनकी निवृत्ति के प्रकार एवं उनका बन्धकत्व अर्थात् 'ये राग तथा द्वेष ही बन्धन का हेतु है' इसे अत्र कह रहे हैं इन्द्रियस्य—श्रोत्रादि इन्द्रियों का इन्द्रियस्यार्थे—उन श्रोत्रादि इन्द्रियों का शब्द आदि विषयों में रागद्वेषौ व्यवस्थितौ—इष्ट विषय में राग एवं अनिष्ट विषय में द्वेष होता है। इस प्रकार प्रत्येक विषय में राग तथा द्वेष विशेषरूप से अर्थात् नियमपूर्वक स्थित है। अब प्रश्न है—इन्द्रियों का विषय में राग या द्वेष रहे तो उससे मुमुक्षु को क्या हानि है ? इसके उत्तर में कह रहे हैं हि—इस कारण से तौ—राग तथा द्वेष अस्य—मोक्ष के लिए इच्छुक व्यक्ति का परिपन्थिनौ—मोक्षमार्ग में परिपन्थी—होते हैं अर्थात् मोक्ष के मार्ग में चोर की तरह प्रतिबन्धक, विघ्नकर होकर मोक्ष साधन में

लिप्त मुमुक्षु को राग तथा द्वेष अपने आश्रय के बल से (समीचीनत्व तथा असमीचीनत्व बुद्धि के बल से) विषयरूप अरण्य में छोड़कर उसी में भ्रमण करता है इस कारण से कौन वस्तु सत् है तथा कौन वस्तु असत् है इस सम्बन्ध में जिनको विवेक ज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसे मुमुक्षु पुरुष जगत के किसी विषय के सम्बन्ध में समीचीनत्व तथा असमीचीनत्व बुद्धि के द्वारा राग द्वेष के अधीन कभी भी नहीं होंगे अर्थात् जागतिक सभी विषय ही असत् (मिथ्या) होने के कारण किसी द्रव्य, गुण तथा कर्म में समीचीनत्व तथा असमीचीनत्व बुद्धि ही राग तथा द्वेष के वशवर्ती होने का हेतु है अतः विवेक ज्ञान से सम्बन्धित मुमुक्षु व्यक्ति उसे न कर राग तथा द्वेष का अविषय होकर अपने धर्म को वह चाहे कुशल हो या अकुशल (उसमें समीचीनत्व तथा असमीचीनत्व बुद्धि न रखकर) ईश्वरगति के लिए स्वधर्म करने में प्रवृत्त रहेंगे। इस प्रकार जो मुमुक्षु स्वधर्म में प्रवृत्त रहते हैं वे विघ्न के विना ही मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं यही कहने का अभिप्राय है।

(३) नारायणी टीका—प्रकृति के गुणों से उत्पन्न इन्द्रियाँ प्रकृति के ही गुणों से उत्पन्न विषयों में, राग द्वेष के द्वारा प्रवृत्त होती हैं। विशेष-विशेष विषयों के प्रति व्यक्तिविशेष का जो स्वाभाविक राग या द्वेष है वह उसकी अपनी प्रकृति के द्वारा ही नियमित होता है। पूर्वकृत धर्म तथा अधर्म का संस्कार जो इस जन्म में अभिव्यक्त हुआ है, वही उस जीव की प्रकृति या स्वभाव है। उस संस्कार रूप प्रकृति के अनुसार ही किसी विषय के प्रति व्यक्तिविशेष की इष्टबुद्धि रहती है, इष्टबुद्धि (यह मेरे अनुकूल है या सुख का साधन है, ऐसी बुद्धि) से उन विषयों के प्रति राग (आसक्ति) की उत्पत्ति होती है एवं उस प्रकृति या स्वभाव से उत्पन्न राग ही उसे वशीभूत कर विषयों को प्राप्त करने के लिए उसे कर्म में प्रवृत्त करता है। पुनः, अनिष्ट बुद्धि (यह मेरे प्रतिकूल है अथवा दुःख का साधन है, ऐसी बुद्धि) के द्वारा किसी विषय के प्रति द्वेष होने पर उसे त्याग करने के लिए, कर्म में प्रवृत्त होता है। अतः जीवमात्र ही जो प्रकृति के अर्थात् पूर्व जन्मार्जित होकर संस्कार के वशीभूत होकर, अवश होकर जो कर्म करता है उसके मूल में है राग तथा द्वेष का संस्कार। राग द्वेष को जीतने का दो उपाय है—(१) शास्त्रज्ञान के द्वारा प्रतिपक्ष भावना अर्थात् विपरीत भावना, शास्त्र तथा गुरु के वाक्य में श्रद्धा रखकर कर्म या विषय के प्रति भी स्वाभाविक राग है वह यदि शास्त्रविरुद्ध हो तब विचारपूर्वक असमीचीनत्व बुद्धि को (अर्थात् वह आसक्ति मेरे लिये भविष्य में अनिष्टकर होगी ऐसी बुद्धि को) दृढ़ करना। जैसे कि आपातमधुर भोजन में स्वाभाविक

राग रहता है किन्तु उसे विषमिश्रित जानने पर उसके प्रति अनिष्टबुद्धि उत्पन्न होकर उस भोजन को ग्रहण करने में प्रवृत्ति नहीं होती है उसी प्रकार स्वाभाविक संस्कार के कारण (अर्थात् अपनी प्रकृति के वशीभूत होकर निषिद्ध कर्मों में रुचि या राग रहने से, शास्त्रज्ञान उसके प्रति अनिष्ट बुद्धि उत्पन्न कर उस प्रवृत्ति को निवृत्त कर सकता है। इसलिए शास्त्रीय विधिनिषेध की सार्थकता है। शास्त्रज्ञान श्रद्धा तथा अभ्यास के द्वारा अत्यन्त पुष्ट होने पर पूर्व संस्कार या प्रकृति मनुष्य को वशीभूत नहीं कर सकता है। विषयों के प्रति स्वाभाविक (अर्थात् पूर्वसंस्कार जनित) रागद्वेष जीव को प्रकृति के अधीन कर संसार रूप क्लेश में गिराते हैं किन्तु शास्त्रज्ञान उस पतनोन्मुख जीव के पुरुषकार को उद्दीपित कर (स्वाधीन कर) मोक्ष के पथ में चालित करता है। शास्त्र की आज्ञा के अनुसार कार्य करने पर ही रागद्वेष का संहार कर प्रकृति को जीता जा सकता है। (२) दूसरा उपाय है भगवान् के प्रति पूर्णरूप से आत्म-समर्पण (जो गीता की चरम शिक्षा है)। समस्त धर्म तथा अधर्मों को परित्याग कर एकमात्र भगवान् के शरणापन्न होकर उन्हें ही सर्वत्र एवं सभी वस्तु में देखने से विषय नाम की और कोई चीज नहीं रहती है। अतः समीचीनत्व तथा असमीचीनत्व बुद्धि (इष्ट तथा अनिष्ट बुद्धि) न रहने के कारण राग तथा द्वेष नहीं रह सकता है। उस समय साधक 'निस्त्रैगुण्य' हो जाता है। राग तथा द्वेष नहीं रहने पर प्रकृति का जय स्वतः ही होता है एवं राग तथा द्वेष रूप प्रतिबन्धक न रहने के कारण मोक्ष का द्वार सदा ही उनके लिए उन्मुख रहता है।

[रागद्वेषयुक्त मनुष्य शास्त्र के अर्थ को अन्यरूप अर्थात् विपरीत रूप से मानकर परधर्म को ही अपने धर्म के रूप में ग्रहण कर उसे अपने अनुष्ठान के योग्य मानता है। परन्तु ऐसा मानना भूल है, इसे अब कह रहे हैं। अभिप्राय यह कि पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है कि स्वाभाविक राग व द्वेष से उत्पन्न प्रवृत्ति पशु तथा मनुष्यों में बराबर ही है अतः उसके वशीभूत न होकर शास्त्र-विहित कर्मों में प्रवृत्त होना चाहिए। अब प्रश्न है कि क्षत्रिय धर्म हिंसापूर्ण होने के कारण दुःखकर है किन्तु भिक्षावृत्ति के द्वारा जीवन-यापन कर संन्यासी के अहिंसादि धर्म को पालन करना ही तो सुखकर है। दोनों ही शास्त्र-विहित धर्म हैं अतः दुःखप्रद युद्ध आदि को न कर सहजसाध्य संन्यास धर्म का ही मैं क्यों न अवलम्बन करूँ ? ऐसी आशंका के उत्तर में कह रहे हैं— (मधुसूदन)]।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

अन्वय—स्वनुष्ठितात् परधर्मात् विगुणः स्वधर्मः श्रेयान्, स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मः भयावहः ।

अनुवाद—उत्तम रूप से अनुष्ठित परधर्म की अपेक्षा कुछ अंगहीन (अर्थात् असम्पूर्ण रूप से अनुष्ठित) स्वधर्म श्रेष्ठ है । स्वधर्म में रहकर निधन भी (मृत्यु भी) अच्छी है और परधर्म भय का (नरक आदि भय का) हेतु है ।

भाष्यदीपिका—स्वनुष्ठितात् परधर्मात्—उत्तमरूप से नियमपूर्वक अनुष्ठित (अर्थात् समस्त अंगों के साथ सम्पादित) परधर्म से [केवल वेद ही धर्म में प्रमाण है, दूसरा कोई प्रमाण नहीं है । अतः परधर्म भी अनुष्ठेय है क्योंकि वह भी स्वधर्म की तरह धर्म ही है—परधर्म के सम्बन्ध में ऐसा अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकता है । क्योंकि 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' अर्थात् चोदना (विधिवाक्य) जिसका लक्षण (ज्ञापक प्रमाण) है, वह अर्थ (पुरुषार्थ) ही धर्म है । महर्षि जैमिनि के मीमांसा दर्शन के उक्त सूत्र से प्रमाणित होता है कि एकमात्र वेदविहित कर्मानुष्ठान ही धर्म है (मधुसूदन) । कर्मकर्ता के वर्ण तथा आश्रम का विचार कर शास्त्र के द्वारा (वेद की विधि के द्वारा) जिसे कर्त्तव्य के रूप में विहित किया गया है वही उसका स्वधर्म है एवं जिसे विहित नहीं किया गया है वह उस व्यक्ति का पर धर्म है ।] उस परधर्म से विगुणः स्वधर्मः श्रेयान्—विगुण होने पर भी (अंगवैगुण्य के कारण) असम्पूर्ण रूप से अनुष्ठित होने पर भी अर्थात् अपने वर्णाश्रम के अनुसार कर्त्तव्य कर्म करने में यदि किसी अंग को हानि हो जाय तब भी (स्वधर्म ही अधिक प्रशस्त श्रेष्ठतर) है अर्थात् कल्याणकर और प्रशंसनीय है । स्वधर्मे निधनं श्रेयः—स्वधर्म किंचित् अंगविहीन होने पर भी जो व्यक्ति उसी में अवस्थान करता है अर्थात् यथाविधि उसी का अनुसरण करता है, उसमें अगर उसकी मृत्यु भी हो जाय तब भी परधर्म में रहकर जीवित रहने की अपेक्षा श्रेय अर्थात् अधिक प्रशस्त है क्योंकि स्वधर्मस्थ व्यक्ति के निधन से भी (स्वधर्म में रहकर मृत्यु हो तो भी) इस जगत् में कीर्त्ति का ही लाभ होता है एवं वह मृत्यु परलोक में उसको स्वर्ग आदि की (अथवा मोक्ष की) प्राप्ति का कारण होती है किन्तु नरक आदि की प्राप्ति का कभी हेतु नहीं होती है । परधर्मः भयावहः—दूसरी ओर

परधर्म भयावह है अर्थात् नरक आदि रूप भय का कारण होता है, [कहने का अभिप्राय यह है कि जो परधर्म है वह इस लोक में अकीर्त्तिकर एवं परलोक में भी नरकादिप्रद होने के कारण वह भी निन्दनीय है, इस कारण से रागद्वेष से जो स्वाभाविक प्रवृत्ति की उत्पत्ति होती है वह जिस प्रकार परित्याज्य है उसी प्रकार परधर्म भी अवश्य ही परित्याज्य है। इसलिए पंडित लोग ऐसा कहते हैं "श्रद्धाहानिस्तथासूया दुष्टचित्तत्वमूढता। प्रकृतेर्वशवर्त्तित्वं रागद्वेषौ च पुष्कलौ। परधर्मरुचिरत्वञ्चेत्युक्ता दुर्मार्गवाहकाः ॥' अर्थात् श्रद्धाहीनता, असूया (गुण में दोष दर्शन), दुष्टचित्तता, मूढ़ता, प्रकृति की वशवर्त्तिता, अधिक परिमाण में राग (आसक्ति) तथा द्वेष एवं परधर्म के प्रति रुचि—ये सव दुष्टमार्ग के वाहक हैं अर्थात् ये सव पुरुष को विषय में चालित करते हैं। मधुसूदन)]

टिप्पणी—(१) श्रीधर—[(क) युद्ध आदि स्वधर्म दुःखरूप होने के कारण (ख) यथारीति उसको पालन करने में असमर्थ होकर (ग) परधर्म के (अर्थात् संन्यास धर्म के) अहिंसादि को पालन करना सहज साध्य होने के कारण एवं (घ) दोनों ही (स्वधर्म तथा परधर्म) शास्त्रविहित होने के कारण उनमें कोई पार्थक्य नहीं है, ऐसा सोचकर अर्जुन संन्यास रूप परधर्म में प्रवर्त्तित होने को इच्छुक था यह देखकर भगवान् कह रहे हैं—] स्वधर्मः विगुणः—स्वधर्म कुछ अंगहीन होने पर भी स्वनुष्ठितात् परधर्मात् श्रेयान्—स्वधर्म सर्वांगपूर्ण, उत्तम रूप से अनुष्ठित, परधर्म की अपेक्षा कल्याणप्रद श्रेयान् अर्थात् प्रशस्ततर (श्रेष्ठ) है, इसका कारण यह है कि स्वधर्मे निधनं श्रेयः—जिसका जो स्वधर्म है उसमें (जैसे क्षत्रिय आदि का युद्धादि कर्म स्वधर्म है अतः उसमें) प्रवृत्त रहकर निधन अर्थात् मृत्यु का वरण करना भी श्रेष्ठ है चूँकि स्वधर्म पालन करने से स्वर्ग आदि की प्राप्ति हो सकती है परन्तु परधर्मः भयावहः—परधर्म (यथा क्षत्रिय के लिए संन्यास) भयप्रद है क्योंकि वह क्षत्रिय के लिए शास्त्र में निषिद्ध है एवं नरक प्राप्ति का कारण है।

(२) शंकरानन्द—अच्छा, स्मृति शास्त्र में कहा गया है 'अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा नैष्कर्म्यमाचरेत्' (समस्त प्राणियों को अभयदान कर संन्यास ग्रहण करना उचित है), इस वचन के अनुसार कर्मसंन्यासरूप धर्म का भी अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा यदि कहूँ' इसके उत्तर में कहा जा रहा है, तव जो कहे हो वह ठीक है क्योंकि संन्यास भी शास्त्रविहित

धर्म है एवं मुमुक्षु का वह कर्त्तव्य है, तब भी 'स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा सा गुणः परिकीर्त्तितः' (अपने अपने धर्म में जो निष्ठा है उसे ही गुण कहा जाता है) इस वचन के अनुसार वह संन्यास अपक्कान्तःकरण का (अशुद्ध-चित्त पुरुष का) धर्म नहीं है। किन्तु अनेक जन्मों में अनुष्ठित पुण्यराशि से जिनका अन्तःकरण परिपक्क (परिशुद्ध) हो गया है एवं जो विषयों के प्रति विरक्त हो गये हैं एवं ये भी अनुभव किये हैं कि कर्म के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है ऐसे मुमुक्षु को ही तत्त्व जानने की इच्छा होने पर संन्यास-धर्म कर्त्तव्य है अथवा कृतार्थ विद्वान् (आत्मतत्त्वज्ञ) पुरुषों को संन्यास कर्त्तव्य है। किन्तु जिससे कर्त्तव्य कर्म करने में दुःखबुद्धि के कारण अलसता रहती है ऐसे मूढ़ के लिए संन्यास विहित नहीं है। इसलिए मूढ़ व्यक्ति के लिए संन्यास परधर्म है,—वह उसका स्वधर्म नहीं है एवं श्रेयः का भी (कल्याण का भी) हेतु नहीं है (अर्थात् कर्म ही उसका स्वधर्म है एवं श्रेयःप्राप्ति का हेतु है)। अतः मूढ़ व्यक्ति को कर्म करना चाहिए, यही अत्र कह रहे हैं। भगवान् वर्णाश्रमी पुरुषों को यही परम उपदेश दे रहे हैं 'हे मुमुक्षु लोग, तुम लोग सुनो'—स्वनुष्ठितात्—उत्तमरूप से अनुष्ठित अर्थात् शास्त्र के अनुसार सम्यक् प्रकार से (ठीक ठीक) नियमपूर्वक अनुष्ठित (आचरित) परधर्मात्—परधर्म से विगुणः स्वधर्मः—शास्त्र के द्वारा अपने लिए जो कर्त्तव्य के रूपमें विहित है वही उस व्यक्ति का स्वधर्म है। ऐसा स्वधर्म यदि विगुण भी हो अर्थात् अंगहीन भी हो (सम्यक् प्रकार से अनुष्ठित न भी हो) तब भी वह श्रेयान्—पुरुष के लिए श्रेयस्कर है क्योंकि शास्त्र के द्वारा वह विहित किया गया है। जैसे कि यति के लिए कर्म परधर्म है इसलिए स्नान, जप, स्तोत्र आदि कर्म की अपेक्षा ज्ञान का साधन श्रवण मनन-निदि-ध्यासन ही अधिक प्रयोजनीय होने के कारण समस्त कर्मों का संन्यास ही (त्याग ही) यति के लिए श्रेष्ठ धर्म है, उस प्रकार गृहस्थ के लिए कर्मसंन्यास परधर्म होने के कारण सर्व कर्म संन्यास की अपेक्षा ज्ञान का साधन जो चित्त-शुद्धि है (जिसे प्राप्त करना गृहस्थ के लिए एकान्तिक प्रयोजन है) उस चित्त-शुद्धि को प्राप्त करने के लिए ईश्वरार्पण बुद्धि से निष्काम कर्मयोग ही गृहस्थ का श्रेष्ठ धर्म है। इस प्रकार दूसरे वर्णाश्रमिओं को भी परधर्म की अपेक्षा स्वधर्म ही कल्याणकर है, यही यहाँ कहने का अभिप्राय है। यहाँ तक कि स्वधर्मे निधनं श्रेयः—श्रेष्ठतर परधर्म त्याग कर स्वधर्म कुछ अंगहीन होने पर भी नियमपूर्वक जो स्वधर्म में स्थित रहते हैं उनका स्वधर्म पालन करते हुए निधन (मरण) भी हो जाये तब भी वह श्रेयः है क्योंकि ऐसा करने से

मृत्यु से स्वर्ग अथवा मोक्षरूप श्रेयः प्राप्ति करने की सम्भावना रहती है, वह कभी भी अकल्याणकर नहीं होता है अर्थात् नरकप्राप्ति का कारण नहीं होता है। पुनः, स्वधर्म परित्याग कर यदि कोई शब्द से प्रकाश न कर मन ही मन में परधर्म के प्रति निष्ठावान् रहे एवं परधर्म पालन करते हुए यदि उनकी मृत्यु हो जाये तब उस मृत्यु से कभी भी कल्याणप्राप्ति नहीं हो सकती है क्योंकि परधर्मः भयावहः—नियमपूर्वक सम्यक् प्रकार से अनुष्ठित होने पर भी परधर्म यमदूत से भय एवं नरकप्राप्ति का कारण रहता है अर्थात् परधर्म नरक एवं गर्भवास आदि दुःख प्रवाह का कारण बन जाता है, यही कहने का अभिप्राय है।

[जिस कारण से पुरुष काम्य तथा निषिद्ध कर्मों में प्रवृत्त होते हैं उसे दूर करने पर ही भगवान् के मत का अनुसरण कर विहित कर्म करना सम्भव है। अतः काम्य तथा निषिद्ध कर्मों में प्रवृत्त होने के कारण को निश्चित रूप से जान लेना चाहिए। यद्यपि 'ध्यायतो विषयान् पुंसः' (गीता २।६२), 'तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ' (गीता ३।३४) इत्यादि श्लोकों के द्वारा पहले ही कह दिया गया है कि अनर्थ का मूल क्या है ? किन्तु वे अनेक स्थानों पर विक्षिप्त एवं अनवधारित है (अर्थात् उन कारणों में सभी समानरूप से प्रधान है या एक प्रधान है और अन्य सब सहकारी है, इसे निश्चय कर नहीं कहा गया है)। अतः 'संक्षेप में यही निश्चित अनर्थ का मूल है' इसे जानने की इच्छा कर अर्जुन पूछ रहे हैं क्योंकि उस कारण को निश्चित रूप से जानने पर उसके उच्छेद के लिए प्रयत्न किया जा सकता है—]

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच—हे वार्ष्णेय ! अथ अनिच्छन् अपि अयं पूरुषः केन प्रयुक्तः (सन्) बलात् नियोजितः इव पापं चरति ।

अनुवाद—अर्जुन बोले—वृष्णिवंशावतंस ! यह पूरुष इच्छा न करने पर भी किसी के द्वारा प्रयुक्त होकर मानो बलपूर्वक नियोजित (प्रेरित) होकर ही पाप कार्य का अनुष्ठान करता है।

भाष्यदीपिका—अर्जुन उवाच—हे वार्ष्णेय !—अर्जुन कहे—हे वृष्णि-कूलप्रसूत। तुम वृष्णिवंश अर्थात् मेरे मातामह के कुल में कृपापूर्वक अवतीर्ण

हुए हो एवं मैं भी वृष्णिवंश की नारी का पुत्र हूँ, इस कारण तुम्हें मेरी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, इसे ही अर्जुन 'वार्ष्णेय' शब्द के द्वारा सूचित कर रहे हैं। (मधुसूदन)। अथवा—'ब्रह्मविदां ब्रह्मानन्दामृतं वर्षतीति वृष्णिः सम्यग् बोधः तेन अवगम्यते इति वार्ष्णेयः परमात्मा श्रीभगवान् तस्य सम्बुद्धिः' हे वार्ष्णेय, अर्थात् ब्रह्मज्ञानियों को ब्रह्मानन्दरूप अमृत जो वर्षण करते हैं (अर्थात् सम्यक् बोध या ज्ञान) उसे वृष्णि कहा जाता है। उसके द्वारा (सम्यक् ज्ञान के द्वारा) जिन्हें जाना जाता है वे वार्ष्णेय अर्थात् परमात्मा या श्रीभगवान् (शंकरानन्द) हैं। अथ—अच्छा, अर्थात् मेरे मन में एक नया संशय उत्पन्न होने के कारण उसकी निवृत्ति के लिए तुम्हें पूछ रहा हूँ, तुम मेरे संशय को निवृत्त करो। (पृथक् प्रश्न को आरम्भ करने के लिए अथ शब्द का प्रयोग किया गया है)। अनिच्छन् अपि—स्वयं करने में इच्छुक न होने पर भी अयं पूरुषः—कार्य कारण संघातरूप अर्थात् देहेन्द्रिय की समष्टि रूप यह पुरुष केन प्रयुक्तः (सन्)—किस हेतु के द्वारा, भृत्य जिस प्रकार राजा के द्वारा प्रयुक्त होता है उस प्रकार से प्रयुक्त अर्थात् परिचालित होने के कारण बलात् नियोजित इव—मानो बलपूर्वक नियुक्त होकर पापं चरति—पाप कर्म का अनुष्ठान करता है। [फल की कामना कर अनर्थकर कर्मों का अर्थात् चित्रायाग प्रभृति काम्य कर्म, शत्रुवध के साधन के रूप में श्येनादि नामक यज्ञ, एवं कलंज (प्याँज अथवा तम्बाकू अथवा विषयुक्त अस्त्रादि से विद्ध मांस) इत्यादि निषिद्ध वस्तुओं का भक्षण आदि की तरह अनेक प्रकार के अनर्थकर पाप कर्मों का अनुष्ठान करता है किन्तु परम पुरुषार्थ के साधन अर्थात् निवृत्तिलक्षण कर्म अर्थात् जिस कर्म के द्वारा विषय से निवृत्त होकर मोक्ष की प्राप्ति हो सके, जो तुम्हारे द्वारा उपदिष्ट हुआ है उसे करने की इच्छा रहने पर भी नहीं कर सकता है। अतः इच्छा न रहने पर भी वह पुरुष शुभ कर्म नहीं कर सकता है। पुनः, अनिच्छा रहते हुए भी अशुभ (पाप) कर्मों को करने को बाध्य होता है। किसी की पराधीनता के बिना ऐसा नहीं हो सकता है। वशीभूत होकर भृत्य जिस प्रकार कर्म में नियुक्त होता है उस प्रकार शास्त्रीय विरुद्ध कर्मों को अनर्थकारी जानकर भी वह व्यक्ति किसी के द्वारा वशीभूत होकर बलपूर्वक उस कर्म में प्रयुक्त होता है। इस बलपूर्वक अनर्थ मार्ग का प्रवर्त्तक कौन है, वह मुझे कहो, ताकि उसके स्वरूप को निश्चित रूप से जानकर उसका उच्छेद कर सकूँ। यही कहने का अभिप्राय है। [मधुसूदन सरस्वती की टीका का तात्पर्य भी इस प्रकार है।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है कि राग-द्वेष के अधीन नहीं होना चाहिए किन्तु उसे असाध्य समझकर अर्जुन ने कहा

हे वार्ष्णेय—हे वृष्णिवंशसम्भूत! अथ केन प्रयुक्तः अयं पूरुषः पापं चरति—इत्यादि किस के द्वारा प्रेरित होकर यह पुरुष अनर्थ रूप पाप कर्म करने की इच्छा न रहने पर भी पापाचरण करता है अर्थात् अपनी इच्छा न रहने पर भी मानो किसी के द्वारा बलपूर्वक नियोजित होकर पाप करने में बाध्य होता है। विवेकयुक्त कर्म द्वारा काम तथा क्रोध का निरोध करने में सक्षम पुरुष पुनः पाप कर्म में प्रवृत्त होता है। अतः इसका मूलभूत दूसरा कोई प्रवर्तक निश्चय ही होगा ऐसी सम्भावना से अर्जुन ने ऐसे प्रश्न किये।

(२) शंकरानन्द—यद्यपि 'ध्यायतो विषयान्' (गीता २।६९) 'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे' (गीता २।३४) इत्यादि श्लोकों में पुरुष का जन्म, मरण आदि अनर्थ परम्परा के आगमन का कारण निरूपण किया गया है तब भी विशेष रूप से उसका स्वरूप, उसका अधिष्ठान एवं उसके जय का उपाय जानने में इच्छुक अर्जुन मानो उसे भूल गया है ऐसे विस्मृत व्यक्ति की तरह भगवान् से प्रश्न कर रहे हैं। संसार का कारण जानकर पंडित व्यक्ति किसी उपाय के द्वारा ताकि उसे (संसार को) परिहार करने में समर्थ हो सके, इसलिए अर्जुन कह रहे हैं अथ--पृथक् प्रश्न को आरम्भ करने के पहले अथ शब्द का प्रयोग किया गया है। हे वार्ष्णेय—ब्रह्मज्ञानी पुरुष में ब्रह्मानन्दरूप अमृत को जो वर्षण करता है उसे वृष्णि अर्थात् सम्यक् बोध (ज्ञान) कहा जाता है। इस वृष्णि या सम्यक् बोध को जो जानते हैं वे वार्ष्णेय अर्थात् परमात्मा (भगवान्) हैं। हे भगवन्! जिस प्रकार बलवान् राजा के द्वारा अथवा किसी बलवान् पुरुष के द्वारा भृत्य बलपूर्वक नियुक्त अथवा प्रेरित होता है उस प्रकार पूरुषः—क्या करना चाहिए एवं क्या करना नहीं चाहिए इस विषय में ज्ञानवान् पुरुष भी केन बलात् इव नियोजितः अनिच्छन् अपि पापं चरति—किसके द्वारा अर्थात् यह कार्य कारण (देहेन्द्रियादि संघात किसी बलवान् के द्वारा प्रेरित होकर पाप का फल भोग करने में अनिच्छुक होकर भी पाप (अर्थात् जो करना नहीं चाहिए वह) का आचरण करता है (करने को बाध्य होता है) यह मुझे कहो।

(३) नारायणी टीका—'ध्यायतो विषयान् पुंसः' (गीता २।६२) इत्यादि श्लोक में तुम कहे हो कि विषय का ध्यान करने से विषयासक्ति होगी एवं उस विषयासक्ति से राग अथवा द्वेष उत्पन्न होगा ही। पुनः यह रागद्वेष ही मोक्षमार्ग का बड़ा प्रतिबन्धक है अतः मुमुक्षु का परमशत्रु है, इसे भी तुम ३।३५ श्लोक में कहे हो। किन्तु जब पुरुष तुम्हारे आज्ञारूप शास्त्र के

अनुशासन के अनुसार धर्म पालन करने की इच्छा करता है, पाप कर्म से अपनी रक्षा करने के लिए सावधानता के साथ सभी प्रकार से प्रयत्न करता है, तब भी किसी के द्वारा वलपूर्वक (अपनी इच्छा न रहने पर भी) तुम्हारे मत के विरुद्ध एवं समस्त अनर्थ के हेतुभूत उस पाप कर्म करने में भी वाध्य होता है। यहाँ तक कि विवेकज्ञान सम्पन्न व्यक्ति की भी अनिच्छा रहते हुए भी पाप कर्म में प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति का प्रवर्त्तक कौन है? (क) भगवान् सभी की आत्मा, नित्य, सुहृत्, परमकारुणिक एवं स्वरूपतः सभी कर्म के साक्षी-मात्र है। अतः वे पाप कर्म के विनियोग का कर्ता नहीं हो सकते हैं। (ख) और यदि कहो कि प्राचीन पूर्वसंस्कार जिसे जीव की प्रकृति या स्वभाव कहा जाता है वही उसे पापकर्म में नियुक्त करता है तो यह वात युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि संस्कार तो जड़ है। अतः अर्जुन की जिज्ञासा है कि पुरुष को इस पाप कर्म में प्रवृत्त कौन करता है?

इसलिए जो व्यक्ति स्वधर्म का अनुष्ठान कर, चित्तशुद्धि प्राप्त कर ज्ञान का अधिकारी होकर केवल आत्मचिन्तन के लिए ही समस्त कर्मों को त्याग कर संन्यास धर्म का अवलम्बन किये हैं उनके लिए आत्मज्ञान में निष्ठा-प्राप्ति के साधन के अलावा यागादि कर्म अथवा जप स्त्रोत्रादि कर्म परधर्म हैं, अतः इस प्रकार परधर्म को अच्छी तरह से करने पर भी वह श्रेयो-मार्ग से च्युत हो जायेंगे। पुनः, जिनकी अभी भी चित्तशुद्धि नहीं हुई है वह यदि वर्ण तथा आश्रम के अनुकूल विहित कर्मों को त्याग कर भिक्षावृत्ति के द्वारा जीविका-निर्वाह करे तब वैसा वाह्य संन्यास भी उसके लिए परधर्म है एवं ऐसे परधर्म को ग्रहण करने के लिए वे भयावह (नरकादि प्राप्ति रूप भीतिप्रद) अवस्था प्राप्त करेंगे। इसलिए स्वधर्म विगुण होने पर भी अर्थात् अंगहानिरूप दोषयुक्त होने पर भी किसी को भी स्वधर्म त्याग करना नहीं चाहिए। पुनः स्वधर्म त्याग कर परधर्म को पालन करना सहज होने पर भी उसे ग्रहण करना नहीं चाहिए। परधर्म आयात दृष्टि से सुखकर मालूम होने पर भी चूँकि वह उस धर्म का अधिकारी नहीं है इसलिए वह धर्म उसके श्रेयःप्राप्ति का हेतु नहीं है। इसलिए शास्त्र में कहा गया है "स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा सा गुणः परिकीर्तितः" अर्थात् अपने अपने अधिकार में जो निष्ठा है उसको ही गुण मानकर प्रशंसा की जाती है। अतः स्वधर्म में स्थित रहकर भी यदि मृत्यु को वरण करना हो तब भी उसके द्वारा श्रेयः की प्राप्ति हो सकती है क्योंकि ऐसे कर्मी परजन्म में पवित्र वंश में जन्म ग्रहण कर ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी हो सकता है।

[पूर्ववर्ती श्लोक के साथ संगति रखकर इस श्लोक की व्याख्या अन्य प्रकार की भी हो सकती है, उसे प्रथम अध्याय के परिशिष्ट में तृतीय अध्याय के ३५ वें श्लोक के तात्पर्य में दिखाया गया है ।]

[पूर्ववर्ती श्लोक के अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में श्रीभगवान् अब कह रहे हैं–जिसके सम्बन्ध में तुमने अभी प्रश्न किया है उस पापकर्म का प्रवर्त्तक एवं समस्त अनर्थों का कारण रूप शत्रु कौन है, उसे अब सुनो—]

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥ ३७ ॥

अन्वय—रजोगुणसमुद्भवः महाशनः महापाप्मा एषः कामः, (एव) क्रोधः (च), एनम् इह वैरिणम् विद्धि ।

अनुवाद—श्रीभगवान् ने कहा—(काम ही बलपूर्वक पाप कर्म में नियुक्त करता है)। यह काम रजोगुण से उत्पन्न होता है अथवा इस काम से ही रजोगुण का उद्‌भव होता है। इसकी पूर्त्ति होना सम्भव नहीं है, (अर्थात् किसी प्रकार के भोग के द्वारा भी इसकी भूख को मिटाना सम्भव नहीं है) एवं यह समस्त पापकर्मों का हेतु है, यह किसी प्रकार से प्रतिहत होने पर इसी के परिणामस्वरूप क्रोध समुद्‌भूत होता है। इस संसार में मोक्ष के मार्ग में इस काम तथा क्रोध को ही परम शत्रु के रूप में जानो।

भाष्यदीपिका—श्रीभगवान् उवाच—श्रीभगवान् बोले। "ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इतीरितम् ॥ उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव भूतानामगतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति ॥" (विष्णुपुराण ६।५।७४, ७८) अर्थात् समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यशः, श्री, वैराग्य एवं मोक्ष (अर्थात् मोक्ष प्राप्ति का उपायभूत ज्ञान) इन छः पदार्थों का नाम है भग। इन छः पदार्थों में प्रत्येक हो समग्र रूप से (सम्पूर्ण रूप से) जिन वासुदेव में सदा ही अप्रतिबद्ध रूप से विद्यमान है एवं प्राणियों की उत्पत्ति तथा प्रलय, गमन तथा आगमन (अर्थात् सम्पद् तथा आपद्) एवं विद्या तथा अविद्या इन छः विषयों के साक्षात्कारजनित विज्ञान (विशेष ज्ञान) जिनमें है वे वासुदेव ही भगवान् शब्द का वाच्य हैं अर्थात् उन्हें ही भगवान् कहा जाता है। रजोगुणसमुद्भवः—रजोरूप जो गुण है वही जिसका सम्यक्

प्रकार से उद्भव अर्थात् उत्पत्ति का कारण है। [जिस रजोगुण से प्राणियों का दुःख (अप्राप्त विषय के अभावबोध के लिए दुःख), प्रवृत्ति (उस वस्तु को प्राप्त करने के लिये कर्म की प्रवृत्ति एवं उस कर्म को करने का अनुकूल बल) का आविर्भाव होता है वह रजोगुण ही काम का समुद्भव (सम्यक् प्रकार से उत्पत्ति का कारण है)। इसलिए कर्म को 'रजोगुण-समुद्भव' कहा जाता है। यद्यपि तमः एवं रजोगुण दोनों ही काम की उत्पत्ति का हेतु है क्योंकि अज्ञानरूप तमः गुण न रहने के कारण किसी वस्तु के लिए इच्छा नहीं हो सकती है, तब भी दुःख तथा प्रवृत्ति के विषय में रजोगुण का ही प्राधान्य रहने के कारण उसी का उल्लेख किया गया है। 'रजोगुण-समुद्भवः' शब्द के द्वारा कामादि का हेयत्व प्रमाण कर कामादि को परित्याग करने को कहा गया है। द्वितीयतः यह भी सूचित किया गया है कि चूँकि एकमात्र सत्त्वगुण के विकास (प्रभाव) के द्वारा ही रजोगुण को अभिभूत (क्षय) किया जा सकता है इसलिए कामना को जय करने के लिए दृढ़ता-पूर्वक इन्द्रियनिग्रह करके सत्त्वगुण का पूर्ण विकास हो उसके लिए ही प्रयत्न करना चाहिए (मधुसूदन)] अथवा रजोगुणसमुद्भवः—रजोगुण का उत्पादक (रजोगुण की उत्पत्ति जिससे होती है वह काम)। [पहले कहा गया है कि दुःख, प्रवृत्ति तथा बल ही जिसका लक्षण (परिचायक चिह्न है) उस रजोगुण का समुद्भव (सम्यक् उत्पत्ति) जिससे होता है उसे अर्थात् काम को रजोगुणसमुद्भव कहा जाता है।] काम (कामना) से ही रजोगुण प्रकाशित होता है, चूँकि कामना विषयाभिलाषस्वरूप है—यह स्वतः उत्पन्न होकर रजोगुण की प्रवृत्ति को उत्पन्न कर पुरुष को दुःखस्वरूप कर्म में प्रवृत्त कराता है। रजोगुण द्वारा सेवा प्रभृति कार्य में प्रवृत्त दुःखी व्यक्तियों में ऐसा प्रलाप कि 'तृष्णा मुझे यह कार्य कराती है' सुना जाता है। उस कारण इस काम को अवश्य ही विनष्ट करना चाहिए, यही कहने का अभिप्राय है। [किन्तु प्रश्न है साम, दान, दण्ड एवं भेद—शत्रु को दमन करने का यह जो चार उपाय प्रसिद्ध हैं उनमें किसका अवलम्बन कर काम का जय किया जा सके ? दण्ड के द्वारा (हठपूर्वक इन्द्रिय दमन कर) जो काम को वशीभूत नहीं किया जा सकता है इसे ३३ वें श्लोक में 'निग्रहः किं करिष्यति' के द्वारा पहले ही कहा गया है। अब कहा जा रहा है कि साम, दान तथा भेद के द्वारा भी काम को दमन करना असम्भव है—(मधुसूदन)]

महाशनः—इस काम का अशन (भोजन या भोग्य वस्तु) महत् है अर्थात् निवृत्त करना सम्भव नहीं है इसलिए मनुस्मृति में कहा गया है "यत् पृथिव्यां

व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः। नालमेकस्य तत् सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्" अर्थात् इस पृथ्वी में जितना व्रीहि, यव प्रभृति अन्न (अनाज) हैं एवं जितने सुवर्ण, धन, पशु, रमणियाँ हैं वे सब एक पुरुष के लिए भी पर्याप्त नहीं हैं। अर्थात् वे सभी को एक साथ संग्रह कर देने पर भी एक पुरुष की कामना को शान्त नहीं किया जा सकता है) ऐसा जानकर शम, शान्ति का अवलम्बन करना चाहिए अर्थात् कामनाशून्य होना चाहिए। अतः पृथ्वी की सारी भोग्य वस्तुओं से भी जब एक पुरुष को शान्त करना सम्भव नहीं है तब इससे यह भी सिद्ध हो रहा है कि दान के द्वारा काम को वश नहीं किया जा सकता है। एषः कामः महापाप्मा—जिससे (जिसके लिए) पुरुष को महान् पाप्मा (दोष) उपस्थित होता है उसे महापाप्मा कहा जाता है। यह काम महापाप्मा है क्योंकि काम के द्वारा बलपूर्वक प्रेरित होकर ही प्राणी, पाप का फल अनिष्ट तथा महान् अनर्थक है यह जानकर भी पाप किया करते हैं। [इस काम के वशीभूत होकर ही लोग गुरुपत्नी के साथ गमन करते हैं, चंडाल से भी अर्थग्रहण करते हैं एवं क्रुद्ध होकर गुरुहत्या, गोहत्या प्रभृति दुष्ट कर्मों को कर बैठते हैं। इसलिए ये महापाप्मा हैं।]

शास्त्र में भी कहा गया है—"अकामतः क्रिया काचित् दृश्यते नेह कस्यचित्। यद् यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत् कामस्य चेष्टितम्" अर्थात् इस संसार में कामना के बिना कोई क्रिया सम्पन्न नहीं हो सकती है। जीव जो कुछ करता है वह सब कामना का ही कार्य है। काम ही समस्त प्रवृत्ति का कारण है। अतः काम (कामना) समस्त लोगों के प्रत्यक्ष होने के कारण श्लोक में 'एषः' (यह) शब्द के द्वारा उसके प्रत्यक्षत्व का निर्देश किया गया है। योग्यत्व या अयोग्यत्व का विचार न कर दृष्ट या श्रुत (जो देखा गया या सुना गया है, ऐसी) वस्तुओं के लिए पुरुष को जो कामना (प्राप्ति की इच्छा) होती है उसे काम कहा जाता है [पहले कहा जा चुका है कि दण्ड और दान से काम को वशीभूत करना सम्भव नहीं है।] अभी काम को 'महा-पाप्मा' (अति उग्र पाप) कहने के कारण यह है कि साम तथा भेद के द्वारा भी इसे वश करना असम्भव है। एषः (एव) क्रोधः (च)—यह काम ही किसी कारण से प्रतिहत होने पर (बाधा प्राप्त होने पर) क्रोध में परिणत हो जाता है। अतः यह काम ही क्रोध है। एनम् इह वैरिणम् विद्धि—इस काम तथा क्रोध को इस लोक में (संसार में) वैरी (शत्रु) मानना चाहिए क्योंकि इस संसार में मोक्ष के पथ में अग्रसर होने के लिए काम तथा क्रोध ही मुमुक्षु के लिए महा प्रतिबन्धक है। वे एक ही वस्तु है अर्थात् जहाँ काम है

वहीं क्रोध रहता है। इसलिए श्लोक में 'एनम्' एक वचन का व्यवहार किया गया है। दुष्ट काम करने की अनिच्छा रहने पर भी जीव जो पापाचरण करता है उसका मूल है काम। पहले जो क्रोध के बारे में कहा गया है कि क्रोध भी पापाचरण का हेतु है किन्तु काम तथा क्रोध पृथक् नहीं हैं। काम प्रतिहत होने पर क्रोध में परिणत होता है। क्रोध को पहले पृथक् रूप में कहने पर भी क्रोध कामज ही है (काम से उत्पन्न होता है)। ये काम तथा क्रोध रजोगुण से समुद्भूत होते हैं। सत्त्वगुण की वृद्धि होकर तथा रजोगुण का क्षय होने पर ही काम तथा क्रोधरूप शत्रु विनष्ट हो सकते हैं— अन्यथा नहीं।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[पूर्ववर्ती श्लोक के उत्तर में श्रीभगवान् ने कहा—]

कामः एषः—तुमने जो प्रश्न किया है उसका हेतु है काम (प्रश्न)—किन्तु तुम पहले 'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे (गीता ३।३४) ऐसा कहकर क्रोध के बारे में भी कहे हो। (उत्तर)—तुमने जो कुछ कहा है वह सत्य है। यह क्रोध काम से पृथक् नहीं है। किन्तु **क्रोधः (अपि) एषः**—यह क्रोध भी है अर्थात् पूर्ववर्ती श्लोक में कहे गये पाप के आचरण का हेतु क्रोध भी है। काम ही किसी कारण से प्रतिहत होने पर क्रोध में परिणत होता है। पहले यद्यपि क्रोध को पृथक् कर कहा गया है किन्तु वह काम से ही उत्पन्न होता है। इस अभिप्राय से काम तथा क्रोध को एक साथ कहा जाता है। **रजोगुणसमुद्भवः**—यह काम तथा क्रोध रजोगुण से समुद्भूत (उत्पन्न) होता है। इसके द्वारा, सत्त्वगुण की वृद्धि होकर रजोगुण का क्षय होने पर काम उत्पन्न नहीं हो सकता है यही सूचित हो रहा है। **इह**—इस मोक्ष मार्ग में **एनम्**—इस काम को **वैरिणं विद्धि**—वैरी (शत्रु) मानना। जैसा बाद में कहा जा रहा है उस क्रम से इस काम रूपी शत्रु का वध (नाश) करना पड़ेगा क्योंकि यह काम **महाशनः**—जिसका अशन (आहार) महान् है अर्थात् पूर्ण करना कठिन है वह दुष्पूर काम ही 'महाशनः' है अर्थात् इसकी भूख को शत-शत भोग के द्वारा भी तृप्त करना असम्भव है। साधारणतः प्रबल शत्रु को साम, दान, दण्ड, भेद—इन चारों उपायों के द्वारा वश में किया जा सकता है किन्तु इस काम को दान के द्वारा भी वशीभूत करना असम्भव है क्योंकि असंख्य भोग की सामग्री दान करके भी इसे शान्त करना असम्भव है। पुनः इसे साम के द्वारा भी वशीभूत करना असम्भव है चूँकि यह काम **महापाप्मा**—अर्थात् अत्युग्र (अति उग्र) पाप का हेतु है।

(२) शंकरानन्द—'अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् यद् यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत् कामस्य चेष्टितम्' (इस संसार में अकाम पुरुष की कहीं भी कोई क्रिया नहीं रहती है। प्राणीमात्र जो कुछ ही करता है वह सब उसके काम की ही चेष्टा है।) इस न्याय के अनुसार समस्त कर्मों के आचरण का कारण एवं सकल अनर्थ का बीज एक मात्र काम ही है, इसे समझाने के लिए श्रीभगवान् कहते हैं—

एषः कामः—सभी की प्रवृत्ति का मूल अर्थात् कारण है काम, और यह काम सभी को ही प्रत्यक्ष है—इस अभिप्राय से 'एषः कामः' (इस काम) पद के द्वारा सामने प्रत्यक्ष रूप से काम को निर्देश कर कह रहे हैं। योग्यत्व तथा अयोग्यत्व को विना विचार किये यदि कोई दृष्ट या श्रुत वस्तु पुरुष में कामना की उत्पत्ति करे तव उस कामना या वासना को काम कहा जाता है अर्थात् किसी विषय प्राप्त करने की प्रवल इच्छा ही काम शब्द का अर्थ है। एषः क्रोधः—यह काम (जो पुरुष की संसार गति का कारण है वह काम ही) किसी के द्वारा अपने विषय में प्रतिबद्ध (बाधा प्राप्त) होने पर क्रोध में परिणत होता है। इस कारण से क्रोध भी काम ही है। [एषः कामः एषः क्रोधः—ऐसे कहने में काम तथा क्रोध जो एक ही है उसे निर्देश कर कह रहे हैं।]

रजोगुणसमुद्भवः—वे (काम तथा क्रोध) रजोगुण से उत्पन्न होते हैं। रजोगुण शब्द का अर्थ है राग या रंजनात्मिका विषयसम्बन्धी सामान्य इच्छा, यह राग या इच्छा ही विषय के निकट उपस्थित होने पर काम की उत्पत्ति होती है। अतः काम रजोगुण से समुद्भूत होता है अथवा "प्रज्ञां तु सात्त्विकीं प्राहुस्तामसीं विचित्तताम्। क्रियां तु राजसीं प्राहुर्गुणतत्त्वविदो बुधाः" ॥ (गुणों के तत्त्ववित् पंडित प्रज्ञा को सात्त्विकी, विचित्तता को अर्थात् असावधानता को तामसी और क्रिया को राजसी कहते हैं) इस वचन के अनुसार क्रिया रजोगुण है। उस क्रिया या रजोगुण की उत्पत्ति जिससे होती है उसे 'रजोगुणसमुद्भव' कहा जाता है। काम से ही क्रिया या रजोगुण की उत्पत्ति होती है एवं काम ही समस्त प्रवृत्तियों का हेतु है। इसलिए काम या क्रोध 'रजोगुणसमुद्भवः' हैं।

महाशनः—यह काम महाशन है। 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति' (विषय के उपभोग द्वारा काम कभी भी शान्त नहीं होता है) इस वचन से पता चलता है कि काम का अशन (भोगरूप आहार) महत् (सीमारहित) महाशन

है अर्थात् किसी के द्वारा भी काम की तृप्ति नहीं होती है। इस कारण से ही वह महापाप्मा—जिससे पुरुष को महान् पाप्मा (दोष) प्राप्त होता है उसे महापाप्मा कहा जाता है। काम या क्रोध महापाप्मा है क्योंकि कामाविष्ट होकर पुरुष अपनी बहन के ऊपर भी कुदृष्टि करने की इच्छा करता है, चंडाल से भी धन ग्रहण करता है, क्रुद्ध पुरुष गुरु को भी दुर्वचन कह देता है, गोहत्या करता है, अतः काम को (या क्रोध) जो महापाप्मा कहा गया है, वह ठीक ही है। अतः इह एनम् वैरिणम् विद्धि—इस संसार में इस काम ही मुमुक्षु का वैरी (शत्रु) ऐसा जानना चाहिये अर्थात् काम को ही मुक्ति के प्रतिबन्धक के रूप में मानना चाहिये।

(३) नारायणी टीका—श्रुति कहती है "आत्मा वेदमेवाग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं में स्यादथ कर्म कुर्वीत—अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुषः"। अर्थात् पहले आत्मा ही था। उसने कामना की कि मेरी जाया (स्त्री) हो, प्रजा हो, वित्त हो। 'मेरा यह हो मुझे यह प्राप्त करना पड़ेगा' इस तीव्र अभिलाषा से जिसकी चित्तवृत्ति का उदय होता है वही काम है। अज्ञान से (आत्मा को न जानने के कारण) संकल्प एवं संकल्प से जगत् की सृष्टि होती है। जागतिक विषयों में सत्यत्वबुद्धि रहने के कारण पूर्वापर विषय का विचार न कर पूर्वजन्मार्जित संस्कार के अनुसार विषयों के प्रति अनुकूल या प्रतिकूल बोध होकर जो मानसिक व्यापार होता है उसे वासना या काम कहा जाता है इसलिए संकल्प, वासना, कामना, इच्छा और काम ये सभी ही एकार्थवाचक हैं।

शान्त आत्मा में रजोगुण का चांचल्य आरम्भ होने पर ही संकल्प, वासना, काम इत्यादि की उत्पत्ति होती रहती है। पुनः काम उत्पन्न होने से रजोगुण प्रबल होकर पुरुष को चालित करता है एवं उसे पाप में नियुक्त करता है। इसलिए कहा गया है 'रजोगुणसमुद्भवः'। काम को कोई भी तृप्त नहीं कर सकता है क्योंकि काम 'महाशन' है। काम ही अनादिकाल से जीव को महापापरूप संसार चक्र में भ्रमण करा रहा है इसलिए वह 'महापाप्मा' है। अतः काम ही मुमुक्षु का महाशत्रु है जब तक जगत् तथा जागतिक विषय के सम्बन्ध में मिथ्यात्व निश्चय कर एवं एकमात्र नित्य आत्मा में स्थिति लाभ कर काम का जय न किया जाय तब तक परमानन्द रूप मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

[काम किस प्रकार जीव का शत्रु है उसे दृष्टान्तों के द्वारा स्पष्ट कर अब कह रहे हैं।]

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥

अन्वय—यथा वह्निः धूमेन आव्रियते यथा आदर्शः मलेन च (आव्रियते) यथा उल्वेन गर्भः (आव्रियते) तथा तेन (कामेन) इदं (ज्ञानं) आवृतम् ।

अनुवाद—जिस प्रकार धूम के द्वारा अग्नि आवृत (आच्छादित) रहता है, जिस प्रकार मल के द्वारा दर्पण आवृत रहता है, जिस प्रकार जटायु (झिल्ली) के द्वारा गर्भ अर्थात् कुक्षिस्थ जीव आवृत रहता है उस प्रकार काम के द्वारा वह ज्ञान आवृत हो जाता है ।

भाष्यदीपिका—यथा वह्निः धूमेन आव्रियते—जिस प्रकार प्रकाशात्मक अग्नि (अर्थात् जिस अग्नि का स्वभाव ही है अपने को तथा दूसरे को प्रकाशित करना, वह अग्नि) जैसे सहज तथा अप्रकाशात्मक धूम के द्वारा (अर्थात् जिसकी उत्पत्ति आग के साथ ही होती है एवं जो दूसरी वस्तु को प्रकाशित होने नहीं देता है, ऐसे धूम के द्वारा) आवृत (आच्छादित) हो जाता है यथा आदर्शः मलेन च (आव्रियते)—जिस प्रकार चेहरे के प्रतिबिम्ब (छाया) का प्रकाश करने में समर्थ होने पर भी दर्पण आदि मल के द्वारा आवृत या आच्छादित होता है । [यह मल (गंदापन) दर्पणादि के साथ उत्पन्न नहीं होता है बल्कि बाद में उत्पन्न होता है। अतः दर्पण के साथ मल का वैधर्म्य है, इसे सूचित करने के लिए 'च' शब्द का व्यवहार किया गया है, (मधुसूदन)] यथा उल्वेन गर्भः (आव्रियते)—जिस प्रकार अचेतन जरायु नामक अतिस्थूल गर्भवेष्टनरूप चमड़े के द्वारा चेतनगर्भ अर्थात् भ्रूण या कुक्षीस्थ जीव आ- (सभी ओर से) व्रियते अर्थात् आच्छादित रहता है तथा (कामेन) इदं (ज्ञानं) आवृतम्—उस प्रकार उस काम के द्वारा यह ज्ञान आवृत रहता है अर्थात् तिरोहित हो जाता है । अखंड, अद्वय ज्ञान ही एकमात्र सद्वस्तु है अर्थात् सर्वदा सर्वत्र पूर्णरूप से तथा समान रूप से विद्यमान है । यह ज्ञान-सत्ता ही माया के द्वारा अनेक रूपों में परिणत होकर परिच्छिन्न (सीमित) शब्दादि विषय के रूप में प्रतिभासित हो रही है । उन शब्द-आदि विषयों में अनुकूलत्व बोध होने से उस विषय के प्रति काम का (कामना का) उदय होता है । अतः धूम जिस प्रकार अग्नि के साथ साथ उत्पन्न होता है एवं जिस प्रकार धूम का स्वभाव है अपने उत्पत्ति-स्थान अर्थात् अग्नि का आवरण करना उस प्रकार काम की

उत्पत्ति ज्ञान से ही होती है (अर्थात् अखंडाद्वय ज्ञान की सत्ता से ही काम सत्तावान् होता है) किन्तु प्रकाशात्मक ज्ञान का आवरण करना ही इसका स्वभाव है अर्थात् अखंडाद्वय ज्ञान सत्ता को (सत्स्वरूप आत्मा को) उपलब्ध होने में बाधा देकर परिच्छिन्न विषय के रूप को खंडित तथा विकारी कर देना ही उसका (काम का) स्वभाव है। यही प्रथम दृष्टान्त का तात्पर्य है। चित्त सत्त्वगुणसम्पन्न होकर उसकी स्वाभाविक स्वच्छता प्राप्त होने से ज्ञान प्रकट होता है। ज्ञान आनन्दस्वरूप है एवं आत्मतत्त्व को प्रकाश कर मुमुक्षु व्यक्ति को परमानन्द प्राप्ति कराता है। आदर्श (दर्पणादि) भी मुख तथा अंग का प्रतिबिम्ब ग्रहण कर दर्शक के लिए आनन्दकर होता है किन्तु दर्पण आदि पर मल जमा हो जाने पर वह प्रतिबिम्ब दर्पण पर नहीं पड़ सकता है। उसी प्रकार चित्तरूप दर्पण में भी काम रूप मल जम जाने पर उसकी स्वच्छता को आवृत कर आत्मा के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने में बाधा देता है अर्थात् आत्मज्ञान को (आनन्दस्वरूप आत्मा को) प्रकाशित होने नहीं देता है। काम ज्ञान का ही (चित्समुद्र का ही) तरंग होने पर भी वह ज्ञान का धर्म नहीं है क्योंकि कामरूप वृत्ति अविद्या के कारण ही उत्पन्न होती है। जिस प्रकार मल आदर्श का धर्म नहीं है—वह आगन्तुक है। यही द्वितीय दृष्टान्त का तात्पर्य है।

ज्ञान (या आत्मा) चित् स्वरूप (चेतन) है और काम अचेतन है। जिस प्रकार अचेतन जरायु चेतन भ्रूण या कुक्षिस्थ जीव को चारों ओर से आवृत करके रखता है उस प्रकार काम (एवं उससे उत्पन्न संकल्प आदि) अचेतन होने पर भी चेतन ज्ञान को (सर्वव्यापी चित्स्वरूप ज्ञान को अर्थात् आत्मा को) प्रकाशित होने न देकर सभी प्रकार से आवृत करके रखता है। यही तृतीय दृष्टान्त का तात्पर्य है। इस प्रकार इस श्लोक में सत् स्वरूप, चित् स्वरूप एवं आनन्द स्वरूप आत्मा किस प्रकार से अज्ञान तथा अज्ञान का कार्य काम क्रोधादि के द्वारा आवृत रहता है उसे कहा गया है। [मधुसूदन ने इन दृष्टान्तों का तात्पर्य कुछ दूसरे प्रकार से दिखाया है। किन्तु उपर्युक्त व्याख्या ही समीचीन मालूम होती है।] [मधुसूदन की व्याख्या इस प्रकार है-आग धूम के द्वारा आवृत होने पर भी वह अपने दाहादि कार्य (जलाने का कार्य) करती रहती है। आदर्श, दर्पण मल के द्वारा आवृत होने पर प्रतिबिम्ब नहीं ग्रहण कर सकता है। उसमें केवल आदर्श का स्वच्छता रूप धर्म तिरोहित हो जाता है किन्तु वह अपने स्वरूप में उपलब्ध होता रहता है (अर्थात् वह जो आदर्श ही है इस विषय में भूल नहीं होती है) किन्तु जरायु के द्वारा गर्भ (भ्रूण) आवृत होकर हाथ पैर इत्यादि को

प्रसार तो करता ही नहीं है अधिकन्तु वह अपने स्वरूप में भी उपलब्ध नहीं होता है। (काम भी इसी तृतीय दृष्टान्त की तरह ज्ञान को आवृत किया हुआ है जिससे कि ज्ञान की क्रिया एवं ज्ञान का स्वरूप कुछ भी उपलब्ध नहीं हो सकता है)।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—काम का वैरित्व (शत्रुता) इस श्लोक में दिखाया गया है। जिस प्रकार अग्नि के साथ उत्पन्न धूम आग को, आगन्तुक मल दर्पण को एवं उल्व अर्थात् जटायु या गर्भवेष्टनरूप चमड़ा गर्भ को चारों ओर से आवृत करके रखता है तेन इदम् आवृतम्—ऐसे ही काम के द्वारा तीनों प्रकार से यह, विवेकज्ञान आवृत रहता है। [किस प्रकार से काम ज्ञान को तीनों प्रकार से आवृत कर के रखता है, उसे भाष्यदीपिका में स्पष्ट रूप से कहा गया है।]

(२) शंकरानन्द—पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है कि मुक्ति के प्रतिबन्धक होने के कारण काम मुमुक्षु का शत्रु है। इसे ही अब विशेष रूप से स्पष्ट कर कह रहे हैं—

धूमेन—अप्रकाशस्वरूप धूम के द्वारा वह्निः प्रकाशस्वरूप होकर भी वह्नि (अग्नि) यथा आव्रियते—जिस प्रकार आवृत रहता है यथा मलेन—जिस प्रकार लेपनस्वभाव (मलिन करने वाला) रज से अर्थात् धूल के द्वारा आदर्शः आव्रियते—आदर्श स्वभावतः ही बिम्ब का प्रकाशक है एवं बिम्ब को (जीव को) आनन्द देने वाला होने पर भी (उस धूलि के द्वारा) आवृत होने पर उसकी स्वाभाविक प्रकाशशक्ति आच्छन्न रहती है यथा उल्वेन—जिस प्रकार अचेतन गर्भावेष्टन के द्वारा गर्भः—गर्भस्थित शिशु आवृतः भवति—आवृत रहता है तथा तेन इदम् आवृतम्—उस प्रकार उसके द्वारा (अर्थात् अप्रकाशस्वरूप, लेपक तथा अचेतन उस पूर्वोक्त काम के द्वारा) यह ज्ञान (जो प्रकाशस्वरूप है, जो आत्मा का प्रकाशक होने के कारण आनन्द-दायक है एवं जो आभास व्याप्ति के द्वारा सर्वत्र चेतन रूप से विद्यमान है वह ज्ञान) आवृत (तिरोहित) हो जाता है।

(३) नारायणी टीका—काम ज्ञान को आवृत्त करके रखता है किन्तु काम के मृदु, मध्यम तथा अधिक मात्रा इत्यादि भेद के अनुसार तीन प्रकार के भेद होते हैं। (क) पूजापाठ, स्वधर्मपालन, भगवद्भजन इत्यादि के द्वारा जब चित्तशुद्धि होती है तब काम भी क्रमशः क्षीण तथा सूक्ष्म होता रहता है एवं साथ साथ आत्मा का आवरण भी क्षीण होता

रहता है। धूम के द्वारा आवृत अग्नि में उज्ज्वलता नहीं रहती है किन्तु अग्नि के ताप का कुछ अनुभव होता रहता है। उस प्रकार मृदु काम के द्वारा ज्ञान के आवृत रहने पर भी उस ज्ञान की भी तत्त्व ग्रहण करने में कुछ शक्ति रहती है। (ख) साधन की अपरिपक्व अवस्था में कभी कभी विषय चिन्ता होती है एवं साथ साथ काम भी कभी कभी प्रबल रूप से आविर्भूत होता है। यह काम की मध्यम अवस्था है। इस काम के साथ दर्पण के कलंक की तुलना की जा सकती है। दर्पण धूल के द्वारा कलंकित नहीं होता है किन्तु जब धूल प्रभृति से मुक्त हो जाता है तब दर्पण स्वाभाविक स्वच्छता को प्राप्त कर मुख के प्रतिविम्ब को ग्रहण करता है उस प्रकार ज्ञान काम के द्वारा कभी कभी आवृत होने पर आत्मतत्त्व का प्रकाश नहीं कर सकता है किन्तु ध्यान भजन के समय यदि कभी चित्तरूप दर्पण काम रूप कलंक से मुक्त हो जाये तभी चित्त में आत्मानन्द का आभास होता रहता है।

(ग) जो मूढ़ लोग ध्यान, भजन नहीं करते हैं एवं सर्वदा ही विषय को भोग करने में लिप्त रहते हैं उनके अन्तर में अधिक मात्रा में (अति तीव्र मात्रा में) काम विद्यमान रहता है। इस अवस्था में काम की जरायु के साथ तुलना की जा सकती है। जरायु जिस प्रकार भ्रूण को चारों ओर से आच्छादित रखता है एवं इससे भ्रूण की हाथ पैर आदि को हिलाने की शक्ति नहीं रहती है उस प्रकार विषय को उपभोग करते समय ज्ञान तीव्र काम के द्वारा आच्छादित रहने के कारण अपना प्रसारण नहीं कर सकता है अर्थात् आत्म तत्त्व को ग्रहण कर ही नहीं सकता है। ऐसी अवस्था में जीव तत्त्व के सम्बन्ध में नितान्त जड़ बुद्धि सम्पन्न होता है।

श्लोक में तीन प्रकार की उपमा देने का यही तात्पर्य है कि काम जितना सूक्ष्म तथा क्षीण होता जाता है उतना ही भगवान् के साक्षात्कार के लिए संवेग तीव्र होता रहता है इसलिए पातंजल योगसूत्र में कहा गया है 'तीव्रसंवेगानामासन्नः'। (जिनका संवेग तीव्र से तीव्र होता है उनका आत्मसाक्षात्कार भी आसन्न है अर्थात् शीघ्र होने वाला है)

[पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है 'तेनेदमावृतम्' अर्थात् काम के द्वारा यह आवृत होता है। जो काम के द्वारा आवृत होता है वह 'इदं शब्दवाच्य' वस्तु क्या है, उसे अब कह रहे हैं—]

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥ ३९॥

अन्वय—हे कौन्तेय ! ज्ञानिनः नित्यवैरिणा एतेन कामरूपेण दुष्पूरेण अनलेन च ज्ञानम् आवृतम् ।

अनुवाद—हे कुन्तीनन्दन ! ज्ञानियों का नित्यवैरी जो दुष्पूर (अर्थात् जिसकी तृष्णा को पूरण करना दुःसाध्य है) एवं अनलं है (अर्थात् जिसका अलंभाव या पर्याप्ति कभी भी सम्भव नहीं है) ऐसे काम के द्वारा ज्ञान आवृत रहता है ।

भाष्यदीपिका—हे कौन्तेय !—हे अर्जुन ! तुम मेरे पिता की बहन कुन्ती के पुत्र हो इसलिए तुम मेरे विशेष प्रिय हो। अतः तुम्हें मैं स्पष्ट रूप से समझा दे रहा हूँ, ऐसे प्रेम भाव को स्पष्ट करने के लिए ही 'कौन्तेय' शब्द द्वारा भगवान् ने सम्बोधित किया है। ज्ञानिनः नित्यवैरिणा एतेन कामरूपेण—ज्ञानियों के इस कामरूप नित्य वैरी अर्थात् नित्य शत्र के द्वारा ज्ञानी व्यक्ति पहले से ही जानते हैं कि 'इस काम के द्वारा मैं इस अनर्थ कार्य में प्रेरित हो रहा हूँ' उस कार्य के कारण सर्वदा ही वे दुःखी रहते हैं। इसलिए यह काम ज्ञानी व्यक्ति के निकट सर्वदा ही वैरी (शत्रु) है किन्तु मूर्ख को ऐसा बाध नहीं होता है। क्योंकि मूर्ख व्यक्ति तृष्णा के समय (विषय के भोग के समय) काम को प्रिय मित्र की तरह देखता है एवं बाद में विषय भोग के परिणाम रूप में जब उसे दुःख प्राप्त होता है तब वह समझता है कि यह तृष्णा या काम ही दुःख का कारण है। परन्तु दुःख को प्राप्त करने के पहले वह इसे नहीं समझता है। किन्तु ज्ञानी (विवेकी) व्यक्ति काम्य वस्तु का उप-भोग करते समय एवं उस भोग के परिणामस्वरूप सभी अवस्थाओं में दुःख बोध करता है। इस कारण से ही काम ज्ञानी व्यक्तियों का नित्यवैरी अर्थात् सर्वदा ही शत्रु है। अब प्रश्न है कि इस काम का स्वरूप क्या है ? उसके उत्तर में कह रहे हैं 'कामरूपेण'—काम अर्थात् इच्छा या तृष्णा ही जिसका रूप है उसे कामरूप कहा जाता है। अथवा "काम्यते इति कामो विषयस्तमेव सर्वत्र रूपयति गोचरयति न क्वचिद् ब्रह्मेति" अर्थात् काम या तृष्णा हृदय में उत्पन्न होने पर सर्वत्र मिथ्याविषय का ही दर्शन होता रहता है (अर्थात् विषय में ही चित्त लिप्त रहता है) किन्तु नित्य, सत्य, चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म या आत्मा का दर्शन नहीं होता है इसलिए इस तृष्णा को कामरूप कहा जाता है (शंकरा-नन्द)। इस काम का और क्या वैशिष्ट्य है, वह अब कहा जा रहा है।]

दुष्पूरेण अनलेन च—उस कामरूप दुष्पूर अनल के द्वारा ही अत्यन्त दुःख के साथ जिसको पूर्ण करना पड़ता है उसे दुष्पूर कहा जाता है।

"न विद्यतेऽलं पर्याप्तिर्यस्य इति अनलः" अर्थात् जिसमें 'अलं' (पर्याप्ति अर्थात् भोज्य या पेय वस्तु को ग्रहण कर परितृप्ति) नहीं है उसे अनल कहा जाता है। भाष्यकार 'अनल' शब्द को कामरूप शब्द के विशेषण के रूप में ग्रहण किये हैं। [मधुसूदन 'अनलेन च' शब्द का अर्थ 'वह्नि सदृश काम के द्वारा', ऐसा मानते हैं। आग को जिस प्रकार घी या दाह्य वस्तु के द्वारा परितृप्त नहीं किया सकता है उसी प्रकार काम को भी भोग के द्वारा पूर्ण नहीं किया जा सकता है। अतः इस काम को दुष्पूरणीय अनल (वह्नि) सदृश कहा गया है। (यहाँ 'दुष्पूरेण' शब्द की 'अनलेन' शब्द के विशेषण के रूप में व्याख्या की गई है। काम को किसी समय भी पूर्ण रूप से तृप्त नहीं किया जा सकता है इसलिए वह सदा ही अनल के (अग्नि) समान सन्ताप (दुःख) दायक है। अतः विवेकी तथा अविवेकी दोनों को ही इसका परित्याग करना चाहिए। स्मृति शास्त्र में कहा गया है-"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभि-वर्द्धते" (विष्णुपुराण) अर्थात् काम्य वस्तुओं के उपभोग द्वारा कभी भी कामना की शान्ति (निवृत्ति) नहीं होती है। जलती हुई आग में घी की आहुति देने पर जिस प्रकार आग बढ़ती जाती है उसप्रकार कामना भी विषय भोग के द्वारा और बढ़ती जाती है। अतः विषय भोग के द्वारा कामना की निवृत्ति सम्भव नहीं है। विषय में दोष दर्शन कर विषय को परित्याग करने पर ही काम की समाप्ति हो सकती है। इस लिए विवेकी तथा अविवेकी सभी को ही विषय का त्याग करने के लिए (कामना को त्याग करने के लिए) प्रयत्न करना चाहिए, यही कहने का अभिप्राय है। श्लोक में 'च' इस अव्यय को उपमा के अर्थ में अर्थात् काम 'दुष्पूरणीय अनल सदृश है' इस अर्थ में व्यवहृत किया गया है।] इस प्रकार काम के द्वारा ज्ञानम् आवृतम्-ज्ञान आवृत रहता है। जिसके द्वारा जाना जाता है वही ज्ञान है अर्थात् अन्तःकरण अथवा पूर्ववर्ती श्लोक के 'तेनेदमावृतं' इस पद के द्वारा जिस विवेक विज्ञान का पहले ही उल्लेख किया गया है वह विवेक विज्ञान ही यहाँ ज्ञान शब्द का अर्थ है (मधुसूदन) [अथवा बुद्धि की सर्वत्र ब्रह्म को ग्रहण करने की जो योग्यता है उसे ज्ञान कहा जाता है। (शंकरानन्द)। जिस प्रकार पंक के द्वारा जल आवृत रहता है अथवा राहु के द्वारा चन्द्रविम्ब आवृत रहता है उस प्रकार यह ज्ञान ज्ञानियों का नित्य वैरी दुष्पूर अनल सदृश काम के द्वारा सदा ही आवृत रहता है, (शंकरानन्द)] अर्थात् यह काम रहने से अन्तःकरण की ब्रह्मकारा कारवृत्ति अथवा 'मैं ही वह ब्रह्म हूँ' ऐसा

व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) बुद्धिरूप ज्ञान का उदय नहीं हो सकता है। इसलिए श्रुति भी कहती है—"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि संश्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते"॥ अर्थात् बुद्धि का आश्रय कर जो काम अवस्थान करता है वह परमार्थ के दर्शन के द्वारा (आत्मसाक्षात्कार के द्वारा) जव नष्ट हो जाता है तव मरणशील जीव अमर हो जाते हैं (अर्थात् संसार चक्र में उनका गमनागमन और नहीं रहता है) एवं समस्त वन्धनों का उपशम हो जाने के कारण इसी जीवन में वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[पूर्ववर्ती श्लोक में 'इदं' शब्द के द्वारा निर्दिष्ट वस्तु (विवेक ज्ञान) का निर्देश कर अव काम की शत्रुता को स्पष्ट कर रहा है—] हे कौन्तेय। एतेन कामरूपेण—इस काम के द्वारा ज्ञानं—विवेकज्ञानं आवृतं—आवृत रहता है [इस कामरूप की विशेषता क्या है ? ज्ञानिनः नित्यवैरिणा—अज्ञ व्यक्ति भोग के समय काम को सुख का हेतु अर्थात् मित्ररूप में ग्रहण करता है यद्यपि परिणाम में अज्ञ के लिए भी काम शत्रु के सदृश ही कार्य करता है। किन्तु ज्ञानी व्यक्ति भोग के समय में तथा परिणाम में काम को दुःखमय जानकर उसे सर्वदा ही दुःख का कारण मानते हैं। इसलिए काम ज्ञानियों का नित्य वैरी है। दुष्पूरेण—विषय के द्वारा परिपूरित होने पर भी उसकी पूर्त्ति कभी नहीं होती है (अर्थात् पूर्णरूप से तृप्त नहीं होता है) अनलेन च—सर्वदा भोग के द्वारा परिपूरित होने पर भी यह शोक तथा सन्ताप का हेतु होता है इसलिए काम अनल (अग्नि) के समान है। काम के इन विशेषणों के द्वारा यही सूचित हो रहा है कि काम सभी का ही नित्य वैरी है [केवल ज्ञानी व्यक्ति ही उसका स्वरूप जानते हैं और अज्ञानी व्यक्ति नहीं जानते हैं, यही विशेषता है।]

[श्रीधर स्वामी की व्याख्या मधुसूदन सरस्वती की टीका में स्पष्टीकृत किया गया है। भाष्यदीपिका भी द्रष्टव्य]

(२) शंकरानन्द—ज्ञान के आवरण अर्थात् काम के स्वरूप के वारे में विस्तारपूर्वक कहा जा रहा है—चूँकि अनलेन—निरन्तर विषयों की सेवा करके भी जिसे तृप्ति नहीं होती है उसे अनल कहा जाता है। [काम अनल है (न अलं पर्याप्ति अर्थात् पूर्ण तृप्ति नहीं है) क्योंकि किसी प्रकार भोग के द्वारा भी इसकी तृप्ति नहीं होती है।] अथवा हृदय में जो अग्नि की तरह कार्य करता है (प्रज्वलित रहकर निरन्तर ताप दान करता है) उसे

अनल कहा जा सकता है। (काम ही यह अनल है)। दुष्पूरेण—काम्य वस्तु का अर्थात् अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति, अत्यन्त दुःख सहन करके ही होती है इसलिए काम दुष्पूर है। अथवा इच्छित वस्तु की अप्राप्ति होने पर काम पुरुष को दुःख से पूर्ण कर देता है अतः काम दुष्पूर है।

कामरूपेण—'काम्यते इति कामः विषयस्तमेव सर्वत्र रूपयति गोचरयति न कचिद् ब्रह्मेति कामरूपस्तेन' (जिसकी कामना की जाती है वह काम अर्थात् विषय है; उस विषय का ही जिसके द्वारा सर्वत्र दर्शन होता है एवं ब्रह्म का कहीं भी दर्शन नहीं होता है अर्थात् नित्य, सत्य ब्रह्म को आवृत रखकर सर्वत्र विषय को ही जो दर्शन करवाता है उसे कामरूप कहा जाता है। उसके द्वारा अतः ज्ञानिनः नित्यवैरिणा—ज्ञानी के लिए नित्य वैरी के द्वारा सदा बाह्य विषयालम्बन के हेतु होने के कारण वह ज्ञानी को प्रतिकूल होता है इसलिए काम ज्ञानी का नित्य वैरी है अथवा काम सदा विषय ग्रहण कर ज्ञान का आवरणकर्ता होने के कारण काम को ज्ञानी का नित्य वैरी कहा जाता है। एतेन—इस प्रकार अनल, दुष्पूर तथा ज्ञानी का नित्य शत्रु काम के द्वारा ज्ञानं आवृतं भवति—ज्ञान अर्थात् सर्वत्र ब्रह्मग्राहिका बुद्धिवृत्ति आवृत रहती है अर्थात् पंक (कर्दम) के द्वारा जिस प्रकार जल की स्वच्छता आवृत रहती है, राहु के द्वारा चन्द्रविम्ब जिस प्रकार आवृत रहता है उस प्रकार ब्रह्मग्राहिका बुद्धि-वृत्ति काम के द्वारा आवृत (आच्छन्न) होने पर आत्मस्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार करने में जीव असमर्थ होता है—यह कहने का अभिप्राय है।

(३) नारायणी टीका—पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया 'इदं' शब्द का अर्थ है ज्ञान (विवेक ज्ञान), यह इस श्लोक में स्पष्ट किया गया है। अज्ञानी व्यक्ति जब भोग करते हैं उस समय काम उनके लिए मित्ररूप में प्रतीत होता है किन्तु भोग के परिणामस्वरूप दुःख उपस्थित होने पर अज्ञानी व्यक्ति भी इसे शत्रु मानने लगते हैं। किन्तु ज्ञानी (विवेकी पुरुष) काम को सदा ही शत्रु माना करते हैं। इसलिए उनके लिए काम 'नित्यवैरी' है। जब विषय भोग नहीं रहता है तब भी ज्ञानी व्यक्ति जानते हैं कि पूर्वजन्म के काम के लिए ही उसे इस दुःखमय संसार में शरीर धारण कर आना पड़ा है। जब विषय भोग करना पड़ता है तब भी वह जान जाता है कि यह काम उसे भगवान् के स्मरण से विच्युत कर परिणाम में उसके लिए महान् दुःख उपस्थित करेगा एवं भोग समाप्त होने पर वह जान जाता है कि इस काम को

किसी भी प्रकार से संतुष्ट करना सम्भव नहीं है क्योंकि यह 'दुष्पूर' है एवं यह 'अनल' है अर्थात् इसका अलं (पर्याप्ति या अन्त) नहीं है अथवा यह अनल (अग्नि सदृश) है क्योंकि यह काम भोग के पूर्वकाल में विषय के परिणाम में, सभी अवस्था में शोक उत्पन्न कर अनल को (अग्नि की) तरह सन्तप्त करता रहता है। ज्ञानी व्यक्ति और यह भी जानते हैं कि विषय के भोग के द्वारा काम को निवृत्त करना असम्भव है—काम को जय करने का एकमात्र उपाय है विषयों में दोष दर्शन अर्थात् विषय के अनित्यत्व, मिथ्यात्व, असुखत्व का निरन्तर विचार कर (गीता ९।३३) वैराग्यवान् होकर आत्मा के नित्यत्व, सत्यत्व तथा आनन्दस्वरूपत्व का निश्चय कर आत्मसंस्थ होने के लिए निरन्तर अभ्यास करना।

[शत्रु के अधिष्ठान अर्थात् आश्रयस्थल को यदि जाना जा सके तव उसका अनायास ही जय किया जा सकता है। इसलिए जो काम ज्ञान को आवृत (आच्छादित) कर सभी का वैरी (शत्रु) होता है, उस काम का अधिष्ठान (आश्रय) क्या है ? उसे अब श्रीभगवान् कह रहे हैं।]

इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

अन्वय—अस्य इन्द्रियाणि मनः बुद्धिः अधिष्ठानम् उच्यते। एतैः एषः ज्ञानम् आवृत्य देहिनं विमोहयति।

अनुवाद—इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि काम के अधिष्ठान (आश्रय) कहे जाते हैं। काम इन सब के द्वारा (इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि के द्वारा) ज्ञान को आवृत कर देही को विशेष रूप से मोहित कर देता है।

भाष्यदीपिका—अस्य—इस काम का इन्द्रियाणि, मनः, बुद्धिः— इन्द्रियाँ अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध इन पाँच विषयों का ग्राहक पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, एवं वचन, आदान (ग्रहण), गमन, उत्सर्ग (मलत्याग) तथा आनन्द का जनक वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये पंच कर्मेन्द्रियाँ तथा संकल्पात्मक मन एवं निश्चयात्मिका बुद्धि—ये समस्त ही अधिष्ठानम् उच्यते—आश्रय कहे जाते हैं। इन्द्रियाँ यदि विषयों के प्रति दौड़ती हुई दर्शन, श्रवण आदि कार्यों में प्रवृत्त हो, मन यदि विषय ग्रहण के बारे में निश्चय करे तभी काम का (विषय के प्रति स्पृहा) आविर्भाव होता है।

इसलिए इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि को काम का अधिष्ठान या आश्रय कहा गया है। **एतैः**—ये इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि रूप आश्रयों की सहायता से [अर्थात् अपने अपने व्यापार (क्रिया) विशिष्ट इन इन्द्रियादिरूप आश्रयों के द्वारा (मधुसूदन)] **एषः**—यह अज्ञानजनित काम **ज्ञानम् आवृत्य**—विवेक ज्ञान को आच्छादित कर (अन्तःकरण को वहिर्मुख कर एवं प्रत्यगात्मा को दर्शन करने न देकर) **देहिनं**—शरीराभिमानी जीव को **विमोहयति**—विविध प्रकार से (नाना प्रकार से) मोहित कर देता है। जिनके देह में (शरीर में) आत्मबुद्धि रहती है उन्हें ही काम विमोहित कर सकता है किन्तु जो लोग आत्मा को शरीर से विलक्षण जानकर उसी आत्मा में 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार अभिमान करते हैं उनका समस्त काम ही नष्ट हो जाता है। अतः उन्हें काम विमोहित नहीं कर सकता है। यही 'देहिनं' शब्द का तात्पर्य है। कामरूप दोष जब तक रहे तब तक देह में आत्मबुद्धि कर देहेन्द्रियादि को 'मैं' एवं उससे सम्बन्धित वस्तुओं को 'मेरा' कहकर अभिमान करते हैं एवं 'मैं भोक्ता हूँ, यह मेरा भोग्य है, यह सुखकर है, यह दुःखकर है इत्यादि भावनाओं के द्वारा मनुष्य अस्थिर रहते हैं। काम के लिए ही अनेक प्रकार से पुरुष की बुद्धि विचलित हो जाने पर अर्थात् पुरुष विमूढ रहने के कारण चित्तवृत्ति को निरोध कर परमात्मा के साक्षात्कार में असमर्थ होकर संसार-चक्र में भ्रमण करते हैं—यही 'देहिनं विमोहयति'—पद का तात्पर्य है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—[काम के आश्रय के बारे में कहकर काम को वश करने के उपाय के बारे में अब कह रहे हैं—]

इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते—इन्द्रियों की क्रिया है विषयों का दर्शन, श्रवण प्रभृति, मन की क्रिया है संकल्प, बुद्धि की क्रिया है अध्यवसाय (निश्चय करना)–इनके द्वारा [अर्थात् इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि के व्यापार (क्रिया) के द्वारा] काम का आविर्भाव होता है। इस कारण से इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि को काम का अधिष्ठान या आश्रय कहा जाता है। **एषः एतैः ज्ञानम् आवृत्य देहिनम् विमोहयति**—यह अर्थात् काम इन सभों के द्वारा अर्थात् दर्शनादि व्यापार के आश्रयभूत इन्द्रिय प्रभृति कारणों के द्वारा ज्ञान को (विवेकज्ञान को) आवृत कर देही को [देहाभिमानी पुरुष को] विमुग्ध करता है।

(२) शंकरानन्द—काम संसार का कारण है अर्थात् (क) ज्ञान को आवृत करना, (ख) विषय के निकट बुद्धि को (सदा) ले जाना, (ग)

हृदय को तप्त करना एवं (घ) दुःख प्राप्त करना, ये ही हैं काम के कार्य। इस प्रकार पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है तब भी मुमुक्षु यदि काम के अधिष्ठान को (अर्थात् जिन स्थानों को अधिकृत कर काम कार्य करता है उनको) न जान सके तब मुमुक्षु के लिए उस काम का जय करना असम्भव है क्योंकि शत्रु के स्थान को जानने में समर्थ होने पर ही उसे जय करने के लिए प्रयत्न करना सम्भव है। इस प्रकार की आशंका के उत्तर में श्रीभगवान् कह रहे हैं–

अस्य इन्द्रियाणि मनः बुद्धिः अधिष्ठानम् उच्यते—इस काम का अधिष्ठान अर्थात् स्थान या आश्रय हैं आँख आदि इन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि—, इसे जो विद्वान् व्यक्ति लोग श्रुति तात्पर्य को जानते हैं वे कहते हैं। अतः उन्हें काम के आश्रय के रूप में जानना है। श्रुति में कहा गया है 'यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम्॥' (जब मन के साथ पंच श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ स्थिर हो जाती हैं, बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती है, उसे ही तत्त्वदर्शी लोग परमा गति कहते हैं।) काम की उत्पत्ति होने से ही उन इन्द्रियों की एवं मन तथा बुद्धि की चेष्टा आरम्भ होती है। अतः एतैः—अपने (काम की) प्रवृत्ति के द्वारभूत इन इन्द्रियों के व्यापार के द्वारा एषः—यह काम ज्ञानम् आवृत्य—ज्ञान अर्थात् प्रत्यग् दृष्टि को (चैतन्य-स्वरूप आत्मा के प्रति दृष्टि को) आवृत कर चित्तवृत्ति को बहिर्मुख कर देहिनं–देहात्माभिमानी, शास्त्रज्ञानी तथा अज्ञानी पुरुष को विमोहयति-विशेषरूप से मोहित करता है अर्थात् मैं भोक्ता हूँ, यह मेरा भोग्य है, यह रम्य है, यह अरम्य है, यह सुख है, यह दुःख है इत्यादि अनेक प्रकार के भावों के द्वारा पूर्ण कर देता है। कहने का अभिप्राय यह है कि कामरूप दोष के द्वारा ही बुद्धि विचलित होती है, जीव देहेन्द्रियादि के साथ तादात्म्य प्राप्त करता है एवं 'मैं', 'मेरा' ऐसी भावनाओं के वशीभूत होकर पुरुष संसार चक्र में भ्रमण करता है।

(२) नारायणी टीका—काम का दुर्ग (आश्रय) है ५ कर्मेन्द्रियाँ, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि। इनकी क्रिया के द्वारा ही काम कार्य करता है एवं इनके द्वारा ही आत्मविषयक ज्ञान को आवृत्त कर अज्ञानी पुरुष को (अर्थात् जिस की देह, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि में आत्मबुद्धि रहती है उसे) विमूढ़ (विशेष रूप से मोहाच्छन्न) कर देता है। इन्द्रियों के साथ उसके स्व स्व विषयों का संयोग होने पर विषय यदि अनुकूल हो तब राग की उत्पत्ति होती है तथा प्रतिकूल होने से द्वेष की उत्पत्ति होती है। जिस विषय के प्रति

राग (अनुराग) की उत्पत्ति हुई है उस विषय को लेकर मन अनेक प्रकार के सुखों की कल्पना करना शुरू कर देता है एवं विषयों में आसक्त बुद्धि भी यह निश्चय कर लेती है कि इन्द्रिय के द्वारा विषय भोग कर काम को पूर्ण करना ही चाहिए। देहात्माभिमानी अज्ञानी पुरुष इस प्रकार से इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि के समर्थन को प्राप्त कर विषय के भोग को ही जीवन का परम पुरुषार्थ मानने लगता है। विषय का भोग करने में लिप्त हो जाने से ही उसका विवेक-ज्ञान या आत्मविषयक ज्ञान आवृत हो जाता है (क्योंकि अनित्य, दुःखमय विषय और नित्य आनन्दस्वरूप आत्मा पूर्व तथा पश्चिम की तरह विपरीत है) एवं इस प्रकार से काम के द्वारा पुरुष मोहाच्छन्न होता है।

पूर्ववर्ती श्लोक की टीका में कहा गया है कि काम को विषयों के भोग के द्वारा तृप्त करना असम्भव है। काम को जय करने का उपाय है (क) विषय में दोषदर्शन के द्वारा वैराग्य—एवं (ख) नित्यशुद्ध, मुक्त, चैतन्य स्वरूप आत्मा में स्थिति लाभ करने के लिए निरन्तर अभ्यास। जब देह में आत्माभिमान त्याग कर सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही 'मैं हूँ' ऐसा ज्ञान परिपक्व हो जाता है तब इन्द्रिय के द्वारा विषय भोग करते हुए भी वे और लिप्त नहीं होते हैं (गीता ३।२७) अथवा सभी वस्तु को ब्रह्म के रूप में दर्शन करने के कारण उसके निकट काम, विषय या विषयभोग अर्थात् भोक्ता, भोग्य तथा भोग नामक कोई द्वैत वस्तु नहीं रहती है। अतः काम उसे विमुग्ध नहीं कर सकता है।

[चूँकि ऐसी बात है, अर्थात् चूँकि काम इन्द्रियादि का आश्रय कर जीव को मोहित करता है, अतः मुमुक्षु का क्या कर्त्तव्य है? वही अब कहा जा रहा है।]

तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥ ४१॥

अन्वय—हे भरतर्षभ! तस्मात् त्वम् आदौ इन्द्रियाणि नियम्य ज्ञान-विज्ञान-नाशनम् एनं पाप्मानं प्रजहि हि।

अनुवाद—हे भरतकुलश्रेष्ठ! अतः तुम पहले इन्द्रियों को नियमित (संयत) कर ज्ञान तथा विज्ञान के नाशक इस पापस्वरूप काम का परित्याग करो।

भाष्यदीपिका—हे भरतर्षभ—हे भरतकुलश्रेष्ठ अर्जुन! जिस कारण तुम भरत राजा के महावंश में जन्म ग्रहण किये हो उस कारण मैं तुम्हें अब

जो उपदेश दे रहा हूँ उसे पालन करने में तुम निश्चय ही समर्थ हो—इसे ही सूचित करने के लिए श्रीभगवान् ने 'भरतर्षभ' कहकर सम्बोधन किया है। तस्मात्—जिस कारण काम इन्द्रियादि का आश्रय कर जीव को विमोहित करता है एवं वह जीव का नित्यशत्रु है उस कारण त्वम्—तुम अर्थात् मुमुक्षु तुम आदौ—पहले अर्थात् काम तुम्हें मोहित करने के पहले अथवा कामको निरोध (नष्ट) करने के पहले इन्द्रियाणि नियम्य—इन्द्रियों को नियमित या संयत कर अर्थात् वशीभूत कर। [पूर्ववर्ती श्लोक में काम का आश्रय 'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः' कहा गया है और इस श्लोक में केवल इन्द्रियों को वशीभूत करने के वारे में जो कहा है उसका कारण यह है कि यदि इन्द्रियाँ वशीभूत रहें तव मन तथा बुद्धि भी वशीभूत हो जाते हैं क्योंकि मन का संकल्प तथा बुद्धि का व्यवसाय (निश्चय) बहिरिन्द्रिय की प्रवृत्ति के द्वारा ही अनर्थ का कारण होता है। अथवा 'इन्द्रियाणि' पद के द्वारा मन तथा बुद्धि का भी ग्रहण किया गया है (मधुसूदन)] अथवा आदौ इन्द्रियाणि पद का तात्पर्य है—'पहले इन्द्रियों को एवं बाद में मन तथा बुद्धि को नियमित कर' क्योंकि नियमविधि में 'आदि' पद के द्वारा बाद के कर्त्तव्य को सूचित किया जाता है। यदि मन में विषय का संकल्प रहे एवं बुद्धि उसे भोग के विषय में निश्चय करे तव केवल बहिरिन्द्रिय का संयम करने मात्र से ही काम को नष्ट करना सम्भव नहीं है। अतः इन्द्रियाँ एवं मन बुद्धि अर्थात् जिन्हें काम का आश्रय कहा गया है उन्हें भी संयत करना पड़ेगा—यही आदौ इन्द्रियाणि नियम्य पद का तात्पर्य है। ज्ञानविज्ञाननाशनम्—ज्ञान का (अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के हेतुस्वरूप शास्त्र तथा आचार्य के उपदेश से जिस आत्मादिक के ज्ञान का) [अर्थात् आत्मा, जीव तथा जगत के सम्बन्ध में बोध (परोक्ष ज्ञान) उत्पन्न होता है उसका] एवं विज्ञान के अर्थात् उस परोक्ष ज्ञान के फलस्वरूप विशेष रूप से जो आत्मा का अनुभव अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान (आत्म-साक्षात्कार) उत्पन्न होता है उसका नाशक अर्थात् जिस ज्ञान तथा विज्ञान के द्वारा श्रेयः (मोक्ष) की प्राप्ति होती है उसका नाशक एनं पाप्मानं—इस पापाचार को अर्थात् समस्त प्रकार के पाप के मूलभूत (अर्थात् पापवृक्ष की जड़) इस काम नामक शत्रु का प्रजहि हि—प्रकृष्टरूप से परित्याग करो। प्र+हा धातु के लोट् में प्रजहि हि होता है। अथवा प्रकृष्ट रूप से निहत करो (पूर्णरूप से नाश कर दो) इस अर्थ से प्र+हन् धातु के लोट् में 'प्रजहि' पद सिद्ध होता है। ३।४३ श्लोक में ही 'जहि' शब्द के द्वारा काम को विनष्ट करने के बारे में ही कहा गया है अतः प्रजहिहि यहि+हि यहाँ सिद्धार्थक

अव्यय 'है' शब्द का अर्थ है परिस्फुटरूप से अर्थात् निःशेषतया तब श्लोक के द्वितीय पाद का अर्थ होगा—प्रकृष्ट रूप से (निःशेषित रूप से) ज्ञान तथा विज्ञान का नाशक इस पापाचार काम का हनन (नाश) करो। पर्वत में धुआँ देखकर अग्नि के अस्तित्व के सम्बन्ध में जो ज्ञान होता है उसे परोक्षज्ञान कहा जाता है और रसोई घर में अग्नि का साक्षात् रूप से दर्शन कर जो ज्ञान होता है उसे अपरोक्ष ज्ञान कहा जाता है। उसी प्रकार वेदान्त शास्त्र आदि का श्रवण कर ब्रह्म अर्थात् सर्वभूतात्मा सर्वव्यापी सर्वेश्वर परमात्मा के सम्बन्ध में जो ज्ञान होता है उसे परोक्षज्ञान कहा जाता है और मनन, निदिध्यासन के द्वारा सभी प्रपंचों से शून्य चैतन्य का साक्षात्कार कर 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ही वह ब्रह्म हूँ ऐसे अनुभव को अपरोक्ष ज्ञान कहा जाता है। इसलिए पंचदशी में कहा गया है "अस्ति ब्रह्मेति चेत् ज्ञानं परोक्षज्ञानमुच्यते। अहं ब्रह्मास्मीति ज्ञानमपरोक्षज्ञानमुच्यते।" सकाम चित्त में अर्थात् चित्त कामना के द्वारा अधिकृत होने पर बुद्धि मलिन हो जाती है। अतः बुद्धि में शास्त्रोपदेश से उत्पन्न परोक्ष ज्ञान स्थिरता प्राप्त नहीं कर सकता है अतः अपरोक्षज्ञान से एवं निदिध्यासनादि से जिस अपरोक्षज्ञान की उत्पत्ति होती है उसकी भी प्राप्ति नहीं हो सकती है। अतः श्रेयः प्राप्ति (मोक्ष प्राप्त करने की) आशा भी बहुत दूर की बात है इसलिए श्लोक में काम को 'ज्ञान-विज्ञाननाशनम्' एवं 'पाप्मानं' कहा गया है। [मधुसूदन सरस्वती की टीका का तात्पर्य भी इसी प्रकार है।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—चूँकि ऐसी बात है [अर्थात् चूँकि काम इन्द्रियादि के द्वारा देही जीव के ज्ञान को आवृत कर, विमुग्ध कर रखता है अतः] हे भरतश्रेष्ठ! आदौ—इन्द्रियाँ तुम्हें विमोहित करें इसके पहले ही **इन्द्रियाणि नियम्य**—इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि का नियमन कर **एवं ज्ञान-विज्ञाननाशनं पाप्मानं प्रजहि हि**—इस ज्ञान विज्ञान के नाशक पापरूप काम को (प्रजहि) निःशेष करो अर्थात् विनाश करो ('हि' शब्द का निश्चयार्थ में व्यवहार किया गया है)। अथवा प्रजहि हि अर्थात् परित्याग करो। ज्ञान—आत्मविषयक ज्ञान (तत्त्वज्ञान); विज्ञान—शास्त्रीय ज्ञान अथवा ज्ञान—शास्त्र एवं आचार्य के उपदेश से उत्पन्न ज्ञान। और विज्ञान–निदिध्यासन जनित ज्ञान (अपरोक्ष ज्ञान)। [शंकराचार्य के मतानुसार स्वानुभवसिद्ध ज्ञान ही विज्ञान है।] इसलिए श्रुति में कहा गया है "तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत" इति अर्थात् धीर व्यक्ति उनको (परमात्मा को) शास्त्रोपदेश के

द्वारा ज्ञात कर साधन की सहायता से उनकी प्रज्ञा के [अर्थात् विज्ञान (विशेष ज्ञान) या यथार्थ आत्मस्वरूप के बोध के लिए] लिए प्रयत्न करेंगे।

(२) शंकरानन्द—काम की निवृत्ति के बिना बुद्धि की स्थिरता सम्भव नहीं है, स्थिर बुद्धि के बिना विशुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है एवं विशुद्ध ज्ञान का अभाव रहने पर मोक्ष सम्भव नहीं है। इसलिए मुमुक्षु के लिए काम को जय करना अवश्य कर्त्तव्य है, इसे सूचित करने के लिए कह रहे हैं—

हि—चूँकि मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों का व्यापार ही (कार्य ही) जिसका एकमात्र बल है वह काम ही तुम्हारे लिए मुमुक्षु का नित्य शत्रु है तस्मात्—उस कारण त्वम् आदौ—तुम पहले इन्द्रियाणि—इन्द्रियों को एवं बाद में मन तथा बुद्धि को नियम्य—नियमित (संयत) कर अर्थात् विषय ग्रहण से विमुख कर ('आदि में अर्थात् पहले इन्द्रियों को' ऐसा कहने में सूचित हो रहा है कि मन तथा बुद्धि को भी संयत करना पड़ेगा क्योंकि नियमविधि में 'आदि' पद के प्रयोग के द्वारा सूचित हो रहा है कि बाद में भी कुछ करने को है, इसके अलावा अगर मन के अन्दर चिन्ता रह जाय तब इन्द्रियनिग्रह विफल हो जायगा। 'मनस्तु पूर्वमादद्यात् कुमीनमिव मत्स्यहा' अर्थात् जिस प्रकार धीवर (मछली को मारने वाला) कुमीन को (चंचल मछली को) पहले पकड़ता है उस प्रकार योगी भी पहले मन को वशीभूत कर लेंगे, ऐसे वचन के द्वारा सूचित हो रहा है कि मन ही वस्तु के दर्शन में (विषय को ग्रहण करने में) मुख्य कारण है। अतः इन्द्रियों का नियमन (निग्रह) करने के बाद ही मन तथा बुद्धि का निग्रह करना चाहिए। इस प्रकार काम के अधिष्ठान को (अर्थात् इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि को) निरोध कर ज्ञानविज्ञाननाशनं—दूर से धूम (धूआँ) दर्शन कर 'पर्वत पर आग है' इस प्रकार के परोक्ष ज्ञान की (अनुमान ज्ञान की) तरह श्रुति तथा युक्ति के द्वारा 'सब ब्रह्म ही है' इस प्रकार का वस्तुविषयक निश्चयात्मक परोक्षज्ञान ही यहाँ ज्ञान शब्द का अर्थ है। और 'रसोई घर में आग है' इस प्रकार अपरोक्ष-ज्ञान की (प्रत्यक्षज्ञान की) तरह 'यह सब मैं ही हूँ' इस प्रकार सभी विषयों में आत्माकाराकारवृत्ति व्याप्त होने पर प्रत्यक्षरूप से जो आत्मदर्शन होता है उसे अपरोक्षज्ञान या विज्ञान कहा जाता है। इस प्रकार चन्द्र तथा सूर्य के सदृश अविशेष और विशेष स्फुरणरूप वह ज्ञान तथा विज्ञान मोक्षप्राप्ति का कारण होता है। काम उन दोनों का (ज्ञान तथा विज्ञान का) नाशक अर्थात्

विध्वंसक है। अतः एनं पाप्मानं प्रजहि—अपने शत्रु इस पापिष्ठ काम का प्रकृष्ट रूप से नाश करो अर्थात् विध्वंस करो (ताकि पुनः यह आविर्भूत (प्रगट) होकर शत्रुता न कर सके)।

(३) नारायणी टीका—काम इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि का अधिष्ठान (आश्रय) कर देहाभिमानी पुरुष के विवेकज्ञान को आवृत कर विमुग्ध कर देता है अर्थात् आत्मज्ञान से विमुख कर विषयाभिमुख कर देता है। काम केवल विवेक ज्ञान को ही आवृत नहीं करता है, काम के रहने पर शास्त्र तथा आचार्य से प्राप्त आत्मविषयक परोक्षज्ञान कार्यकर नहीं हो सकता है। एवं विज्ञान अर्थात् आत्मसाक्षात्कारजनित अपरोक्षज्ञान कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इस कारण से काम पापस्वरूप है क्योंकि यह ज्ञान तथा विज्ञान का नाश कर अर्थात् ज्ञान तथा विज्ञान से वंचित कर जीव को संसार-रूप महानरक में भ्रमण कराता है। इसलिए जीव के मोक्षमार्ग के इस महा-शत्रु काम को [उसके आश्रय पर (दुर्ग पर) आक्रमण कर] जय करना पड़ेगा। किसी विषय के सम्बन्ध में काम उत्पन्न होने से समझना पड़ेगा कि मन में उस विषय के संकल्प की उत्पत्ति हुई है, बुद्धि ने इसे निश्चय किया है एवं इन्द्रियों के द्वारा उस विषय को प्राप्त करने की चेष्टा हो रही है। चूँकि इन्द्रियों के द्वारा काम को बाह्य अभिव्यक्ति सम्भव है अतः उन इन्द्रियों को पहले (आदौ) संयत (वशीभूत) करना पड़ेगा। इन्द्रियों को वशीभूत करने में समर्थ होने पर ही अन्त में काम के प्रधान दुर्ग मन तथा बुद्धि को जय करना सहज हो जायगा। [केवल इन्द्रियों को संयत करने पर ही काम का नाश नहीं किया जा सकता है क्योंकि संकल्प से काम की उत्पत्ति होती है। संकल्प का अन्त न होने पर अर्थात् निःसंकल्प न होने पर काम को जय करना सम्भव नहीं है। इसलिए योगवाशिष्ठ में कहा गया ह 'यदि वर्ष-सहस्राणि तपश्चरसि दारुणम्। नान्यः कश्चिदुपायोऽस्ति संकल्पोपशमादृते। निःसंकल्पो यथाप्राप्तव्यवहारपरो भव। क्षये संकल्पजालस्य जीवो ब्रह्मत्व-माप्नुयात्'। (अर्थात् यदि हजार हजार वर्षों तक कठोर तपस्या करो तो भी संकल्प का अन्त (नाश) न होने तक मोक्ष प्राप्ति का और कोई दूसरा उपाय नहीं है। निःसंकल्प होकर यथाप्राप्त जागतिक व्यवहार करो। संकल्प-जाल का क्षय (नाश) होने पर ही जीव ब्रह्मत्व प्राप्त करता है)। इन्द्रिय के द्वारा काम की बाह्य अभिव्यक्ति न होने पर मन तथा बुद्धि विषय के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करने का अवसर प्राप्त करते हैं एवं विषय के दोष (अनित्यत्व, मिथ्यात्व, तथा असुखत्व) विचार कर नित्य परमानन्दस्वरूप

आत्मा के अभिमुख होकर वैराग्य तथा ध्यान अभ्यास के द्वारा आत्मस्थिति प्राप्त कर तथा निःसंकल्प होकर दुर्जय महाशत्रु काम का विनाश करने में समर्थ होगा, इसे ही परवर्ती दो श्लोको में भगवान् स्पष्ट रूप से कहेंगे।] इन्द्रियसंयम अर्थात् इन्द्रिय को वशीभूत करने का तीन उपाय हैं—गुरुमुख से भगवान् ही परम प्रेमास्पद आत्मा है यह जानना (१) आत्मा या भगवान के स्वरूप का निरन्तर विचार (मनन) करना (२) आत्मा या भगवान् के निर्गुण या सगुण रूप का (अपने अपने अधिकार भेद के अनुसार) ध्यान (निदिध्यासन) करना (३) जिस समय मनन तथा निदिध्यासन (ध्यान) नहीं होगा उस समय आत्मा या भगवान् का जो कोई (गुरु के द्वारा दिया गया) नाम जपना। [साधक की प्रकृति के भेद के अनुसार इन में कोई एक मुख्य है एवं दूसरा दो गौण होता है किन्तु समय के अनुसार उन तीनों का ही अभ्यास करने पर इन्द्रिय से 'मन' एवं मन तथा बुद्धि की स्थिरता अनायास ही सम्पादित होती है।] इस कारण शास्त्र में कहा गया है—'जपात् श्रान्तः पुनर्ध्यायेत् ध्यानात् श्रान्तः पुनर्जपेत्। जपध्यान-परिश्रान्त आत्मानञ्च विचारयेत्'। अर्थात् नाम जप करते करते श्रान्त हो जाने पर पुनः ध्यान करो, ध्यान करते करते श्रान्त हो जाने पर पुनः जप करो। इस प्रकार जप तथा ध्यान से परिश्रान्त होने पर आत्मा के स्वरूप का विचार करो।

[पहले इन्द्रियों को वशीभूत करने पर कामरूप शत्रु का परित्याग (नष्ट) कर सकोगे—यह पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है। किसी वस्तु का आश्रय कर काम को परित्याग करना पड़ेगा—वही अब कहा जा रहा है। गीता २।५९ श्लोक में कहा गया है 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते' अर्थात् विषय का रस (तृष्णा) परको—दर्शन कर निवृत्त हो जाता है अर्थात् परको (परमात्मा को) आश्रय करके ही सर्वकाम को जय किया जा सकता है। इसलिए अब, 'पर' शब्द के द्वारा जो अभिहित होता है उस शुद्ध आत्मा को देहादि से पृथक् कर भगवान् अर्जुन को कह रहे हैं।]

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥

अन्वय—इन्द्रियाणि पराणि आहुः, इन्द्रियेभ्यः मनः परम्, मनसः तु बुद्धिः परा यः तु बुद्धेः परतः सः।

अनुवाद—स्थूल तथा बाह्य देहादि वस्तु से सूक्ष्म तथा आन्तर (अर्थात् देह के भीतर अवस्थान करने के कारण) इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं। इन्द्रियों से और भी सूक्ष्म एवं आभ्यन्तर होने के कारण मन श्रेष्ठ है। मन से बुद्धि श्रेष्ठ है। बुद्धि से भी जो पर (विलक्षण) एवं सबसे अधिक आन्तर एवं सूक्ष्मतम है उसे ही परमात्मा कहा जाता है।

भाष्यदीपिका—**इन्द्रियाणि पराणि**—इन्द्रियाँ अर्थात् आँख, कान आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं वाक्, पाणि प्रभृति पाँच कर्मेन्द्रियाँ स्थूल, बाह्य एवं परिच्छिन्न देह से पर अर्थात् प्रकृष्ट या श्रेष्ठ है। इन्द्रियाँ देह से सूक्ष्म, अन्तस्थ (आभ्यन्तर) एवं व्यापक होने के कारण श्रेष्ठ हैं, यही कहने का अभिप्राय है। किस प्रकार जाना जाता है कि इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं ? इसके उत्तर में कह रहे हैं—**आहुः**—पंडित लोग (ज्ञानी पुरुष लोग) कहते हैं अथवा श्रुति कहती है। **इन्द्रियेभ्यः मनः परम्**—(पंडित लोग) संकल्पविकल्पात्मक मन को (अर्थात् जिस मन का स्वभाव ही संकल्प तथा विकल्प करना है उसे) इन्द्रियों से प्रकृष्ट (श्रेष्ठ) कहते हैं क्योंकि मन इन्द्रिय से और भी सूक्ष्म अन्तःस्थ एवं व्यापक है [एवं इन्द्रियों का प्रवर्त्तक भी है अर्थात् मन ही अधिष्ठाता होकर इन्द्रियों को अपने अपने विषयों को ग्रहण कराने में प्रवृत्त करता है। (मधुसूदन)] **मनसः तु बुद्धिः परा**—उस मन से अध्यवसायात्मिका बुद्धि प्रकृष्ट या श्रेष्ठ है—यह पंडित लोग कहते हैं (श्लोक में 'आहुः' शब्द का अनुकर्षण कर सभी के साथ युक्त करना पड़ेगा)। बुद्धि अध्यवसाय अर्थात् निश्चय न करने पर मन का संकल्प कार्यकर होकर इन्द्रियों को स्व स्व विषयों में नियुक्त नहीं कर सकता है। अतः बुद्धि श्रेष्ठ है। **यः तु बुद्धेः परतः सः एव**—जो बुद्धि से अतीत है वह बुद्धि से उत्कृष्ट है। बुद्धि तक सभी दृश्य वस्तुओं से जो आभ्यन्तर है एवं जो देह में आत्माभिमान करने से देह, काम आदि इन्द्रियों के व्यापार को आश्रय कर अर्थात् इन्द्रियादि के कार्य द्वारा ज्ञान को आवृत्त कर उस देहाभिमानी पुरुष को मोहित करता है, जो स्वरूपतः सबसे विलक्षण (पृथक्) है तथा बुद्धि आदि सभी दृश्य वस्तुओं के द्रष्टा के रूप में अवस्थान करता है उन्हें ही पर अर्थात् परमात्मा कहा जाता है। [देह से बुद्धि तक सभी दृश्य होने के कारण वे जड़ हैं। अतः वे सभी अनित्य, विकारी एवं परिच्छिन्न हैं किन्तु शुद्ध, चैतन्यस्वरूप आत्मा नित्य, सर्वज्ञ, सर्वप्रकाशक, सर्वसाक्षी, सर्वव्यापी एवं अनन्त (अपरिच्छिन्न तथा पूर्ण हैं)। इसलिए यह आत्मा सर्वोत्कृष्ट है। श्रुति में भी कहा गया है—'पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः' अर्थात्

पुरुष से पर (श्रेष्ठ) और कुछ भी नहीं है। वही प्रत्येक जीव का अधिष्ठान होने के कारण काष्ठा (समाप्ति शेष सीमा) एवं परम गति है। अतः इस आत्मा को जानना ही मनुष्य जीवन का परम पुरुषार्थ है।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[जिसमें चित्त को निविष्ट (लीन) करने पर इन्द्रियों को संयत करना सम्भव है वह आत्मस्वरूप देहादि से भिन्न है, इसे विचार कर दिखा रहे हैं—]। इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य (देहादि) विषयों से इन्द्रियाँ श्रेष्ठ है, क्योंकि इन्द्रियाँ सूक्ष्म तथा देहादि की प्रकाशक हैं। अतः इन्द्रियाँ देह से पृथक् हैं, यह भी कहा गया है। **इन्द्रियेभ्यः मनः परम्**—इन्द्रियों से संकल्पविकल्पात्मक मन श्रेष्ठ है क्योंकि मन का संकल्प ही इन्द्रियों का प्रवर्त्तक है। **मनसः तु बुद्धिः परा**—मन से निश्चयात्मक बुद्धि श्रेष्ठ है क्योंकि संकल्प से निश्चय श्रेष्ठ है—चूँकि निश्चय न होने पर केवल संकल्प ही इन्द्रियों को कर्म में प्रवृत्त नहीं करा सकता है। **सः तु यः बुद्धेः परतः**—बुद्धि से भी जो श्रेष्ठ है अर्थात् साक्षी के रूप में अवस्थित है वह सबके अन्तर में अवस्थान करनेवाली आत्मा है। [यह आत्मा जब अज्ञानवश 'मैं देह हूँ' ऐसा अभिमान कर देही होता है तब] काम उस देही को अर्थात् 'देही' पदवाच्य आत्मा को (जीवात्मा को) विमोहित कर देता है।

(२) शंकरानन्द—शंका है, अच्छा, यह काम तो दुर्जय है, इसे जय करना अत्यन्त ही कठिन है। इस दुर्जय काम का जय करने के लिए अवश्य कोई बलवान् आश्रय का अवलम्बन करना पड़ेगा। अतः मुमुक्षु किसका आश्रय कर, किसकी महिमा के द्वारा काम का जय करेगा, इसके उत्तर में "रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते।' (परमात्मा को देखकर विषय का रस भी निवृत्त हो जाता है) इस वचन के अनुसार सर्वव्यापक, सर्वोत्तम परमात्मा को जानकर, उसका आश्रय लेकर तुम काम का नाश कर सकोगे यह समझाने के लिए आत्मा को किस प्रकार जानना पड़ेगा यह अब कह रहे हैं—

इन्द्रियाणि पराणि आहुः—श्रोत्रादि पंच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं वाक्, पाणि इत्यादि पंच कर्मेन्द्रियों में शरीर से अधिकतर प्रकाशकत्व, अवान्तरत्व, सूक्ष्मत्व, व्यापकत्व, कारणत्व एवं प्रवर्त्तकत्व आदि धर्म रहने के कारण उन इन्द्रियों की अपेक्षा देह अधिकतर जड़, बाह्य, स्थूल, व्याप्य, कार्य एवं प्रवर्त्य (दूसरों के द्वारा प्रवर्त्तित अर्थात् नियुक्त होने वाला) है।) जिसके द्वारा जो वस्तु प्रकाशित एवं प्रवर्त्तित होती है वह उस प्रकाशित तथा प्रवर्त्तित वस्तु से

अधिक व्यापक, सूक्ष्म पर (श्रेष्ठ) तथा भिन्न (पृथक्) है। जिस प्रकार लोहे में स्थित अग्नि लोहे का प्रकाशक है एवं उससे भिन्न है उस प्रकार देह की अपेक्षा इन्द्रियाँ देह तथा देह के धर्मों की प्रकाशक तथा प्रवर्त्तक होने के कारण पर (श्रेष्ठ) तथा भिन्न हैं। उस प्रकार **इन्द्रियेभ्यः मनः परम्**—इन्द्रियों से मन अधिकतर प्रकाशकत्व आदि धर्मों से युक्त रहने के कारण पर (उत्कृष्ट) एवं भिन्न है क्योंकि मन अन्तर में स्थित रहकर इन्द्रियों तथा इन्द्रियों के धर्मों का प्रकाश करता है। इसलिए इन्द्रिय की अपेक्षा मन को पर (श्रेष्ठ) तथा भिन्न कहना युक्तियुक्त ही है। इस प्रकार **मनसः तु बुद्धिः परा**—मन की अपेक्षा अधिकतर प्रकाशकत्वादि गुणविशिष्ट होने के कारण बुद्धि परा अर्थात् उत्कृष्ट है। बुद्धि के द्वारा ही मन तथा मन का धर्म प्रकाशित होता है। इसलिए मन से बुद्धि पर (श्रेष्ठ) तथा भिन्न है यह सिद्ध होता है। **यः बुद्धेः परतः सः तु (आत्मा)**–सूक्ष्मत्व, अवान्तरत्व, व्यापकत्व, कारणत्व, प्रवर्त्तकत्व, प्रकाशकत्व आदि धर्मों के द्वारा जो बुद्धि से आरम्भ कर स्थूल तक कार्य कारण संघात को सभी प्रकार से व्याप्त कर अपनी सन्निधि मात्र के द्वारा उन्हें प्रवृत्त करते रहकर उसके धर्म, उसके कर्म, उसके गुण एवं उसके विकार साक्षात्‌रूप से जानती है अर्थात् प्रकाशित करती है किन्तु स्वयं अविकारी रूप में सदा ही अचल स्वरूप में स्थित रहती है वही आत्मा है, वही बुद्धि से 'परतः पर' अर्थात् सभी से उत्कृष्टतम एवं भिन्न है क्योंकि वह आत्मा नित्य, सर्वज्ञ, सर्वप्रकाशक एवं सर्वसाक्षी है। श्रुति में भी ऐसा ही कहा गया है—'पुरुषान्न परं किञ्चित्' अर्थात् पुरुष से पर (श्रेष्ठ) कुछ भी नहीं है। इस कारण से सभी का द्रष्टा, देहेन्द्रिय से भिन्न, सर्वप्रकाशक, चिदानन्दैकरस, सन्मात्र, परिपूर्ण इस आत्मा को ही जानो [क्योंकि इस आत्मा को जानने से ही काम का आश्रय इन्द्रिय, मन, बुद्धि–इन सभी को निश्चल किया जा सकता है] यही कहने का अभिप्राय है।

(३) नारायणी टीका—परवर्ती श्लोक की टीका द्रष्टव्य है।

[४१ वें श्लोक में कहा गया है कि काम का जय करने के पहले इन्द्रियों का संयम करना पड़ेगा एवं पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है कि इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है एवं बुद्धि से भी जो श्रेष्ठ है वही सर्वश्रेष्ठ परमतत्त्व (आत्मा) है वही सभी का अधिष्ठान प्रकाशक तथा प्रवर्त्तक है। गीता के ४० वें श्लोक में कहा गया है कि बुद्धि से यह अतीत (बुद्धि से श्रेष्ठ) जो परमतत्त्व है उसका ज्ञान होने पर ही (अर्थात् आत्मज्ञान होने

पर ही) काम का जय तथा विनाश करना सम्भव है, यही अब स्पष्ट कर कहा जा रहा है]

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो ! कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

अन्वय—हे महाबाहो ! एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा आत्मना आत्मानं संस्तभ्य कामरूपं दुरासदं शत्रुं जहि ।

अनुवाद—हे महाबाहो ! तुम इस प्रकार से बुद्धि के अतीत (अर्थात् बुद्धि से श्रेष्ठ) परमात्मा के स्वरूप को अवगत कर आत्मा के द्वारा (अर्थात् शुद्ध संस्कृत मन के द्वारा) आत्मा को सम्यक् प्रकार से स्तम्भित या स्थिर कर (अर्थात् मन को आत्मा में सम्यक् प्रकार से समाधिस्थ कर) इस कामरूप दुर्जय शत्रु का विनाश करो ।

भाष्यदीपिका—हे महाबाहो !—हे अर्जुन ! तुम अतिशक्तिशाली हो । जो महाबाहु होते हैं उनके लिए शत्रुबध अति सहज है । अतः कामरूप दुर्जय शत्रु को भी तुम अनायास ही मार सकोगे । इसे ही सूचित करने के लिए 'महाबाहो' शब्द के द्वारा भगवान् ने अर्जुन का सम्बोधन किया । एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा—इस प्रकार बुद्धि के भी अतीत अर्थात् बुद्धि से श्रेष्ठ (एवं २।५९ श्लोक में 'पर' शब्द के द्वारा जिन्हें समझाया जा रहा है वे (परमतत्त्व) आत्मा को अवगत कर अर्थात् साक्षात् कर आत्मना आत्मानं संस्तभ्य—आत्मा के द्वारा अर्थात् संस्कृत मन के द्वारा आत्मा को संस्तब्ध अर्थात् पूर्णतया स्तब्ध (स्थिर) कर [आत्मा सर्वदा ही स्थिर निश्चल है किन्तु मन के (अन्तःकरण के) चांचल्य के कारण ही आत्मा चंचल दिखती है, नदी के तट पर स्थित वृक्ष स्थिर रूप से स्थित रहने पर भी जिस प्रकार चलती हुई नाव पर बैठे हुए लोगों को वह चलता हुआ दिखायी पड़ता है। श्रुति में भी कहा गया है "ध्यायतीव लेलायतीव" अर्थात् आत्मा सदा ही स्थिर रहने पर भी मन की चंचलता के कारण लगता है कि मानो आत्मा ध्यान कर रही है, कम्पित हो रही है इसलिए मन के द्वारा मन को आत्मा में समाधिस्थ करने पर आत्मा स्तम्भित अर्थात् स्थिरीकृत हो जाती है । अतः मन को सदा ही आत्मसंस्थ (आत्मा में ही समाहित) रखकर] दुरासदं—अत्यन्त कष्ट से जिसे प्राप्त या हस्तगत किया जाता है उसे दुरासद कहा जाता है । क्योंकि काम अनेक विशेषणों से युक्त होने के कारण दुर्विज्ञेय है । अतः इसे पराजय

कर हस्तगत करना भी अत्यन्त कठिन है। इस प्रकार कामरूपं शत्रुं—काम ही (विषयतृष्णा ही) जिसका स्वरूप है उस कामरूपी दुर्जय शत्रु को अर्थात् सभी प्रकार के पुरुषार्थ के विघ्नस्वरूप उस शत्रु को जहि—मारो अथवा त्याग करो। [मधुसूदन इसका अर्थ इस प्रकार लिये हैं—एवं बुद्धेः परम्—इस प्रकार से वर्णित बुद्धि से श्रेष्ठ आत्मा को बुद्ध्वा—साक्षात्कार कर आत्मना—निश्चयात्मिका बुद्धि के द्वारा आत्मानं—मन को संस्तभ्य—स्थिर कर कामरूपं तृष्णारूपी दुरासदं—दुर्जय (दुर्विज्ञेय) शत्रुं—सभी पुरुषार्थनाशक शत्रु को जहि—मारो (नष्ट करो)]

टिप्पणी (१) मधुसूदन—३ अध्याय का तात्पर्य—इस अध्याय में ज्ञाननिष्ठा के उपायस्वरूप—जो कर्मनिष्ठा है उसे ही प्रधान रूप से कहा गया है और उपेय—अर्थात् जो ज्ञाननिष्ठा प्राप्य है वह गौण रूप में कीर्त्तित हुई है (अर्थात् ज्ञाननिष्ठा के विषय को सामान्यरूप से कहा गया है।)]। "न कर्मणामनारम्भात्" (गीता ३।४) इस प्रकार अध्याय के प्रारंभ में कर्मयोग के विषय में कहना प्रारंभ कर, अनेक प्रकार के वचनों के द्वारा देहाभिमानी मुमुक्षु के कर्मत्याग की निन्दा कर, श्रीभगवान् ने कहा कि कर्म अवश्य कर्त्तव्य है। कर्म के मूल में है काम—अतः काम का जय न करने पर कर्म त्याग करना कभी भी सम्भव नहीं है। इसलिए ईश्वरार्पणबुद्धि से निष्काम रूप से कर्त्तव्य (विहित) कर्म कर चित्तशुद्धि प्राप्त करनो पड़ेगी; चित्तशुद्धि प्राप्त करने से श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा आत्मसाक्षात्कार होने पर काम को जय करना सम्भव होगा; काम को जय करने से अखंडाद्वय ज्ञान स्वरूप आत्मा में स्थिति प्राप्त कर (अर्थात् ज्ञाननिष्ठा के द्वारा) मोक्ष की प्राप्ति हो जायगी, यही इस अध्याय का तात्पर्य है।

(२) श्रीधर—[भगवान् अपने वक्तव्य का अब उपसंहार कर रहे हैं-]। विषय तथा इन्द्रियादि के संयोग से उत्पन्न यह काम आदि विकार बुद्धि का ही होता है। आत्मा निर्विकार एवं बुद्धि का साक्षो है। अतः एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा—इस प्रकार बुद्धि से श्रेष्ठ आत्मा (परमात्मा) को जान कर आत्मना—निश्चयात्मिका बुद्धि के द्वारा आत्मानं—मन को संस्तभ्य—निश्चल कर, हे महाबाहो दुरासदम्—जिसे दुःखपूर्वक मिलता है (वशीभूत किया जा सकता है) अर्थात् दुर्विज्ञेयं शत्रुं—उस कामरूप शत्रु को जहि—मारो (विनाश करो) श्रीधर स्वामी की टीका एवं मधुसूदनी टीका में कोई पार्थक्य नहीं है]

(३) शंकरानन्द—इस प्रकार बुद्धि आदि दृश्यों के द्वारा द्रष्टा आत्मा को अपना आत्मस्वरूप जानकर उस आत्मा में निष्ठा रख कर संसार के हेतु उस काम को तुम निर्मूल करो, इसे अब कह कर श्रीभगवान् मोक्ष के उपायभूत कर्मयोग के उपेयभूत ज्ञाननिष्ठा के द्वारा सभी कामों की निवृत्ति होने से ही मुक्तिलाभ होता है, इसे सूचित करने के लिए कर्मयोग का उपसंहार कर रहे हैं—

हे महाबाहो—इस विशेषण को मुमुक्षु के कामरूप शत्रु को मारने के लिए चातुर्य या सामर्थ्य का प्रकाश करने के लिए व्यवहार किया गया है। एवं बुद्धेः—इस प्रकार बुद्धि से अर्थात् बुद्धि प्रभृति सभी दृश्यों से परं—विलक्षण अखंड आनन्दैकरस (ब्रह्मस्वरूप) आत्मा को बुद्ध्वा—'वह आत्मा मैं ही हूँ'—इस प्रकार आत्मा में (परमात्मा या परब्रह्म में) आत्मत्व-बुद्धि को दृढ़ कर तुम आत्मानं—काम के आश्रयभूत आत्मा को अर्थात् अन्तःकरण को आत्मना—अपने स्वरूपभूत बाहर तथा भीतर पूर्ण अखंडैकरस आत्मा के द्वारा संस्तभ्य—सन् अर्थात् पूर्णरूप से संयुक्तकर अर्थात् अन्तःकरण को नामरूप ग्रहण न करने देकर उस नाम तथा रूप के अधिष्ठानभूत ब्रह्म के दर्शन में ही नियुक्त कर कामरूपं दुरासदम् शत्रुं जहि—इस कामरूप दुर्जय शत्रु का विनाश करो। 'सब ब्रह्म ही है' इस प्रकार सर्वत्र ब्रह्मदर्शन जहाँ न रहे वहीं पर काम दुर्जय हो जाता है अर्थात् काम को जय करना असम्भव होता है क्योंकि विशेष विशेष विषय ग्रहण से ही (शब्द, स्पर्श आदि को पृथक् पृथक् विषय के रूप में ग्रहण करने पर ही) काम की उत्पत्ति होती है। सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि के द्वारा पृथक् पृथक् विषय का अग्रहण ही काम के विनाश का हेतु है। अतः कहा जा रहा है सभी विषयों में ब्रह्म के रूप (सब कुछ ही ब्रह्म है इस रूप में) में दर्शन करते हुए काम को निर्मूल करो।

इस अध्याय में 'न कर्मणामनारम्भात्' (कर्म के आरम्भ के बिना गीता ३।४) इस श्लोक से कर्मयोग का आरम्भ कर बहुवचनों के द्वारा कर्मत्याग की निन्दा कर मुमुक्षु को कर्म करना कर्त्तव्य है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है। 'मैं' 'मेरा' ऐसा भाव अवलम्बन कर जो प्रवृत्तिरूप संसार-प्रवाह चलता रहता है उसका एकमात्र कारण है काम। इस काम का माहात्म्य वर्णन कर कर्मयोग के द्वारा जिस पुरुष को चित्तशुद्धि प्राप्त हुई है, ऐसे पुरुष को ज्ञानयोग में निष्ठालाभ कर अर्थात् ज्ञाननिष्ठा के द्वारा (आत्मा में सर्वदा स्थिति प्राप्तकर) काम को जय करना कर्त्तव्य है, ऐसा भगवान् ने कहा एवं 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः' (जब इनके हृदय में स्थित

सभी काम पूर्णरूप से मुक्त (अर्थात् विनष्ट) हो जाता है, इत्यादि श्रुतिरूप प्रमाण के अनुसार सभी प्रकार के काम से मुक्त होने से ही जो मोक्ष प्राप्त करना सम्भव है यह सूचित किया है। इस कारण से ज्ञानयोग मोक्ष का प्रधान हेतु है एवं कर्मयोग गौण हेतु है। अतः इस अध्याय के साधन का ज्ञानयोग में पर्यवसान (समाप्ति) होने के कारण यह अध्याय ज्ञानयोगपरक कहा है अर्थात् ज्ञानयोग का ही श्रेष्ठत्व प्रतिपादन कर रहे हैं। [यद्यपि इस अध्याय में ज्ञानयोग के साधन कर्मयोग के सम्बन्ध में विशेष रूप से कहा गया है एवं इस अध्याय को कर्मयोग कहा जाता है तब भी ज्ञाननिष्ठा के विना काम को जय करना एवं मोक्ष प्राप्त करना सम्भव नहीं है। इसे अन्त में प्रतिपादन कर इस अध्याय में ज्ञानयोग को ही प्राधान्य दिया गया है, यही शंकरानन्द के कहने का अभिप्राय है।]

(४) नारायणी टीका—४२-४३ वें श्लोक में जो कहा गया है वह कठोपनिषद् के मंत्र की ही प्रतिध्वनि है। उस श्रुति में कहा गया है 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः। महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥' [विषय इन्द्रिय को आकर्षित करता है इसलिए कभी-कभी विषय को श्रेष्ठ कहा जाता है। किन्तु (क) विषय स्थूल और इन्द्रिय सूक्ष्म है। इन्द्रिय का संयोग न होने पर विषय सुख या दुःख, राग या द्वेष की उत्पत्ति नहीं कर सकता है। अतः विषय के कार्य का प्रकाश इन्द्रिय के द्वारा ही होता है। इस कारण विषय से इन्द्रिय श्रेष्ठ है; (ख) इन्द्रियाँ विषय का भोग कर सकती हैं तथा विषय का त्याग भी कर सकती हैं अर्थात् विषय का ग्रहण तथा अग्रहण करने में इसकी स्वाधीनता है। इसलिए इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं; (ग) इन्द्रिय विषय का प्रकाशक तथा द्रष्टा (विज्ञाता) है और विषय दृश्य तथा प्रकाश्य है। इस कारण से भी इन्द्रिय विषय की अपेक्षा श्रेष्ठ है। पुनः इन्द्रिय की अपेक्षा मन श्रेष्ठ है क्योंकि (क) इन्द्रिय की अपेक्षा मन सूक्ष्म है, (ख) मन अगर चाहे तो वह इन्द्रिय को अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त कर सकता है तथा ऐसा नहीं भी कर सकता है। अतः मन की स्वाधीनता एवं शक्ति ज्यादा है, (ग) मन इन्द्रिय का द्रष्टा है। पुनः, मन की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है क्योंकि (क) बुद्धि मन से सूक्ष्म है; (ख) किसी कार्य के करने के पहले मन अनेक प्रकार की कल्पना करता है किन्तु बुद्धि उनमें से किसी एक उपाय को निश्चय कर दूसरों का त्यागकर देती है। इसलिए बुद्धि की स्वाधीनता तथा शक्ति मन की अपेक्षा अधिक है (ग) बुद्धि मन के संकल्प तथा विकल्प की द्रष्टा (ज्ञाता) है। व्यष्टि बुद्धि से समष्टि बुद्धि (जिन्हें महान् आत्मा या हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा या आदि जीव कहा जाता है वे)

श्रेष्ठ है। इस समष्टिबुद्धि अर्थात् महान् आत्मा से अव्यक्त या सर्व जगत् की वीजरूपा माया श्रेष्ठ है। अव्यक्त से सर्वप्रकाशक सर्वव्यापी शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा (जिन्हें परमात्मा, ब्रह्म या भगवान् कहा जाता है, वे) श्रेष्ठ है। वही अन्तिम पुरुष, सभी की अन्तिम सीमा एवं वही सभी जीवों की परा गति है (सा काष्ठा सा परा गतिः)। केवल बाह्य इन्द्रियों को वशीभूत करने से ही काम को जय नहीं किया जा सकता है क्योंकि इन्द्रियों की वाह्य प्रवृत्ति न रहने पर भी अन्तर में तृष्णा रह ही जाती है एवं उस तृष्णा को दूर करना अत्यन्त कठिन है। इसलिए मोक्षमार्ग के इस महाशत्रु को कहा जाता है 'दुरासद' (दुर्जय या दुर्विज्ञेय)। अगर प्रबल शत्रु को जय करना हो तो वह शत्रु जिसका आश्रय कर कार्य करता है उस आश्रय से भी अधिक श्रेष्ठ तथा अधिकतर शक्तिशाली आश्रय का अवलम्बन करना चाहिए। इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि हैं कामरूपी शत्रु का अधिष्ठान या आश्रय। इन सबसे श्रेष्ठ है आत्मा (परमात्मा) एवं इस आत्मा को आश्रय कर आत्मा में स्थित रहने पर ही काम को जय करना सम्भव है–इसका ही भगवान्ने इस अध्याय के शेष दो श्लोकों में प्रतिपादन किया है। यह आत्मा सभी के अधिष्ठान, सर्वप्रकाशक एवं सभी का द्रष्टा (विज्ञाता) है, आत्मा के अलावा और सब कुछ ही दृश्य, काल्पनिक, जड़ तथा मिथ्या है। दृश्य पदार्थ या विषय मात्र ही मिथ्या है—आत्मा की सत्ता से ही वे सत्तावान् हैं। आत्मा के प्रकाश से ही वे प्रकाशित होते हैं एवं आत्मा की शक्ति से ही वे चेतन की तरह कार्य करते हैं, अतः सभी के अधिष्ठानरूप चेतनसत्ता ही 'मैं' हूँ—'मैं' ही नित्य, सत्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त परमपुरुष हूँ इस प्रकार यथार्थ आत्मा में आत्माभिमान कर (आत्मना) विषय से वैराग्य तथा आत्मस्थिति में निष्ठा लाभकर (ज्ञान-निष्ठा के द्वारा) आत्मा को (अन्तःकरण को) [अर्थात् अज्ञान के कारण इतने दिन तक जिसमें आत्माभिमान कर उनके कार्य को अपना कार्य मानकर काम के वशीभूत रहना पड़ता था उस बुद्धि, मन एवं उनके अधीन इन्द्रियादि को] आत्मा में (प्रत्यगात्मा में) संस्तब्ध कर (स्थिर कर अथवा संयुक्त या लय कर) सर्वत्र ब्रह्मदर्शन होने पर ही काम को जय कर परमपुरुषार्थ-रूप मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है, यही यहाँ कहने का तात्पर्य है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः।

...SION TRUST BOOKS DEPT.

...CE LIST

...es (Effective from 1.1.1983)

...atam
...yanam
...har, Guide I
9. Bala Vihar, Guide II
10. Bhaja Govindam
11. Dhyana Slokas
12. Geeta for Children
13. Geeta Chapter I
14. —do— II
15. —do— III
16. —do— IV
17. —do— V
18. —do— VI
19. —do— VIII
20. —do— VIII
21. —do— IX
22. —do— X
23. —do— XI
24. —do— XII
25. —do— XIII
26. —do— XIV
27. —do— XV
28. —do— XVI
29. —do— XVII
30. —do— XVIII
31. Geeta Chapter III & IV
32. —do— V & VI
33. —do— VII, VIII & IX
34. —do— X & XI
35. —do— XII & XIII
36. —do— XIV & XV
37. —do— XVI & XVII
38. Guidance from Guru
39. Holy Geeta—Big size
40. —do— Pocket size
41. Hymn to Dakshinamurthy
42. Hymn to Ganga
43. Himavat Vibhuti
44. I Love You
45. Isavasyopanishad
46. Iswara Darshan
47. Kaivalyopanishad
48. Kathopanishad
49. Kenopanishad
50. Kindle Life
51. Mandukya & Karika
...on & Life
...anishad
...tra

16. KAMBER (Tamil) 50.00

	No.	Title	Price
12.00	63.	Tattwa Bodh	6.00
4.00	64.	Tell Me a Story Part I	5.00
16.00	65.	—do— II	5.00
25.00	66.	—do— III	5.00
10.00	67.	Tune in Mind	3.00
17.00	68.	Tarangini I	6.00
20.00	69.	—do— II	6.00
4.00	70.	—do— III	5.00
4.00	71.	—do— IV	5.00
12.00	72.	—do— V	3.00
2.00	73.	—do— VI	3.00
12.00	74.	—do— VII	3.00
12.00	75.	—do— VIII	5.00
12.00	76.	—do— IX	3.00
7.00	77.	—do— X	3.00
7.00	78.	—do— XI	3.00
7.00	79.	Vakya Vritti	9.00
7.00	80.	Vedanta the Science of life I	25.00
7.00	81.	—do— II	30.00
7.00	82.	Vishnusahasranamam	14.00
7.00	83.	Vivekachoodamani	33.00
7.00	84.	Wandering in the Himalayas	16.00
7.00	85.	We Must	4.00
7.00	86.	Children's Drama	10.00
7.00	87.	My Trek through Utterkhand	18.00
7.00	88.	Our Heritage Part I	7.00
7.00	89.	—do— Part II	6.00
7.00	90.	—do— Part III	10.00
7.00	91.	—do— Part IV	4.00
12.00		**HINDI**	
12.00	1.	Atma Bodha	5.00
12.00	2.	Bala Geeta	8.00
12.00	3.	Bhajagovindam	3.00
12.00	4.	Drik Drisya Viveka	5.00
12.00	5.	Gangotri Mahima	3.00
12.00	6.	Jeevan Jyothi	7.00
12.00	7.	Manava Nirmana Kala	10.00
3.00	8.	Mudakopanishad	6.00
70.00	9.	Narada Bhakti Sutra	5.00
25.00	10.	Prasnopanishad	4.00
12.00	11.	Purusha Sooktam	2.00
10.00	12.	Upadesa Saram	5.00
5.00	13.	Holy Geeta	40.00
4.00	14.	Kathopanishad	10.00
14.00		**CASSETTES**	
25.00	1.	Art of Manmaking	30.00
10.00		(a set of 18 cassettes)	
17.00	2.	Bhagavad Geeta Chanting	120.00
16.00		(per set of 4 cassettes)	
14.00	3.	Vedic Chanting I	30.00
25.00	4.	—do— II	30.00
15.00	5.	—do— III	30.00
14.00	6.	Bhajagovindam	30.00
5.00	7.	Stotram & Bhajans	30.00
19.00	8.	Indivisible Truth	50.00
15.00	9.	Rudram & Chamakam	30.00
8.00	10.	Chinmany Bhajans	30.00
4.00	11.	Selected Geeta Chanting	30.00
3.00	12.	Bhakti Manjari	30.00